ओ३म

प्रस्तावना ।

—*—

यस्य ज्ञान मनंत वस्तुविषय य पूज्यते दैवतै
नित्यं यस्य वचो न दुर्नय कृतै कोलाहलैर्लुप्यते
रागद्वेषमुखद्विषाश्च परिषत् क्षिप्ता क्षणार्धेन सा
सश्रीवीरविभु विधूतकलुषा बुद्धिं विधत्ता मम ।

जिसका ज्ञान अनंत वस्तुओंको विषय करता है, देवता जिसकी पूजा करते हैं, जिसका वचन दुर्नयकृत कोलाहलोंसे लुप्त नहीं होता, और जिसने रागद्वेष प्रमुख शत्रु-समूहको क्षणभरमें भगा दिया था वह श्री वीर प्रभु हमारी बुद्धिको निर्मल करें ।

प्रिय श्रावकवृन्द !

इस संसारमें धर्मके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ और उपकारक वस्तु नहीं है । धर्म ही प्राणियोंको विपत्तिमें सहायता देने वाला सच्चा मित्र है । सांसारिक सभी पदार्थ शरीरके साथ ही इस लोकमें रह जाते हैं पर धर्म परलोकमें भी जीवके साथ जाता है और विपत्तिमें हाथ पकड़ कर जीवको सुख शांति देता है । जैसे कि कहा है—

"धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृह द्वारि जना श्मशाने । देहश्चितायां परलोक मार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एक "

अर्थात् धन पृथिवी पर, पशु गोष्ठमें स्त्री, घरके द्वार पर और बन्धु बान्धव श्मशानमें, देह चिता पर रह जाते हैं पर एक धर्म इस जीवके साथ परलोकमें भी जाता है । अतः जो मनुष्य धर्मका संग्रह नहीं करता उसको पशुकी उपमा दी गयी है । क्योंकि पशु और मनुष्योंमें यही अन्तर है कि पशु धर्मका संग्रह नहीं कर सकता और मनुष्य कर सकता है ।

बड़े बड़े ऋषि महर्षियोंने मनुष्योंके कल्याणार्थ धर्माचरण करनेका उपदेश किया है और धर्मकी बड़ी विशद व्याख्या की है । शास्त्र धर्मकी व्याख्या मात्र हैं । जैसे वस्त्र तन्तुमय और घट मृण्मय होता है उसी तरह शास्त्र भी धर्ममय हैं । शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके धर्म बतलाए हैं पर सब धर्मोंमें श्रेष्ठ और सबका मूलभूत धर्म जीवरक्षा रूप धर्म कहा गया है । जैनागमका तो इमारत लिये निर्माण ही हुआ है । प्रश्न व्याकरण सूत्रके प्रथम संवर द्वारमें लिखा है कि "सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं

अर्थात् जगत्के सम्पूर्ण जीवोंकी रक्षा रूप दयाके लिये भगवानने प्रवचन कहा है। इस मूलपाठमें जीवरक्षा रूप धर्मके लिये जैनागमकी रचना होना बतलाया गया है। अतः जीवरक्षा रूप धर्म जैन धर्मका प्रधान अङ्ग है। उस जीवरक्षाको जो धर्म मानता है और विधिवत् उसका पालन करता है वही तीर्थङ्करकी आज्ञा का आराधक पुरुष है। इससे विपरीत जो जीवरक्षाको धर्म नहीं मानता किन्तु इसको पाप अथवा अधर्म बतलाता है वह धर्मका द्रोही और वीतरागकी आज्ञाका तिरस्कार करने वाला है।

केवल जैनधर्म ही जीवरक्षाको प्रधान धर्म नहीं बतलाता किन्तु दूसरे मतके शास्त्र भी इसे सर्वोत्तम और सर्वप्रधान धर्म मानते हैं। महाभारत शान्तिपर्वमें लिखा है कि—"प्राणिनां रक्षणं युक्तं मृत्युभीताहि जन्तवः आत्मौपम्येन जानद्भिरिष्टं सर्वस्य जीवितम्"

"दीयते मार्यमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा। धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितु मिच्छति"।

जीवानां रक्षणं श्रेष्ठं जीवा जीवित कांक्षिणः
तस्मात्समस्तदानेभ्योऽभयदानं प्रशस्यते
एकतः काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा
एकतो भय भीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्'

अर्थात् जैसे अपना जीवन इष्ट है उसी तरह सभी प्राणियोंका अपना अपना जीवन इष्ट है, सभी जीव मरनेसे डरते हैं इसलिये सभीको अपने समान जान कर उनकी प्राणरक्षा करनी चाहिये।

मारे जाने वाले पुरुषको एक तरफ करोड़ों धन दिया जाय और दूसरी ओर उसका जीवन दिया जाय तो वह धन छोड़ कर जीवनकी ही इच्छा करता है।

जीव रक्षा करना सबसे प्रधान धर्म है। सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं। इसलिये सभी दानोंमें अभयदान यानी जीवरक्षा करना श्रेष्ठ है।

एक तरफ सोनेका पर्वत मेरु और बहु रत्ना पृथवी रख दी जाय और दूसरी तरफ मृत्युभीत पुरुषका प्राणरक्षण रूप धर्म रख दिया जाय तो प्राणरक्षा रूप धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होगा।

इसी प्रकार विष्णु पुराणमें भी लिखा है—

"कपिलानां सहस्राणि यो द्विजेभ्यः प्रयच्छति
एकस्य जीवितं दद्यान्नच तुल्यं युधिष्ठिर"

अर्थात् जो पुरुष हजार गायें ब्राह्मणोंको दान देता है वह यदि एक प्राणी को जीवन दान देवे तो उसके इस कार्य्यके तुल्य पहला कार्य्य नहीं है यानी जीव दान देना गोदानसे भी श्रेष्ठ है।

इत्यादि अन्य मतावलम्बी शास्त्रोंमें भी जीवरक्षाको सर्वोत्तम धर्म माना है और जैनागमका तो यह प्राण ही है। पर आजकल हुण्डा अवसर्पिणी कालके प्रभावसे श्वेताम्बर जैन धर्मके अन्दर एक "तेरह पंथ" नामक सम्प्रदाय प्रकट हुआ है। यह सम्प्रदाय जैनधर्मके मूल भूत जीवरक्षा धर्मको विनाश करके जैनधर्मका मूलच्छेद करना चाहता है। इसके सिद्धान्तोंके नमूने कुछ यहां बतलाये जाते हैं।

(१) गायोंसे भरे हुए बाड़ेमें यदि आग लग जाय और कोई दयावान् पुरुष उस बाड़े के द्वारको खोल कर गायो की रक्षा करे तो उसे तेरह पन्थी एकान्त पापी कहते हैं।

(२) सामनेसे पूर्ण गाडी आ रही है और मार्गमें कोई बालक सोया हुआ है उस बालकको कोई दयावान् पुरुष उठा लेवे तो इस कार्य्यको तेरह पन्थ सम्प्रदाय एकान्त पाप बतलाता है।

(३) तीन मञ्जिल पर से कोई बालक गिरता हो तो उस को ऊपर ही पकड़ कर बचाने वाले दयावान् पुरुष को तेरह पन्थी एकान्त पाप करने वाला बतलाते हैं।

(४) पञ्चमहाव्रतधारी साधु के गले में किसी दुष्ट के द्वारा लगाई हुई फांसी को यदि कोई दयालु पुरुष खोल देवे तो उस में तेरह पन्थी एकान्त पाप होना बतलाते हैं।

(५) कसाई आदि हिंसक प्राणीके हाथसे मारे जाते हुए बकरे आदि की प्राण रक्षा करनेके लिये यदि कोई कसाईको नहीं मारनेका उपदेश देवे तो तेरह पन्थी उसे एकान्त पाप कहते हैं।

(६) किसी गृहस्थके पैरके नीचे कोई जानवर आ गया हो तो उसको बतलाने वाले दयावान् पुरुषको तेरह पन्थी एकांत पाप होना कहते हैं।

(७) तेरह पन्थके साधुओंके सिवाय संसारके सभी प्राणियों को तेरह पन्थी "कुपात्र" कहते हैं।

(८) तेरह पन्थके साधुओंके सिवाय दूसरेको दान देना, मांस भक्षण मद्यपान और वेश्यागमनके समान एकान्त पाप तेरह पन्थी बतलाते हैं।

(९) पुत्र अपने माता पिताकी और स्त्री अपने पतिकी सेवा शुश्रूषा करे तो इस कार्य्यको तेरह पन्थी एकान्त पाप कहते हैं।

(१०) किसी गृहस्थके घरमें आग लग गयी हो और गृहस्थका पति व घरका द्वार बन्द होनेके कारण बाहर नहीं निकल सकता हो किन्तु घरके भीतर आगमें जलते हुए मनुष्य, स्त्री और बच्चे आदि आर्तनाद करते हों तो उस घरका द्वार खोल कर उन प्राणियोंकी रक्षा करने वालेको तेरह पन्थी एकान्त पाप करनेवाला कहते हैं और उस घरका द्वार नहीं खोलना धर्म बतलाते हैं। जैसे कि भीषणजीने लिखा है—

"गृहस्थ रे लायो लायो घर बरे निकलियो न जायो। बलता जीव बिल बिल बोले साधु जाइ किमाड न खोले"

यही भीषणजी इस तरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए हैं। इनका वृत्तान्त दीप विजयजीकी चर्चामें इस प्रकार लिखा है।

मारवाड देशमें 'कण्टालिया' नामक ग्रामका रहने वाला ओसवाल सकलेचा गोत्री भीषणचन्द नामक व्यक्तिने सम्वत् १८०८ में बाईस सम्प्रदायके पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की। पश्चात् शहर मेरतामें अन्दर श्री रघुनाथजी महाराज, भीषणचन्दजीको भगवती सूत्र पढ़ाने लगे। भीषणजीको कितनी बातें जचतीं और कितनी नहीं जचतीं। यह चेष्टा श्रावक समरथमलजी घाडीवालने देखी। उक्त श्रावकने पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजसे कहा कि आप भीषणजीको भगवती सूत्र पढ़ा कर सर्पको दूध पिला रहे हैं। यह भीषणजी आगे चल कर निन्हव होगा और उत्सूत्र प्ररूपणा करेगा।

यह सुन कर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि पहले भी भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक और जामाली को पढ़ाया था और वे निन्हव हुए, यह उनके कर्मोंका दोष था।

इस प्रकार चौमास भरमें सम्पूर्ण भगवती सूत्र बचवा कर चौमासा उतरने पर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीसे कहा कि पुस्तक यहां रख कर जाना। पर भीषणजीने यह बात नहीं मानी। वह भगवतीका पुस्तक लेकर वहांसे चल दिये। पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजीने दो शिष्योंको भेज कर भीषणजीसे पुस्तक मंगवाई। वहीं पर भीषणजीका पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज पर क्रोध उत्पन्न हुआ। और भीषणजीने निश्चय किया कि मैं नवीन मत निकाल कर पूज्य श्री रघुनाथजीको अपमानित करूं।

यह विचार कर भीषणजीने मेरतासे विहार कर मेवाड़में राजनगरके अन्दर चातुर्मास्य किया। वहां सूत्र बांचते हुए भीषणजीने यह प्ररूपणा की कि साधु मुनिराज को किसी त्रस स्थावर आदि प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये और करानी भी नहीं चाहिये तथा करते हुए को अच्छा भी न समझना चाहिये। तथा किसी प्राणीको बाधना

नहीं चाहिये तथा बचाना भी नहीं चाहिये और बांधे हुए को अच्छा भी नहीं समझना चाहिये।

एवं किसी बांधे हुए जीवको स्वयं छोड़ना नहीं चाहिये छोड़ाना भी नहीं चाहिये और छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं जानना चाहिये। यह मुनिराजका आचार है इस प्रकार श्रावक भी तीर्थंकरका लघु पुत्र है और देशव्रती है इस लिये श्रावकको भी बंधे हुए प्राणीको स्वयं नहीं छोड़ना चाहिये और छोड़ाना भी नहीं चाहिये तथा छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं समझना चाहिये।

यदि किसी जीवको मारता हो तो छुड़ानेमें अन्तराय लगता है तथा छुड़ानेपर वह जो वह जीव हिंसा, मैथुन, पाप आदि कार्य करता है यह सब पाप छुड़ानेवालेके शिर पर लगता है। तथा गाय बैल आदिसे बाड़ा भरा हुआ है और उसमें यदि आग लग गई हो तो उस बाड़का द्वार खोल कर उन पशुओंकी रक्षा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मरनेसे बच हुए वे गाय बैल आदि मैथुन और हिंसा आदि पाप करेंगे वह सब पाप उनकी रक्षा करने वालेको लगेगा। तथा हिंसक मार आन वाले बकरा, भैंस आदि जीवित रह कर जो पाप करते हैं वह पाप छुड़ाने वालेको लगता है। यह प्ररूपणा भीखणजीने की थी।

भीखणजी और जयमलजीके शिष्य वखोजी तथा वसराजजी ओसवाल और लालजी पोरवाल इन चारों जनोंने मिल कर यह प्ररूपणा की थी। यह बात पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने सोजत्के चातुर्मास्यमें सुनी और उन लोगोंकी विपरीत श्रद्धा हुई जानी। चातुर्मास्य उतरने पर भीखणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास गये परन्तु पूज्य श्रीने भीखणजीको उत्सूत्र प्ररूपी जान कर आदर नहीं दिया। और शामिल आहार भी नहीं किया। यह देख कर भीखणजीने पूज्य श्रीसे पूछा कि मैंने क्या अपराध किया है जिससे आप नाराज हो गये हैं। पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि तुमने उत्सूत्र प्ररूपणा की है यही अपराध है। फिर पूज्य श्रीजीने भीखणजीको अच्छी तरह समझा कर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त देकर आहार पानी शामिल कर लिया। परन्तु भीखणजीने हृदय भावसे अपनी यह श्रद्धा नहीं छोड़ी। पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीखणजीसे कहा कि जयमलजीके शिष्य वखोजीको वसराज ओसवालको लालजी पोरवालको तथा राजनगरके श्रावकोंको तुमने ही विपरीत श्रद्धा दी है इस लिये वह श्रद्धा तुमसे हो फिरेगी तुम उनको समझाओ। ऐसी गुरुकी आज्ञा होने पर भीखणजी राजनगर आये। वहां आने पर भीखणजीको वखोजीने बहुत उपालम्भ दिया और कहा कि हम सबने मिल कर एक नवीन पन्थ चलाना सोचा था फिर तुम

रघुनाथजीके पास जाकर उनसे मिल गये। इत्यादि कह कर वखोजीने भीखणजी का मन फिरा दिया। अब भीखणजीकी श्रद्धा फिर पूर्ववत् ज्योंकी त्यों हो गई। पश्चात् वे चार मासके बाद भीखणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास आये। और पूज्य श्री ने फिर उनका आहार अलग कर दिया। इसके बाद भीखणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके गुरु भाई पूज्य श्री जयमलजी महाराजके पास चले गये। इसी कारण पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज और जयमलजी महाराजमें मतभेद उत्पन्न हुआ और छ मास तक यह झगड़ा चलता रहा परन्तु भीखणजीने अपना मत नहीं छोड़ा।

इसके अनन्तर श्री रघुनाथजी महाराजने गोशालकका दृष्टान्त देकर बगड़ी गांव में सम्वत् १८१५ चैत्र सुदी नवमी शुक्रवार रोज भीखणजीको गच्छसे अलग कर दिया।

पश्चात् भीखणजी, वखोजी, रूपचन्दजी, भारमलजी और गिरधरजी आदि तरह जनोंने मिल कर नवीन पन्थ चलाया। तेरह जनोंने इसे चलाया था इसलिये इसका नाम 'तरह पन्थ' हुआ। ये लोग प्रत्येक ग्राममें घूम घूम कर अपने मतका प्रचार करने लगे। और शास्त्रके ६१ बोलोंका अर्थ उलट पुलट कर दिया। और शास्त्रमें जहां जहां जीव रक्षा करनेका पाठ देखा उसके अर्थ फेर दिये। इन लोगोंने यह प्ररूपणा की थी कि जीव रक्षा आदि करनेमें कोई लाभ नहीं है। ये सब सांसारिक कार्य हैं।

पहले पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीखणजीको समझाया था कि भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतकमें गोशालकको वैश्यायन बाल तपस्वी तेजो लेश्याके द्वारा जला रहा था वहां भगवान् महावीर स्वामीने अनुकम्पा करके शीतल लेश्याके द्वारा गोशालक को बचाया था। इस लिये सिद्धान्तमें अनुकम्पा करना परम धर्म माना है उसको तुमने क्यों उठा या है।

यह सुन कर भीखणजीने कहा कि वीर समझदार होते तो छद्मस्थपनमें गोशा लकको दीक्षा क्यों देते, गोशालकको तिल क्यों बताते। वह तिल नहीं बताते तो गोशा लक उसे क्यों उखाड़ फेंकता। तथा वीर गोशालकको तेजो लेश्या क्यों सिखाते। इस तेजो लेश्याके सिखानेसे गोशालकने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया तथा स्वय वीरको भी उस तेजो लेश्याके तापसे छ महीने तक रक्त व्याधि भोगनी पड़ी थी। इत्यादि बहुतसे अनर्थ हुए। यदि वीर समझदार होते तो ऐसा अनर्थकर कार्य्य क्यों करते। किन्तु वीर चूक गये, उनमें छ लेश्यायें और आठ कर्म थे। यह हठ पकड़ कर भीखणजीने वीर भगवान्‌के प्रति बहुत कुछ अवर्ण वाद कहा।

इसके अनन्तर फिर गुरुने समझाया कि तीर्थंकर नीच कुलमें उत्पन्न नहीं होते और उनका गर्भापहार नहीं होता तथा केवल ज्ञान होने पर उनको उत्कृष्ट रक्त व्याधि

नहीं होती। इत्यादि जो इस आश्चर्य हुए हैं वे कभी नहीं होते पर किसी भारी योगसे हुए हैं। इस लिये गोशालक और भगवान् महावीर का पूर्वभवका वैर था उस वैरका फल होने बिना यह किस प्रकार मोक्ष पाते ? । तथा वह छ महीने तक रक्तस्त्रावादि भोगे बिना किस प्रकार शुद्ध होते ? । १३ वे सयोगी केवली गुणस्थानमें मोक्ष जानेके समय सात कर्म सम्पूर्ण होते हैं और वेदनीय कम बहुत होते हैं। केवल समुद्घातको प्रकट करके वेदनीय कर्मों का क्षपण और आठ कर्मों को पूरा करके केवली मोक्ष जाते हैं। इसलिये गोशालक द्वारा वेदना और उसके वैरको सम्पूर्ण किये बिना भगवान् महावीर किस प्रकार मोक्ष जा सकते थे। यह भारी भाव था। इसी कारण भगवान् वीरने गोशालकको ऐसा लिखाई थी कम और भूठे यह शब्द तुम मत कहो। इस प्रकार पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीखणजीको बहुत कुछ समझाया पर भीखणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

फिर पूज्य श्री रघुनाथजीने कहा कि श्रसूत्र प्ररूपणा करके तुम अनुकम्पा मत उठाओ। बरावक द्वारा सूत्रमें श्रेणिक राजाने अनुकम्पा कर कसाई बाड़ा उठा दिया था और जीव नहीं मारनेका ढिंढोरा पिटवाया था। तथा राजप्रश्नीय सूत्रमें प्रदेशी राजाने बारह व्रत धारण करके अपनी संपत्तिके चतुर्थभागसे अनुकम्पार्थ दानशाला बनवाई थी। फिर उत्तराध्ययन सूत्रमें भी नेमिनाथजीने विवाहार्थ जाते हुए पशुओंसे भरा हुआ बाड़ा देखा और अनुकम्पा कर उन्हें छुड़ा दिया। तथा ठाणाङ्ग सूत्रमें दश प्रकारके दान कहे हैं उनमें अनुकम्पा दानका वर्णन है। इस प्रकार शास्त्रमें ६५ जगह अनुकम्पा सम्बन्धी पाठ आये हैं उन पाठोंको बता कर भी भीखणजीको समझाया पर भीखणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

यही भीखणजी तेरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। इनका सम्प्रदाय शास्त्र विरुद्ध होनेके कारण यद्यपि क्षण भर भी ठहरने योग्य न था तथापि जनताके अन्दर मूर्खताका आधिक्य होनेसे और हुण्डा अवसर्पिणी कालके प्रभावसे इनका सम्प्रदाय चल निकला। और इस सम्प्रदायके चलनेसे जनताके अन्दर जीव रक्षा करनेमें एकान्त पापका विश्वास उत्पन्न हुआ।

इस पंथवालोंके चौथे पाट पर जीतमलजी नामक एक व्यक्ति आचार्य हुए। इन्होंने दान दयाका सर्वनाश करनेके लिये भ्रमविध्वंसन नामक एक ग्रन्थ रचा और उसमें शास्त्रके अर्थका अनर्थ करके मूर्ख जनतामें भीखणजीके सिद्धान्तोंको पुष्ट करनेका पूर्ण प्रयास किया। जहां जहां भीखणजीकी श्रद्धा शास्त्रसे विरुद्ध होती थी वहां वहां इन्होंने शास्त्रका अर्थ बदल दिया है। और जहां अर्थ नहीं बदल सका वहांका पाठ ही नहीं

ड्या। तथा कहीं अपूर्ण पाठ लिख कर जनतामें भ्रम खण्डन करनेका बहानस भ्रमका चार किया। इस प्रकार जीतमलजीने भ्रमविध्वंसनमें दान दया आदि पवित्र धर्मों का च्छेद करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थके प्रचार होनेसे जनताके अन्दर एमा ज्ञान फैल गया है कि थली प्रान्तमें रहने वाले तेरह पन्थी ओसवाल बन्धुओंने जीव क्षा रूप धर्मका बहिष्कार सा कर दिया है। इस अनर्थ परम्पराको बढ़ने देख कर जनताके कल्याणार्थ पूज्य श्री हुकुमीचन्दजी महाराजके पटानुपाट पर विराजमान १००८ पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराजने बहुत परिश्रम के साथ यह सद्धर्ममण्डन नामक ग्रन्थ बनाया है।

इस ग्रन्थमें मूल सूत्र और उनसे मिलती हुई टीका, भाष्य, चूर्णी और कहीं कहीं सूत्रानुसारिणी टब्बाओंका आश्रय लेकर सत्य धर्मको प्रकट करनेकी पूर्ण चेष्टा की गई है। इस ग्रन्थको मनन पूर्वक अवलोकन करनेसे शास्त्र विरुद्ध तेरह पन्थियोंका सिद्धान्त साफ साफ मिथ्या नजर आने लगता है और जीवरक्षा तथा दान आदि धर्म, शास्त्रीय प्रमाणित होते हैं। अतः सत्य धर्म ज्ञान की इच्छा करने वाले पुरुषोंको अवश्य यह ग्रन्थ देखने योग्य है और बाइस सम्प्रदायके श्रावकों के लिये तो इसे देखना परम आवश्यक है। यद्यपि तेरह पन्थके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन करनेके लिये अनेक मुनि महात्माओंने परिश्रमके साथ अनेक ग्रन्थ बनाये हैं और तेरह पन्थकी कुयुक्तियोंसे चतुर्विध संघकी बहुत ही रक्षा की है। इस उपकारके लियेउन महात्माओंका यह बाइस सम्प्रदाय ऋणी है तथापि उन महात्माओंने ग्रन्थ पुरानी भाषामें लिखे हैं और कई जगह दृष्टि दोषसे उनमें त्रुटियां भी रह गई हैं तथा कहीं कहीं उनमे अशुद्ध टब्बा भी छप गये हैं इस लिये आधुनिक प्रचलित भाषामें इस नवीन ग्रन्थको निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस ग्रन्थके बनानेमें सबसे प्रधान कारण यह है कि पूर्व महात्माओंके बनाये हुए ग्रन्थोंमें इस 'भ्रमविध्वंसन" का पूर्ण खण्डन नहीं आया है। क्योंकि वे सब ग्रन्थ भ्रमविध्वंसनके छपनेसे पहलेके बने हैं। इस लिये उन ग्रन्थोंमें भ्रमविध्वंसनकी कुयुक्तियों का खण्डन नहीं होना स्वाभाविक है। इस त्रुटिको दूर करनेके लिये यह ग्रन्थ बनाना आवश्यक हुआ। परन्तु किसी अच्छे कार्य्यके लिये सुअवसरका मिलना सुलभ नहीं है। सौभाग्यवश १००८ पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराजका भीनासरमें सम्वत् १९८४ में चातुर्मास्य हुआ। महाराज साहबसे इस कार्य्यके लिये सङ्घकी पहलेसे ही प्रार्थना थी और महाराज साहब स्वयं भी इस कार्य्यको करना चाहते थे सुअवसर देख कर महाराजने घोर अन्धकारमें पड़ी हुई अमन्मार्गमें प्रवृत्त जनताको सत्पथमें प्रवृत्त करनेके लिये

इस ग्रन्थका भीनासरमें ही बनाना आरम्भ कर दिया। और चातुर्मास्य भर भीनासरमें यह कार्य्य हुआ। पश्चात् सङ्घकी प्रार्थनासे पूज्यश्रीका थली प्रान्तमें विहार हुआ वहां पर घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ी हुई जनताको देख कर इस ग्रन्थको बनानेमें पूज्यश्रीकी और भी प्रबल इच्छा हुई। और सरदार शहरके चातुर्मास्यमें पुनः यह कार्य्य प्रचलित किया पर सरदार शहरके चातुर्मास्य समाप्त होने पर पूज्यश्री का ग्रामानुग्राम विहार होनेके कारण यह कार्य्य चूरूके चातुर्मास्य तक रुका रहा। पश्चात् चूरूके चातुर्मास्यमें होकर बीकानेरके चातुर्मास्यमें सम्वत् १९८७ के अन्दर यह कार्य्य समाप्त हुआ।

बन्धुओ ?

भगवान् महावीर स्वामीसे लेकर आज तक जितने आचार्य्य हुए हैं किसीने भी जीवरक्षाको पाप नहीं बतलाया है किन्तु सभीने इसे धर्म कहा है। पर आज तेरह पन्थ सम्प्रदाय इसे पाप कहता है यह इसकी अपनी कपोल कल्पना है शास्त्रकी यह राय नहीं है। तेरह पन्थियोंसे जब पूछा जाता है कि तुम्हारे समान प्ररूपणा किसी पूर्वाचार्य्यने पहले कभी की हो तो बतलाओ ?। इसका यथार्थ उत्तर तेरह पन्थियोंसे कुछ भी नहीं दिया जाता किन्तु भोली भाली श्रावक मण्डलीको बहकानेके लिये वे कहते हैं कि हमारी श्रद्धा ही पुरानी है और यही सच्चा जिनभाषित धर्म है परन्तु काल पाकर यह नष्ट हो गया था। पश्चात् हमारे पूर्वाचार्य्य भीखणजीने इसका पुनरुद्धार किया है। यह कह कर अन्धविश्वासी जनताको वे भूलावे देते हैं। परन्तु बुद्धिमानों को निर्मूल तथा शास्त्र विरुद्ध इनकी बातें नहीं माननी चाहिये।

साक्षात् भगवान महावीर स्वामीने भगवती सूत्र शतक २० उद्देशा ८ के मूलपाठ में चतुर्विध सङ्घको लगातार २१००० वर्ष तक चलना रहना बतलाया है इसलिये तेरह पंथियों का तीर्थविच्छेद बतलाना एकान्त मिथ्या है। भगवती सूत्र का वह मूल पाठ यह है—

जम्बू दीवेणं भन्ते ? दीवे भारए वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केव तियं कालं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ? गोयमा ? जम्बूद्दीवे दीवे भारए वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगवीसं वास सहस्साइं तित्थे अणुसिज्जस्सइ' (सूत्र ६७९)

अर्थ—हे भगवन् ? जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें इस अवसर्पिणीकालमें आपका तीर्थ कितने काल तक लगातार चलता रहेगा ?

उत्तर—हे गौतम ? जम्बूद्वीपके भारतवर्षमें इस अवसर्पिणी कालमें मेरा तीर्थ २१००० वर्ष तक लगातार चलता रहेगा।

- इस पाठमें चतुर्विध संघका लगातार २१००० वर्ष तक चलता रहना साक्षात् तीर्थङ्करने बतलाया है अत भगवान्के तीर्थकी बीचमे टुटनकी बात तेरह पन्थियों की नितान्त शास्त्रविरुद्ध समझनी चाहिये।

जब यह पाठ तरह पन्थियोंके सामने रक्खा जाता है तब वे कहते हैं कि—इस पाठमें तीर्थ शब्दका चतुर्विध सङ्घ अर्थ नहीं किन्तु शास्त्र अर्थ है। और इस पाठमें भगवान्ने अपने शास्त्रको २१००० वर्ष तक चलना बतलाया है पर यह भी उनकी दलील शास्त्रविरुद्ध ही ठहरती है। इसी जगह भगवान्ने मूलपाठमें तीर्थ शब्दका अर्थ चतुर्विध सङ्घ बतलाया है वह पाठ—

"तित्थ भन्ते ? तित्थ तित्थकरे तित्थ गोयमा ? अरहा ताव णियमा तित्थ कर तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णो समणसघ तंजहा समणा समणीयो सावया सावियाओ"

(सूत्रम् ६८१)

अर्थ—हे भगवन् तीर्थको तीर्थ कहते हैं अथवा तीर्थङ्करको तीर्थ कहते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! अरिहंत तो नियमसे तीर्थङ्कर होते हैं किन्तु चतुर्विध श्रमण सङ्घको तीर्थ कहते हैं। वह श्रमण सघ यह है—साधु साध्वी, श्रावक और श्राविकायें।

यहां भगवान्ने तीर्थ शब्दका साफ साफ साधु साध्वी श्रावक और श्राविका अर्थ किया है और इनके समूह को ही इसके पूर्व सूत्रमें २१००० वर्ष तक चलना बतलाया है। अत तीर्थ शब्दका अर्थ यहां शास्त्र मानना और चतुर्विध सङ्घके बीचमें टुटनेकी प्ररूपणा करना एकान्त मिथ्या है।

इसी तरह बीचमें तीर्थ टुट जानेके सम्बन्धमे जो तेरह पन्थी यह युक्ति देते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर भस्मग्रहका लगना कल्पसूत्रमें कहा है इस भस्मग्रहके कारण भगवान्का चलाया हुआ तीर्थ टूट गया था यह भी मिथ्या है क्योंकि कल्पसूत्रके उसी पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भस्म ग्रहके लगने के समय में भी भगवान् का तीर्थ चलता ही रहा था टूटा नहीं था। वह पाठ यह है.—

"जप्पभिइं चणं स खुद्दाए भासरासी महग्गहे दो वास सहस्सठिइ समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्म नक्खत्त संकंते तप्पभिइं चणं समणाणं णिग्गंथाणं निग्गंथीण नोउदिए उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ" (कल्पसूत्र)

अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर दो हजार वर्षकी स्थितिवाला भस्मराशि नामक महाग्रह जबसे लगेगा तबसे श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियोंका पूजा सत्कार उदय उदय न होगा।

इस मूलपाठमें भस्मग्रह लगनेसे भगवान् महावीर स्वामीका तीर्थ विच्छेद होना नहीं कहा किन्तु श्रमण निग्रंथोंकी उदय उदय पूजा वर्जित की है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भस्मग्रहके समयमें भी भगवान् महावीर स्वामी का चलाया हुआ तीर्थ चलता ही रहा टूटा नहीं क्योंकि जब तीर्थ ही नहीं रहेगा तब फिर उदय पूजा किस की बन्द होगी ? अत भस्मग्रहका नाम लेकर भगवान् महावीर स्वामीके तीर्थका बीच में विच्छेद बतलाना मिथ्या है।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकी भूमिकामें जो यह लिखा है कि—

"पश्चात् १८५३ में धूमकेतु ग्रह उतर जानेके कारण श्री स्वामी हेमराजजीकी दीक्षा होनेके अनन्तर भगवानुक्त जिन मार्गकी उन्नति होने लगी" यह भी मिथ्या है। क्योंकि धूमकेतु ग्रह बगचूलियाके पाठानुसार विक्रम संवत् १५६२ में ही उतर गया था। सम्वत् १८५३ में ग्रह के उतरने की बात मिथ्या है। देखिये बग चूलिया का पाठ यह है—

"तओ सोलससएहिं नव नवति मज्जुएहिं वरीसहिं ते दुट्ठ वाणियगणा अवमंनइ स्सति सुयं मेय तम्मिगए अग्गिदत्त ! संघे सुय अम्मरासी नक्खत्ते अट्ठतीसमो दुट्ठो लगिस्सइ धूमकेउगहो। ससस्टिइं तिन्नि सवा तेतीसा एगराशि परिमाण तम्मियमि ण पइट्ठो संघसुयस्स उदयो अस्थि"

अर्थात् इसके अनन्तर १६९९ वर्षमें संघके जन्म नक्षत्र पर अट्ठाइसवां धूमकेतु नामक महाग्रह लगेगा वह तीनसौ तैंतीस वर्ष तक वहां स्थित रहेगा इसकी स्थिति-काल में संघ और शास्त्र की पूजा प्रतिष्ठा कम होगी। यह इस पाठका भावार्थ है।

यहां वीर निर्वाणसे १६९९ पर तीनसौ तैंतीस वर्षके लिये धूमकेतु का लगना बतलाया है और विक्रम संवत् १२२९ में वीर निर्वाण काल १६९९ वर्षका होता है। इसका हिसाब इस प्रकार लगाइये वीर निर्वाणके अनन्तर ४७० वर्ष तक नन्दी वाहनका शाक चलता रहा उसके बाद विक्रम सम्वत् आरम्भ हुआ। इसलिये विक्रम संवत् १२२९ में ४७० वर्ष मिला देनेसे १६९९ वर्ष होते हैं। यही बगचूलियाके हिसाबसे धूमकेतुग्रहके प्रवेशका समय है। वह धूमकेतु ३३३ वर्ष तक रहा इसलिये विक्रम संवत् १२२९ में ३३३ जोड़ देनेसे १५६२ वर्ष होता है। इसी विक्रम संवत् १५६२ में धूमकेतु ग्रह उतरा। अत भ्रमविध्वंसनकी भूमिकामें विक्रम संवत् १८५३ में धूमकेतुके उतरनेका समय बतलाना मिथ्या समझना चाहिये।

तथा इस ऊपर लिखे हुए बगचूलियाके पाठमें धूमकेतु ग्रहके समयमें चतुर्विध संघकी उदय उदय पूजाका ही निषेध किया है संघका टूट जाना नहीं बतलाया है

अत धूमकेतु समयमें भी चतुर्विध सङ्घ का बना रहना सिद्ध होता है। तथापि जो तेरह पन्थी बीच में चतुर्विध सङ्घ का टूटन की प्ररूपणा करते हैं वह एकान्त मिथ्या है।

तेरह पन्थियोंको अपने सिद्धान्तका समर्थक जब कइ प्रमाण नहीं मिलता तब वे लाचार होकर सङ्घ का टूटना बतलाने लगते हैं। लेकिन इन की यह बात भी जब भगवती शतक २० उद्देशा ८ के मूलपाठके विरुद्ध ठहर जाती है तब वे क्रोधान्ध हो कर पूछने वालेको अपमानित करने लगते हैं।

इनके जितने ग्रन्थ बने हैं उन सबोंका एकमात्र उद्देश्य दया दानका बहिष्कार करना ही है। पर सभी ग्रन्थोंमें जितमलजीका बनाया हुआ भ्रमविध्वंसन ग्रन्थ प्रधान है। इसमें बड़ी चातुरीके साथ दयादानका खण्डन किया है। इसी एक दयादान का खण्डन करनेके लिये भ्रमविध्वंसनकारको अनेकों जगह शास्त्रके अर्थको अनर्थ करना पड़ा है। जैसे महाजनकी बहीमें एक जगह परिवर्तन होने पर सारी बहीके रकम बदलने पड़ते हैं उसी तरह एक दयादानका खण्डन करनेके लिये जीतमलजी को अनेकों शास्त्र विरुद्ध बातें स्वीकार करनी पड़ी हैं। जैन दर्शन तथा जैनेतर दर्शन सबोंका यह सिद्धान्त है कि अज्ञान तथा मिथ्यात्वके साथ की जाने वाली क्रिया मोक्ष देनेवाली नहीं होती और उस क्रियाका आराधक पुरुष मोक्षमार्गका आराधक नहीं होता किंतु सम्यक्त्व और ज्ञानपूर्वक की जानेवाली क्रिया ही मोक्षदायिका होती है पर दयादानका खण्डन करनेके लिये तेरह पन्थियोंको अज्ञान और मिथ्यात्वसे की जानेवाली क्रियासे भी मोक्ष मार्गकी आराधना स्वीकार करनी पड़ी है।

जैन और उससे इतर शास्त्रोंकी एकमतसे मिथ्यात्विकी क्रिया के विषयमें यही मान्यता है कि मिथ्यात्विकी क्रियासे मोक्षमार्गकी आराधना नहीं होती। देखिये बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है कि—

"योवा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्यतद्भवति

अर्थ—हे गार्गि ! जो अविनाशी—आत्माको बिना जाने इस लोकमें होम करता है यज्ञ करता है तपस्या करता है वह चाहे हजारों वर्ष तक इन क्रियाओं को करता रहे पर वह संसारमें लिप्त ही है। (बृहदारण्यक)

प्राचीन कालसे लेकर इस समय तकके प्रत्येक आस्तिक मान्य धर्मने आत्माका आत्मिक बन्धनका और मोक्षका वर्णन किया है। जैसे अहिंसा या दयाके विषयमें ये सब धर्म एक मत हैं वैसे ही इस मान्यता में भी किसीको विवाद नहीं है कि बिना

सम्यक् ज्ञानके मोक्ष अथवा मोक्षकी आराधना नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि बन्धनसे छूटना मोक्ष है। जबतक आत्मा अपने असली स्वरूपको, अपने बन्धनको, बन्धनके कारणको, मोक्षके उपायोंको सम्यक् प्रकारसे नहीं जान लेता तबतक उसे न वर्तमान विकारमय अवस्थासे मुक्त होनेकी इच्छा हो सकती है और न वह उसके लिये किसी प्रकारकी प्रवृत्ति ही कर सकता है। जिस रोगीको यह मालूम नहीं है कि मैं रोगी हूं, मैं रोगी हुआ हूं, रोगसे मुक्त होनेका उपाय क्या है नीरोगता क्या चीज है, वह अपना रोग मिटानेकी न कभी इच्छा करेगा और न उसकी प्रवृत्ति ही करेगा।

यह कारण है कि समस्त धर्मोंने सम्यग्ज्ञानको अवश्य ही मुक्तिके साधनोंमें प्रधान माना है। ऊपर बृहदारण्यकके उल्लेखमें भी यही बात बताई गई है। बृहदारण्यकके सिवाय अन्य उपनिषदोंमें तथा प्रत्येक दर्शन शास्त्रमें भी यही मान्यता स्वीकार की गई है। कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं, जिससे विषय स्पष्ट हो जाय।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात्
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम"

अर्थात् जिसमें आत्मबल नहीं है वह पुरुष आत्मा (आत्माका असली स्वरूप) को नहीं पा सकता। न वह आत्मा प्रमादसे, और लिंग (साधुका भेष) हीन तपसे ही प्राप्त हो सकता है। हां, जो ज्ञानी बन कर इन उपायोंको आत्मबल, अप्रमाद, लिंग युक्त तपको काममें लाता है वही ब्रह्मधाम (आत्माके असली निवासस्थान) में प्रवेश करता है।

बृहदारण्यक और मुण्डकोपनिषद् इन दोनों उल्लेखोंसे यह विषय स्पष्ट रूपसे में आ जाता है कि जो मनुष्य ज्ञान हीन होकर तपस्या आदि करता है वे उसके सब कर्म संसारके ही कारण हैं और जो ज्ञान युक्त होकर इन्हीं तपस्या आदि कर्मोंको करता है, उसके वे ही कर्म मुक्तिके कारण होते हैं।

"यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।
(कठोपनिषद्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक ठीक विचार नहीं कर सकता और वह सदा अपवित्र है। वह मोक्ष नहीं पा सकता प्रत्युत संसारमें ही परिभ्रमण करता है। जो ज्ञानी है वह ठीक ठीक विचार कर सकता है और वह सदा पवित्र है। वह ऐसे पदको पाता है जिससे फिर कभी वापस नहीं लौटना पड़ता है।

यहाँ सम्यग्दर्शनको पहला स्थान दिया है और सम्यक्चारित्रको चौथा, क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता। यहां तक कि सम्यक् प्रकारका संकल्प भी नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान होने पर ही सम्यक् संकल्प और मोक्ष प्राप्तिकी दृढ़ इच्छा होती है, इसी कारण यहां सम्यग्दर्शनके बाद सम्यक् संकल्प गिनाया गया है।

न्याय दर्शनमें गोतम मुनि कहते हैं—"दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानाना मुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (न्याय अ० १)

अर्थात् मोक्षके लिए सब प्रथम मिथ्या ज्ञानका नाश होना आवश्यक है। मिथ्या ज्ञानके नाश होने पर रागादि दोष, रागादि दोषोंके नाशसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके नाशसे जन्म और जन्मके नाशसे दुःखका नाश होता है। दुःखोंका नाश होने पर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

यहां पर भी यह बताया गया है कि मोक्षके लिये सबसे पहले सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता है। बिना सम्यक् ज्ञानके मिथ्या ज्ञानका नाश नहीं होता और मिथ्या ज्ञानके नाशके बिना इह लोक और परलोकके सुखोंका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते। जब तक सांसारिक सुखोंका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते तब तक मोक्ष पाना अत्यन्त दुर्लभ है इस लिये मोक्ष प्राप्तिके लिये सम्यग् ज्ञानकी सर्व प्रथम आवश्यकता न्याय दर्शन में बताई है। वैशेषिक दर्शनमें कहा है —

"तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" (वै० सूत्र) तत्त्वज्ञानमात्मसाक्षात्कार इह विवक्षित स्तेन सवासन मिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमत्वात्" "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽनाय"

अर्थात् आत्माका साक्षात्कार हो जानेको तत्त्वज्ञान कहते हैं क्योंकि उसीसे मिथ्या ज्ञानका नाश हो सकता है। तत्त्वज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है। आत्माका प्रकाशके सिवाय मुक्तिका और कोई उपाय नहीं है।

यह मान्यता भी जैन धर्मसे मिलती है। जैन धर्मका मत है कि आत्मामें जब सम्यग्दर्शन होता है तब मिथ्या ज्ञानका नाश होता है और वैशेषिक दर्शन भी यही कहता है कि आत्म साक्षात्कार ही मिथ्या ज्ञानका नाशके द्वारा मोक्ष देनेमें समर्थ है।

कपिल ऋषि प्रणीत सांख्य दर्शनमें इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश डाला गया है। सांख्य दर्शनके प्रारम्भिक सूत्र यों हैं—

"अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति परम पुरुषार्थः। नदृष्टात्तत्सिद्धि निवृत्तेऽप्यनु वृत्ति दर्शनात्। प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकार चेष्टनात्पुरुषार्थत्वम्' सर्वासंभवात् सम्भवेऽपि सत्त्वासंभवाद्धेय प्रमाणकुशलैः। उत्कर्षादपिमोक्षस्य सर्वोत्कर्ष श्रुतेः"

(सांख्य दर्शन सूत्र १-२ ३ ४-५)

अर्थात् तीन प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाना अत्यन्त पुरुषार्थ (मोक्ष) है। दुःखोंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति (मोक्ष) लोकमें देखे जाने वाले धन, प्रियजनोंके संयोग आदि उपायोंसे नहीं हो सकती जैसे भोजन करनेसे सदाके लिये भूख नहीं मिटती वैसे ही लौकिक उपायोंसे सदाके लिये दुःख दूर नहीं होते। इन उपायोंसे दुःख पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं होते, थोड़े बहुत होते भी हैं तथापि वे विराम न रहते हैं। लौकिक उपायोंसे उत्कृष्ट राज्य आदि लौकिक पदार्थ प्राप्त होते हैं लेकिन वेदमें मोक्ष उनसे भी बहुत उत्कृष्ट बताया है इसलिये भी उन उपायों से वह प्राप्त नहीं हो सकता।

इसके बाद यह प्रश्न किया गया है कि "यदि दृष्ट साधनसे सर्वथा दुःखका नाश नहीं होता तो वेद विहित यज्ञ आदि कर्मोंसे हो जायगा? इसका उत्तर कपिल ऋषि कहते हैं—"अविशेषश्चोभयोः" (सू० ६) इसके भाष्यका अर्थ यह है—दोनोंका अर्थात् दृष्ट जो लोकमें देखनेमें आता है व अदृष्ट जो यज्ञ साधन धर्मफल देखनेमें नहीं आता इन दोनोंका जैसा कहा गया है, आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिके साधन होनेमें विशेष नहीं है। अर्थात् दोनों ही एक समान हैं, अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति यज्ञ आदिसे भी नहीं होती। मोक्षके साधक होनेमें विवेक (सम्यग् ज्ञान) होना ही मुख्य उपाय है। विवेक से अविवेकका नाश होने पर दुःख मात्रका नाश होता है अन्यथा नहीं होता'

इस प्रकार बिना विवेक (सम्यग् ज्ञान) के मोक्ष होना अत्यन्त असम्भव बता कर सूत्रकार स्वयं कहते हैं 'ज्ञानान्मुक्तिः" (अ० ३ सूत्र २४) अर्थात् ज्ञान होने पर ही मुक्ति होती है और "बन्धो विपर्ययात्" (सूत्र २५) अज्ञानसे बन्ध होता है।

इस तरह सांख्य दर्शनके अनुसार भी यह सिद्ध है कि कोई व्यक्ति यज्ञ, जप, तप, आदि क्रियाएं भले ही करता रहे परन्तु जब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी वे क्रियाएं मुक्तिका कारण नहीं हो सकती ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आराधना हो सकती है।

इसी प्रकार ऋषि पतञ्जलि योगदर्शनमें कहते हैं—

"तस्य हेतुरविद्या। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्"

(साधनपाद सूत्र २४।२५)

अर्थात् दुःखका मूल कारण अविद्या है। अविद्या, मिथ्याज्ञानको कहते हैं। मिथ्याज्ञानका नाश होनेसे आत्माका बन्ध नष्ट होता है वही मोक्ष आत्माका कैवल्य है। अन्य वस्तुका संबंध न रहनेसे आत्माकी शुद्ध निर्लिप्त अवस्था है।

पातञ्जल योगसूत्रमें भी उपर्युक्त विषयका ही समर्थन होता है। इसमें संसार का मूलकारण अज्ञान बताया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जब तक आत्मामें अज्ञान है तब तक मोक्षकी आराधना या प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी विषय का आगे और भी खुलासा किया गया है—

'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः (सूत्र २६)

'मिथ्याज्ञानाभावनया—पगतमिथ्या विप्लवरहितो विवेकः पुरुषार्थस्य मोक्षोपाय सत्त्वपुरुषान्यताविषयो मूलं हानेनार्थ।" (भाष्य)

अर्थात् मिथ्याज्ञानके सद्भावसे आत्मामें एक प्रकारका विप्लव होता रहता है। यह विप्लव सम्यग्ज्ञान होने पर नष्ट होता है यही सम्यग्ज्ञान आत्माके सच्चे स्वरूपका अवबोधक—मोक्षका उपाय है। यहां भी यही बात बताई गयी है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं।

इन सब उल्लेखोंसे भलीभांति सिद्ध है कि मोक्षकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान अनिवार्य हैं। प्रत्येक धर्ममें इनको सर्वप्रथम कारण माना है अतः इस विषयमें भी संदेह नहीं कि सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आराधना होती है। उपनिषदादि ग्रन्थोंसे यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि बिना सम्यग्ज्ञानके किये जाने वाले तपस्या आदि आचरण मोक्षके कारण नहीं हैं बल्कि संसारके ही कारण हैं।

ऊपर जो मान्यता प्रकट की गयी है ठीक यही जैन धर्मकी भी है। बिना ज्ञान का किये जाने वाले तपको जैन परिभाषामें "बाल तप" कहते हैं और यह संसार का ही कारण है।

प्रत्येक धर्मकी ऐसी मान्यता होने पर भी आश्चर्यकी बात है कि थोड़े दिन पहले पैदा होने वाले भीखणजीने इससे विरुद्ध एक विचित्र मत निकाला है। इन्होंने भारत वर्षके *तमाम दर्शन—सिद्धान्तोंका खण्डन ही करनेकी चेष्टा की है।* इनका मत है कि जो जीव, अपने स्वरूपको, बन्धको, और मोक्षको जानता ही नहीं वह भी मोक्ष की आराधना करता है। अर्थात् जिस व्यक्तिको यह भी ठीक नहीं मालूम है कि, मुझे रोग है या नहीं, है तो क्या रोग है, क्यों उत्पन्न हुआ है, कैसे दूर होगा, दूर होने पर क्या सुख दुःख होगा? वह भी अपना रोग दूर कर सकता है। जो बात आज तक किसी ऋषि महर्षिको न सूझी थी वह महाशय भीखणजीको सूझी। इसीलिये ये कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव भी मोक्षका आराधक है। वस्तुतः यह सिद्धान्त प्रत्येक दृष्टान्त से, अनुभवसे और युक्तिसे सर्वथा बाधित है। जिस जिस वस्तुका सम्यग्ज्ञान ही नहीं है वह उसकी प्राप्तिके लिये कदापि प्रयत्न नहीं कर सकता। अगर कोई करता भी है तो

कृतकार्य्य नहीं हो सकता अत सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर ही मोक्षाराधनाका आरम्भ होता है पहले नहीं।

(भीषणजीने सर्व भारतीय दर्शनोंसे विरुद्ध अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्षकी आराधना क्यों अङ्गीकार की ?)

भीषणजीने अपने गुरुको नीचा दिखानेके लिये जो सङ्कल्प किया था उसकी पूर्तिके लिये सिद्धान्तमें हेर फेर करके एक नवीन सम्प्रदाय निकाला और इसका मूल सिद्धान्त दयादानमें एकान्त पाप मानना अङ्गीकार किया। ऐसा मानने पर यह सम्प्रदाय अनायास ही बाइस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे असहमत होकर पृथक् हो गया। इन्होंने दयादानको एकान्त पापमें सिद्ध करनेके लिये और कोई मार्ग न देख कर जिन आज्ञामें ही धर्म और पुण्य होना मान लिया परन्तु मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव भी अकाम निर्जरा आदि क्रियाके द्वारा पुण्य बाँध कर स्वर्ग जाते हैं यह देख कर इनको मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी जीवकी क्रिया भी जिन आज्ञामें ही माननी पड़ी। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि की क्रियाको आज्ञामें मान कर हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले अनुकम्पादानको आज्ञा बाहर बताकर उसे एकान्तपापका कारण बताया।

जीतमलजीने भीषणजीके उक्त मतकी पुष्टिके लिये भ्रमविध्वंसन नामक ग्रन्थ बनाया और उसके पहले प्रकरणमें विविध कुयुक्तियोंका आश्रय और शास्त्रोंका अनर्थ करके मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको आज्ञामें स्थापन करनेकी चेष्टा की दूसरे प्रकरण दानाधिकारमें हीन दीन जीवको दिये जाने वाले अनुकम्पा दानको आज्ञा बाहर ठहरा कर उसमें एकान्त पाप बताया। हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले दानमें प्रत्यक्ष अनुकम्पारूप गुण देखनेमें आता है और अनुकम्पा करना शास्त्रमें सातवेदनीय कर्मका कारण माना है यह देख कर जीतमलजीने अनुकम्पाका शास्त्रविरुद्ध सावद्य और निरवद्य दो भेद बताया और इसके लिये अनुकम्पाधिकार नामक तीसरा प्रकरण लिखा। भगवान् महावीर स्वामीने गोशालकके ऊपर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाये थे और जगत्में अनुकम्पा करनेका एक पवित्र आदर्श रक्खा था इस कार्य्यसे अनुकम्पाका समर्थन होता देख कर जीतमलजीने भगवान् महावीर स्वामीपर चूकने का कलङ्क लगानेके लिये [illegible] और गुण वर्णन आदि प्रकरण लिखे और इन प्रकरणोंमें शास्त्रके [illegible] अन्यथा करके तथा कथंचित् भगवान् महावीर स्वामीके चूकनेका साधन किया। [illegible] अनर्थ इन लोगोंको दया दानमें पाप स्थापन करनेके लिये करना पड़ा है।

[illegible] विरुद्ध सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये इस सद्धर्ममण्डन [illegible] रचना हुई है अत इस ग्रन्थके प्रकरणोंका दूसरा नाम न रखकर भ्रम

अनुक्रमणिका।

मिथ्यात्वि क्रियाधिकार।

बोल ९ वा पृष्ठ २२ से २३ तक

अकाम ब्रह्मचर्य्य पालन करने चौसठ हजार वर्षका आयुर देवता होने वाली अज्ञानी मिथ्यादृष्टि स्त्री वीतरागकी आज्ञाकी आराधिका नहीं है।

बोल दशवा पृष्ठ २३ से २५ तक

अन्न जल आदिका नियम रख कर चौरासी हजार वर्षकी आयुर देवता होने वाले अज्ञानी तापस मोक्ष मार्गके आराधक नहीं हैं।

बोल ११ वा पृष्ठ २५ से २६ तक

कन्द मूल फलादिका आहार करने वाले पञ्चाग्नि सवी अज्ञानी तापस जो एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयुर देवता होते हैं वे परलोकके आराधक नहीं हैं।

बोल १२ वा पृष्ठ २६ से २७ तक

संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें नहीं है।

बोल १३ वा पृष्ठ २७ से २९ तक

भगवती शतक ८ उद्देशा १० का चतुर्भंगीके प्रथम भङ्गका स्वामी देशाराधक पुरुष पापसे सर्वथा दूर हुआ चारित्री है और उक्त सूत्रोक्त मोक्ष मार्गका अनाराधक पुरुष पापसे सर्वथा नहीं दूर हुआ मिथ्यादृष्टि है अत एव दोनों भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। अकाम निर्जराको करनी मोक्षमार्गमें नहीं है इसलिये उवाई सूत्रमें अकाम निर्जराकी करनी करने वालेको परलोकका अनाराधक कहा है।

बोल १४ वा पृष्ठ ३० से ३२ तक

तामली तापस और पूरण तापस सम्यक्त्व प्राप्त करनेके पहले शास्त्रमें मोक्ष मार्गके आराधक नहीं कह गये हैं। दूसरी जगह कुद जीतमलजीने अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आराधन न होना बतलाया है।

बोल १५ वा पृष्ठ ३२ से ३४ तक

सुदत्त अनगारको भिक्षा देते समय सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था मिथ्या दृष्टि नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक नाश हुए बिना समार परित्त नहीं होता और सम्यक्त्व पाये बिना अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका नाश नहीं होता।

बोल १६ वा पृष्ठ ३४ से ३६ तक

मेघकुमारका जीव हाथीके भवमें दयादानादि प्राणियोकी रक्षा करते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं।

बोल १७ वा पृष्ठ ३६ से ३७ तक

दौलतरामजी और हस्तपति रायजी की प्रश्नावलीमें हाथी तथा सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि नहीं माना है।

बोल २६ वा पृष्ठ ५१ से ५६ तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) की नमोकारादि रूप पारलौकिक क्रियाएं संसारके ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टिकी वे ही क्रियाएं मोक्षके हेतु हैं। सुयगडांग श्रुत० १ अ० ८ गाथा २३। ४

बोल सत्ताईसवां पृष्ठ ५६ से ६० तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) के धर्मध्यानादिका भी कारण विपर्यय, स्वरूप विपर्यय और स्वरूप विपर्ययके कारण अज्ञान है। कर्म विशुद्धिकी अपेक्षासे जीवोंको लेकर चौदह गुण स्थान कहे गये हैं सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। (समवायांग सूत्र)

बोल २८ वां पृष्ठ ६० से ६३ तक

अशोक वृक्षादि विभूति, ज्ञान, सम्यक्त्व प्राप्तिका साक्षात् कारण होने पर भी जब वीतरागकी आज्ञामें नहीं है तब उससे प्रकृति भद्रता आदि गुण, जो कि सम्यक्त्व प्राप्तिके परम्परा कारण हैं वे आज्ञामें कैसे हो सकते हैं।

बोल २९ वां ६३ से ६४ तक

भगवती शतक ११ उद्देशा १ के मूलपाठमें वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा का नाम 'ईहा' है। उस चेष्टाके बाधक कारणोंको हटा देना "अपोह" है। सजातीय और विजातीय धर्मकी आलोचना करनेका नाम क्रमशः मार्गण और गवेषण है अतः मार्गण शब्दका जिनभाषित धर्मकी आलोचना और गवेषण शब्दका अधिक धर्मकी आलोचना अर्थ करना अज्ञान है।

बोल ३० वा पृष्ठ ६४ से ६७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१ ३२ में विशिष्ट शुक्ल लेश्याका लक्षण कहा है सामान्य शुक्ललेश्याका नहीं। जो ध्यान, श्रुत और चारित्र धर्मके साथ होता है वही धर्मध्यान है।

बोल ३१ वा पृष्ठ ६७ से ६९ तक

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी उपमा क्रमशः सुगन्ध और दुर्गन्ध धर्मकी नन्दी सूत्रकी टीकामें दी है ब्राह्मण और भंगीके बर्तनकी नहीं।

बोल ३२ वा पृष्ठ ६९ से ७० तक

असाधुको साधु समझ कर उसके निकट शील तप और सुपात्र दानकी आज्ञा मांगने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है।

बोल ३३ वां पृष्ठ ७० से ७१ तक

सूर्याभ देव के अभियोगिया देवताके मिथ्यादृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है।

बोल तीसरा पृष्ठ ९७ से १०० तक

आनन्द श्रावकने सदा ही अभिग्रह धारी बारह व्रतधारी श्रावक राजा प्रदेशीने दानशाला खोल कर हीन दीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान दिया था।

बोल चौथा १०० से १०१ तक

रायप्रश्नीय सूत्रमें राजा प्रदेशी को दान देता हुआ बिचरना लिखा है दान देने से न्यारा होकर नहीं।

बोल पांचवां १०१ से १०६ तक

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें मिथ्या धर्मका समर्थन करने वाले तथा मिथ्यादर्शनानुसारी वेश धारण करने वाले असयतिको गुरु बुद्धिसे दान देनेसे एकान्त पाप कहा है अनुकम्पा दान देनेसे नहीं।

बोल छट्ठा पृष्ठ १०६ से १०९ तक

आर्द्रकुमार मुनिने दया धर्मके निंदक और हिंसा धर्मके समर्थक बैडाल व्रतिक नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणको गुरु बुद्धिसे भोजन देनेसे नरक जाना कहा है और मनुस्मृति में भी यही बात कही है, अनुकम्पा दानका खण्डन नहीं किया है।

बोल सातवां पृष्ठ १०९ से ११० तक

भृगु पुरोहितके पुत्रने अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप नहीं कहा है किन्तु जो लोग यज्ञयागादि करने और ब्राह्मणभोजन करनेसे ही दुर्गतिका रुकना मानते और प्रव्रज्या ग्रहण करनेको व्यर्थ कहते हैं उनके मन्तव्यको मिथ्या कहा है।

बोल ८ वां पृष्ठ ११० से ११२ तक

सुयगडाङ्ग सूत्र श्रुतस्कन्ध २ अ० ५ गाथा ३३ में भाषा सुमतिका उपदेश दिया है अनुकम्पा दानका खण्डन नहीं किया है। उस गाथामें वर्तमान कालका नाम भी नहीं है।

बोल ९ वां पृष्ठ ११२ से ११३ तक

नन्दन मणिहार अनुकम्पा दान देनेसे मेंढक नहीं हुआ किन्तु नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेसे हुआ। ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३।

बोल १० पृ० ११४ से ११९ तक

धर्मदानको छोड़ कर बाकीके नौ दान एकान्त अधर्मदान नहीं हैं [illegible]

[illegible]

बोल ११ पृ० ११९ से ११[illegible] तक

[illegible]

बोल १२ वां पृष्ठ १२० से १२४ तक

ग्राम धर्मादि लौकिक धर्म और ममस्थविरादि लौकिक स्थविर ग्राम आदिके चोरी जारी आदि बुराइया दूर करते हैं इसलिये उन्हें एकान्त पापमें बताना मूर्खोंका कार्य्य है।

बोल १३ वा पृष्ठ १२४ स १२७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौ म कहे हुए नवविध पुण्य केवल साधुको ही दान देनेसे नहीं किन्तु उनसे इतरको दान देनेसे भी होते हैं।

बोल चौदहवा १२७ से १३० तक

भीषणजीने जन्मसे पहलेके बने टव्वा अर्थमें लिखा है कि "पात्रने विषे अन्नादिक दीजे तेहथकी तीर्थकर नामादिक पुण्य प्रकृतिनो बंध तेहथकी अनेराने देवु ते अनेरी पुण्य प्रकृतिनो बन्ध। तीर्थकर नामकी पुण्य प्रकृति ४२ पुण्य प्रकृतियोंके आदिमें नहीं अपितु अन्तमें है अतः तीर्थकरादि कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण नहीं हो सकता।

बोल १५ पृष्ठ १३० से १३१ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौके मूलपाठमे न कहे जाने पर भी जैसे साधुको पडिहारी पुर फलगादि आदिके दानसे पुण्य ही होता है उसी तरह साधुसे इतरको धर्मानुकूल वस्तु देनेसे पुण्य ही होता है एकान्त पाप नहीं।

बोल १६ वा पृ० १३१ से १३३ तक

साधुसे इतर सभी जीवको कुपात्र कायम करके उनको दान देनेसे मास भक्षण व्यसन कुशील दि सेवनकी तरह एकान्त पाप कहना अज्ञान है। साधुसे इतर होने पर भी श्रावकका तीर्थमें गिना गया है और उसे गुण रत्नका पात्र कहा गया है। कुपात्र नहीं कहा।

बोल १७ वां पृष्ठ १३३ स १३५ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ४ की चौभंगीमें साधुसे इतरको दान देने वाला अहेत्र नहीं कहा है अपितु जो प्रवचन प्रभावनाके लिये सबको दान देता है उसकी टीकाकारने प्रशंसा की है क्योंकि प्रवचन प्रभावनाके लिए दान देनेसे ज्ञाता सूत्रमें तीर्थकर गोत्र बन्धना कहा है।

बोल १८ वा १३६ स १३८ तक

सूयगडाङ्ग सूत्र आद्रकुमार गोशालकको दान देनेसे धर्म तपका निषेध किया है पुण्य का निषेध नहीं किया है तथा निर्जरा के साथ ही पुण्य बन्ध होनेका कोई नियम भी नहीं है।

बोल १९ वां पृष्ठ १३८ से १४० तक

घोर मार हिंसा आदि महारम्भी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदि महारम्भका कार्य करनेके लिये दान देनेसे एगाल्योड़के दुःख भोगनेका प्रश्न विपाक सूत्रमें किया गया है अनुकम्पा दानसे नहीं।

बोल २० वां पृष्ठ १४० से १४२ तक

क्रोधी, मानी, मायी और हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके सेवी ब्राह्मणको उत्तराध्ययनके अध्याय १२ गाथा २४ में पापकारी क्षेत्र कहा है सभी ब्राह्मणको नहीं।

बोल २१ वां पृ० १४२ से १४६ तक

व्यभिचारिणी स्त्रीको रख कर भाड़े पर उससे व्यभिचार कराना पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन करना है हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देना अथवा साधुसे इतरको पोषण करना नहीं।

बोल २२ वां पृ० १४६ से १४८ तक

किसी भी अभिप्रायसे अपने आश्रित प्राणीका वध, बन्धन छविच्छेद और अति भार आदि डालनेसे अतिचार होता है प्राणवियोग करनेके अभिप्रायसे ही नहीं क्योंकि वह अनाचार है।

बोल २३ वां पृष्ठ १४९ से १५१ तक

भिक्षुओंका सर्वत्र ठोक प्रवेश करनेके लिये तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके दरवाजे खुले रहते थे।

बोल २४ वां पृष्ठ १५१ से १६० तक

श्रावकको अप्रत्याख्यान (अव्रत) की क्रिया नहीं लगती।

बोल २५ वां पृष्ठ १६१ से १६२ तक

जैसे मिथ्यादर्शन के अंशके नहीं हटने पर भी श्रावकको मिथ्यात्वकी क्रिया नहीं लगती उसी तरह अप्रत्याख्यानके अंशके नहीं हटने पर भी श्रावकको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती है।

बोल २६ वां पृष्ठ १६३ से १६५ तक

भगवती शतक ३ उद्देशा १ में श्रावकके हित, सुख, पथ्य और अनुकम्पाकी इच्छा करनेसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भव सिद्धिसे लेकर यावत् चरम होना कहा है। उववाई सूत्रमें श्रावकको धार्मिक, धर्मानुग, धर्मेष्ट, धर्माख्यायी धर्म प्ररंजन आदि कहा है।

बोल २७ वां पृष्ठ १६६ से १६७ तक

जिसमें भाव शस्त्र मौजूद है वह यदि कुपात्र है तो फिर पट्ट गुण स्थान वाले

प्रमादी साधु भी कुपात्र हो रहेंगे। राजप्रश्नीय सूत्रम म धुर समान श्रावकम भी अर्थ धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे दिव्य ऋद्धिकी प्राप्ति कही गई है।

बोल २८ वा १६८ स १६१ तक

श्रावक अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रहम इतना होने में प्रत्याख्यान और व्रत से नहीं।

बोल २९ वा १७१ स १७३ तक

सुयगडाग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर गृहस्थर दानको ससार भ्रमणका हेतु बताना मूर्खता है।

बोल ३० पृष्ठ १७३ से १७९ तक

साधु यदि उत्सर्ग मार्गमें गृहस्थको अन्नादि दान देवे तो निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८।७९ में प्रायश्चित्त होना कहा है परन्तु हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त नहीं कहा है तथा उस गृहस्थके अनुकम्पा का अनुमोदन करने वाले साधुको भी प्रायश्चित्त नही कहा है।

अपवाद मार्गम अन्य यूथिक और गृहस्थको शामिलम मिली हुई भिक्षाको बाट कर साधु भी देते हैं।

बोल ३१ वा १७९ से १८२ तक

अपनी निरवद्य भिक्षा वृत्ति कायम रखनके लिये तथा ज्ञान दर्शन और चारित्रमें शिथिलता न आने देनेके लिये उत्सर्ग मार्गम साधु गृहस्थको दान नहीं देते एकान्त पाप जान कर।

बोल ३२ वा पृष्ठ १८२ से १८३ तक

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देनके लिये जो अन्न बनाया जाता है उसे दस वैकालिक सूत्रम पुण्यार्थ प्रकृत कहा है पापार्थ प्रकृत नहीं कहा और जिसके घरमें उक्त अन्न बनाया जाता है उसे शिष्ट कहा है।

बोल ३३ वा १८३ स १८४ तक

भगवती शतक २ उद्देशा ५ मे साधुकी तरह श्रावककी सेवा करनेका भी शास्त्र श्रवणम लेकर मोक्ष तक फल मिलना कहा है।

बोल ३४ पृष्ठ १८५ स १८७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अट्ठाईसवें अध्ययनम सधर्मी भाईको मातपानी आदिक द्वारा उचित सत्कार करना समकितका आचार कहा है। व्यवहार सूत्रके दूसरे उद्देशेके मध्य में प्रकारसे इस भावका स धर्मी साधु और श्रावक होना कह गये हैं।

बोल ३५ वां पृष्ठ १८७ से १८८ तक

भगवती शतक ९ उद्देशा १ में अपने सहधर्मी भाईको भोजन कराना पोषह धर्मकी पुष्टिमें माना है।

बोल ३६ वां पृष्ठ १८८ से १९० तक

ग्यारह प्रतिमाओंका विषय तर्कोंने किया है।

बोल ३७ वां पृष्ठ १९० से १९३ तक

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक दश विध यति धर्मका अनुष्ठान करने वाला बड़ा ही पवित्रात्मा सुपात्र होता है इसे कुपात्र कहना वाले अज्ञानी हैं।

बोल ३८ वां पृष्ठ १९३ से १९४ तक

अम्बड़ संन्यासी और वरुण नागनतुआ पाठमें आये हुए कल्पका दृष्टान्त देकर ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके कल्पको तीर्थंकरकी आज्ञासे बाहर कहना अज्ञान है।

बोल ३९ वां पृष्ठ १९४ से १९७ तक

सामायक और पोषाके समय श्रावक, पूंजनी आदि उपकरण जीवदयाके लिये रखता है अपने शरीर रक्षाके लिये नहीं अतः श्रावकका पूंजनी आदि उपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना मूर्खता है।

बोल ४० वां पृष्ठ १९७ से १९९ तक

अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्यञ्च श्रावक कई प्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे बारह व्रतधारी माने जाते हैं। मनुष्य श्रावककी तरह सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे नहीं।

बोल ४१ वां पृष्ठ १९९ से २०३ तक

श्रावक दश संयम पालनार्थ जो मन, वचन, काय और उपकरणोंका व्यापार करता है वह सुप्रणिधान है दुष्प्रणिधान नहीं।

इति दानाधिकार।

अथ अनुकम्पाधिकार।

बोल १ पृष्ठ २०४ से २०७ तक

मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा और मारने वालेकी हिंसा छोड़ानेके लिये साधु धर्मोपदेश करता है परन्तु हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये ही नहीं।

बोल दूसरा पृष्ठ २०७ से पृष्ठ २०९ तक

राज प्रदेशीय सूत्रमें चित्त प्रधानने द्विपद, चतुष्पद, मृग पशु पक्षी और सरीसृपकी प्राणरक्षाके लिये केशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की थी।

बोल तीसरा २०९ से २११ तक

दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना भी अभय दान है केवल अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं। अरिदमन राजाकी चौथी रानीने चोरको सूलीसे बचाया था और उसे टीकाकारने अभय दान कहा है।

बोल चौथा पृष्ठ २११ से २१६ तक

आर्यक्षेत्रके जीवोंका उपकार और अपने कर्मो का क्षपण करनेके लिये भगवान् महावीर स्वामी धर्मोपदेश करते थे। जीवोंकी प्राण रक्षा करना उनका प्रधान उपकार है।

सुय० श्रु० ५ अ० ६ गाथा १७-१८

भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावरके क्षेम करने वाले थे क्षेम नाम रक्षा, और शान्ति का है। सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४

बोल ५ वा २१६ से २१८ तक

साधु असंयति जीवकी प्राण रक्षा उनसे असंयम सेवन करानेके लिये नहीं करते किन्तु उनका आर्तरौद्र ध्यान मिटाने और हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये करते हैं।

बोल छट्ठा पृ० २१८ से २२१ तक

भगवान् नेमिनाथजी, विवाहमें मारनेके लिये रोके हुए प्राणियोंको छुड़ा कर लौट गये थे।

बोल सातवां पृष्ठ २१८ से २२१ तक

हाथीने शशकादि प्राणियोंकी प्राणरक्षा करके संसार परिमित किया था।

बोल आठवां पृष्ठ २२३ से २२५ तक

सुयगडांग सूत्रकी 'वज्झापाणा न वज्झेति" इत्यादि गाथामें वध दण्ड देने योग्य अपराधियोंको निरपराधी कहनेका निषेध है किसी प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये सत्य भाषण करनेका निषेध नहीं है।

बोल नवां पृष्ठ २२५ से २२७ तक

आचारांग सूत्र श्रु० २ अध्याय १ उद्देशा १ में मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके [illegible] निवास सूत्र मध्य नहीं कहना वर्णित नहीं किया है किन्तु कथा [illegible] मन हरनेकी भावनासे वर्णन किया है।

बोल दसवां पृष्ठ २२७ से २२९ तक

आचारांग सूत्र श्रु० [illegible] अ० [illegible] उ० ३ में अपने स्वार्थके लिये गृहस्थ द्वारा अग्नि [illegible] की भावना करना साधुके लिये वर्जित की है कीड़ी आदि जीवों [illegible] वर्जित नहीं किया है

बोल ११ वां पृष्ठ २२९ से २३१ तक

उत्तराध्ययन सूत्रके २६ वें अध्ययनमें अपनी प्राण रक्षाके लिये साधुको आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है। भगवती शतक १ उद्देशा ९ में साधुको पृथिवी काय आदिक जीवोंकी रक्षा करनेके लिये प्रासुक और एषणिक आहार देना लिखा है।

बोल १२ वां पृष्ठ २३१ से २३३ तक

स्थावर जंगम जन्तुओंको दण्ड देकर असंयमके साथ जीने या चिर काल तक जीनेकी इच्छा साधुके लिये वर्जित की गई है। प्राणियोंकी रक्षाके साथ और यथा प्राप्त आयु तक जीनेकी इच्छा करना वर्जित नहीं है।

सुय० अ० १ गाथा २४

बोल १३ वां पृष्ठ २३३ से २३६ तक

सुयगडाङ्ग श्रु० १ अध्याय १५ सुयगडाग श्रु० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३ सुयगडांग श्रु० १ अध्याय १० गाथा ३ सुय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ में हिंसकके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राण रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १४ वां पृष्ठ २३६ से २३७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र ४ गाथा ७ में गुणका उपार्जनके निमित्त साधुको जीवित रहना कहा है। प्राणियोंकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना गुणका उपार्जन करना है इस लिये जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप बतलाना अज्ञान है।

बोल १५ पृष्ठ २३८ से २३८ तक

सुय० श्रु० १ अ० ३ गाथा १ में संयम प्रधान जीवनको दुर्लभ कहा है। जीव रक्षाके लिये जीवन व्यतीत करना संयम जीवन है।

बोल १६ वां पृष्ठ २३९ से २४० तक

नमिराज ऋषिसे इन्द्रने जीव रक्षा करनेमें पाप या पुण्यका होना नहीं पूछा था किन्तु सांसारिक पदार्थोंमें उनकी ममता होने व न होनेकी परीक्षा की थी। नमिराज ऋषि प्रत्येक बुद्ध साधु थे स्थविर कल्पी नहीं उनका उदाहरण स्थविर कल्पियोंके लिये देना अज्ञान है।

बोल १७ वां पृष्ठ २४० से २४२ तक

दश वैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५० में देवता मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें परस्पर युद्ध होने पर एककी हार और दूसरेकी जीत कहना साधुके लिये वर्जित है परन्तु उपदेश देकर युद्ध शान्त कर देना या मरते जीवकी रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १८ वा पृष्ठ २४२ से २४४ तक

दशवैकालिक अध्ययन ७ गाथा ५१ मे वायु आदि सात बातोंके होने वा न होनेकी प्रार्थना करना साधुको अपने स्वार्थके लिये वर्जित की गई है क्योंकि इसमें प्राणियोंका अनिष्ट भी होता है।

बोल १९ वा पृष्ठ २४५ से २४७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा चारकी चौभंगीमें जो अपनी ही रक्षा करता है दूसरेकी नहीं करता उसे प्रत्येक बुद्ध, जिनकल्पी और निर्दय कहा है। स्थविर कल्पीको अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करने वाला बताया है।

बोल २० वा पृष्ठ २४७ से पृष्ठ २५० तक

जैसे अपना जेवर उतार कर साधुको दान करने वाली स्त्री धार्मिक है उसी तरह जेवर उतार कर मरते जीवकी रक्षा करने वाली स्त्री भी धार्मिक है।

बोल २१ वा पृष्ठ २५० से २५२ तक

अन्य यूथिक और गृहस्थ रास्तामें कदाचित् किसी पशुका घात कर अथवा वे चोर आदिसे लूट लिये जाय इस लिये साधु मार्ग नहीं बताते, अनुकम्पाको सावद्य जान कर नहीं।

बोल २२ वा पृष्ठ २५२ से २५४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४ में जीव रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है परन्तु अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग करने वालेको धर्मोपदेश देकर समझाना या उसकी उपेक्षा करना अथवा वहांसे अन्यत्र चला जाना कहा है।

बोल २३ वा पृष्ठ २५४ से २५५ तक

अपने स्वार्थके लिये किसी जीवको सतानेके भावसे भय देना निशीथ सूत्रमें वर्जित किया है, आत्म रक्षा या पर रक्षा के लिये नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना वर्जित नहीं है।

बोल २४ वा पृष्ठ २५५ से २५७ तक

निशीथ सूत्रमें भूति कर्म करने तथा मन्त्र आदि करनेका निषेध है अपनी कल्प मर्यादाके अनुसार मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करने का निषेध नहीं है।

बोल २५ वा पृष्ठ २५७ से २६१ तक

अपराधी प्राणीको मारनेके लिये शाप देकर दौड़नेसे दुःखी विपक्षा प्रश्न और देकर जो हुआ था मारनेकी रक्षाके भाव आनेसे नहीं।

बोल ३५ वा पृष्ठ २८२ से २८४ तक

मुनिका व्यावच दूसरा है और व्यावचके लिये की जाने वाली क्रिया दूसरी है इसलिये पानीसे किया हुआ हरिकेशी मुनिका व्यावच सावद्य नहीं है।

बोल ३६ वा पृष्ठ २८४ से २८५ तक

शीतललेश्या प्रकट करके भगवान्ने गोशालक की प्राणरक्षा की थी इस अनुकम्पाको सावद्य कहना अज्ञान है। शीतल लेश्यासे जीवविराधना नहीं किन्तु जीव रक्षा होती है।

बोल ३७ वा पृष्ठ २८५ से २९० तक

चिल्लनाका पुत्र राजा कौणिकने भगवान् महावीर स्वामीके वंदनार्थ जाने के लिये चतुरङ्गिणी सेना सजाई थी परन्तु सेना सजाने रूप कार्य्यसे [illegible] जैसे भगवान का वंदन सावद्य नहीं हुआ उसी तरह ईंट उठानेसे बुड्ढे पर कृष्णजी की अनुकम्पा सावद्य नहीं हुई।

अथ लब्ध्यधिकारः।

बोल १ वां पृष्ठ २९१ से २९२ तक

शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात नहीं होता इसलिये उसमें [illegible] और [illegible] दोष [illegible] नहीं लगती।

बोल दूसरा पृष्ठ २९२ से २९३ तक

जैसे क्रोधी पुरुष कुपित होकर किसीको जलानेके लिये जो उष्ण तेजो लेश्या का प्रयोग करता है उसीमें तेजका समुद्घात होना कहा है [illegible] प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये शीतल लेश्या का प्रयोग करनेमें नहीं।

बोल तीसरा २९३ से २९६ तक

[illegible], [illegible], आहारक, [illegible], और [illegible] वे [illegible] भाव मानते नहीं।

बोल चौथा पृष्ठ २९६ से [illegible] तक

[illegible] के प्रति [illegible] शीतल लेश्या है।

बोल [illegible] पृष्ठ [illegible] तक

[illegible]

बोल छट्ठा पृष्ठ २९९ से ३०१ तक

रक्षामें राग करना, सावद्य नहीं है जैसे धर्ममें धर्माचार्य्यमें राग करना सावद्य नहीं है ।

बोल सातवां पृष्ठ ३०१ से ३०२ तक

भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठ में उष्ण तेजो लेश्याके पुद्गल को अचित्त कहा है इस लिये शीतल लेश्या के द्वारा उस को शान्त करने में आरम्भ दोष नहीं लगता ।

बोल आठवां पृष्ठ ३०२ से ३०३ तक

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामें जङ्घा चारण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना कहा है शीतल लेश्या का प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना नहीं कहा है ।

बोल नवा पृष्ठ ३०३ से ३०४ तक

लब्धिका प्रयोग न करके किसी दूसरे उपायसे भी भगवान् यदि गोशालक की प्राणरक्षा करते तो भी जीतमलजीके मतमें पाप ही होता अतः इनका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है ।

इति लब्ध्यधिकार ।

अथ प्रायश्चित्ताधिकार. ।

बोल १ पृष्ठ ३ ५ से ३०६ तक

शीतल लेश्याका प्रयोग करके मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है तथा इस के लिये कहीं प्रायश्चित्तका भी विधान नहीं है अतः सोहो अनगार, अतिमुक्त रहनेमि आदि की तरह भगवान् के प्रायश्चित्त करने की कल्पना करना अज्ञान है ।

बोल दूसरा ३०६ से पृष्ठ ३०८ तक

भगवान् महावीर स्वामी उत्त श्रेणिके कषाय कुशील थे अतः भ्रमविध्वंसनकारके कथनानुसार भी वह दोषप्रतिसेवी नहीं हो सकते ।

बोल तीसरा पृष्ठ ३०८ से ३०९ तक

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ।

बोल चौथा पृष्ठ ३०९ से ३१० तक

आचाराङ्ग सूत्रकी "जयाणस" और "अकसाइ" इत्यादि गाथाओं में भगवान् का केवल गुण वर्णन मात्र नहीं किंतु उनके दोषोंका निषेध भी है ।

बोल तेरहवां पृष्ठ ३२३ से ३२४ तक

केवलीकी नाई छद्मस्थ भी चार भी आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस लिये सूत्र व्यवहारोंके कल्पका नाम लेकर उनमें दोषका स्थापन नहीं किया जा सकता।

बोल चौदहवां पृ० ३२४ से ३२५ तक

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलको कल्पातीत भी कहा है।

बोल पन्द्रहवां पृ० ३२५ से ३२७ तक

भगवती ठाणाङ्ग और व्यवहार सूत्रमें व्यवहारके ५ भेद कहे हैं उनमें पूर्व पूर्वके होने पर उत्तरोत्तर व्यवस्था नहीं दी जाती यह भी कहा है।

बोल सोलहवां पृ० ३२७ से ३२९ तक

भगवती शतक १५ की टीकामें लिखा है कि भगवान्‌से गोशालकका स्वीकार करना अवश्यम्भावी भाव था इस लिये भगवान्ने गोशालकको स्वीकार किया था।

बोल १७ वां ३२९ से ३२९ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौ के अर्थमें लिखी हुई गाथा किसी मूलपाठ या प्रामाणिक टीकामें नहीं मिलती और उसमें शिष्यवर्गको दीक्षा देनेका निषेध है एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है।

बोल १८ वां ३३० से ३३१ तक

सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुन कर जम्बू स्वामीसे कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीको छद्मस्थ दशामें किंचिन्मात्र भी पाप नहीं लगा था।

बोल १९ वां ३३१ से ३३१ तक

भगवान् महावीर स्वामीको दश स्वप्न आये थे उस समय उनको अन्तर्मुहूर्त तक द्रव्य निद्रा आई थी। विधिपूर्वक द्रव्य निद्रा लेना प्रमादका सेवन नहीं है।

इति प्रायश्चित्ताधिकार।

अथ लेश्याधिकार।

बोल १ पृ० ३३२ से ३३५ तक

संयतियोंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएं नहीं होतीं।

बोल दूसरा पृ० ३३५ से ३४७ तक

भगवती शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके साधुओंका निषेध है।

बोल ३ रा पृ० ३३७ से ३३९ तक।

तेज पद्म लेश्यामें जो मार्गणाका सद्भाव मानते हैं उनके मतसे अष्टम, नवम और दशम गुण स्थान वाले साधुओंमें भी तेज पद्म लेश्या होनी चाहिये।

बोल चौथा पृ० ३३९ से ३४१ तक

पन्नावणा सूत्र १७ के मूलपाठमें भगवती सूत्रकी तरह साधुओंमें भाव कृष्ण लेश्याका निषेध किया है परन्तु सद्भाव नहीं बताया है।

बोल पांचवां ३४१ से ३४२ तक

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलमें छ: द्रव्य लेश्या कही है भाव लेश्या नहीं।

बोल छट्ठा पृ० ३४२ से ३४५ तक

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में कषाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है।

बोल सातवां पृ० ३४३ से ३४५ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१।३२ में अजितेन्द्रियता और चोरी आदिमें प्रवृत्त रहना कृष्ण लेश्याका लक्षण कहा है परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं इस लिये उनमें कृष्ण लेश्याके लक्षण नहीं हैं।

बोल आठवां पृ० ३४५ से ३४७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१।३२ में बताये हुए कृष्ण लेश्याके लक्षण सामान्य साधुमें भी नहीं पाये जाते फिर भगवान् महावीर स्वामी में उनके होनेके विषय में कहना ही क्या है।

बोल नवां पृ० ३४८ से ३४९ तक

पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं परन्तु उनमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही होती हैं इस लिये अप्रशस्त भाव लेश्याके बिना दोषका प्रतिसेवन नहीं होता यह कहना भी अज्ञान है।

बोल दसवां पृ० ३५० से ३५१ तक

यदि विराधक होनेसे कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निर्ग्रन्थको भी दोषका प्रतिसेवी कहना चाहिये क्योंकि भगवती शतक २५ उद्देशा ६के मूलपाठमें कषाय कुशीलकी तरह निर्ग्रन्थ भी विराधक कहा गया है।

बोल ११ वां पृष्ठ ३५१ से ३५३ तक

शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्राम होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये साधु प्रतिक्रमण करता है परन्तु चार ध्यानोंके साधुओंमें होनेसे नहीं।

बोल १२ वा पृ० ३५३ से ३५४ तक

प नावणा सूत्रकी मलयगिरि टीकाम मन पर्य्यायज्ञानियोमें कृष्ण लेश्या बताई गई है परन्तु वह टीका भगवती सूत्रकी टीकामे विरुद्ध होनेस अप्रामाणिक है।

बोल १३ वा पृ० ३५४ से ३५८ तक

संयादिकी रक्षा करनेके लिये वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करने वाले साधुको शास्त्र कारने भवितात्मा अनगार कहा है। पद्विर लेश्याओंका स्वरूप समझानेके लिये आव श्यक सूत्रकी टीकामे जामुनके फल खानेकी इच्छा करने वाले छ पुरुषोंका उदाहरण दिया है।

इति लेश्या प्रकरणम्।

अथ वैयावृत्याधिकार ।

बोल १ पृष्ठ ३५९ से ३६० तक

जैसे वन्दनाथ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्घात व दनरा भिन्न है उसी तरह हरि केशी मुनिका व्यावच्चके लिये यक्षसे किया जाने वाला ब्राह्मण कुमारोंका ताड़न मुनि क व्यावचसे भिन्न है।

बोल दूसरा पृष्ठ ३६० से ३६१ तक

सूर्य्याभने नाटकको भक्ति स्वरूप नहीं कहा है इस लिये नाटकको भक्ति मानकर उस सावद्य बताना अज्ञान है।

बोल तीसरा पृष्ठ ३६१ से ३६२ तक

गुरु आदिके चित्तमें शान्ति उत्पन्न करनेस ज्ञाता सूत्रमें तीर्थंकर गोत्र बन्धना कहा है। गुरु केवल साधु ही नहीं होते माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि भी होते हैं।

बोल चौथा पृष्ठ ३६२ से ३६५ तक

सुय० श्रु० १ अ० ३ उ० ४ गाथा ६।७ में जो लोग विषय सुख भोगनेसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं उनके सिद्धान्तका खण्डन है परन्तु साधुसे इतर प्राणीको साता देनेसे धर्म पुण्य होनेका निषेध नहीं है।

बोल पांचवा पृष्ठ ३६६ से ३६८ तक

गृहस्थसे साता पूछना तथा उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार है गृहस्थके लिये नहीं।

बोल छट्ठा पृष्ठ ३६८ से ३७१ तक

ठाणाङ्ग सूत्रमें दशविध व्यावच कहे गये हैं उनमें सार्धर्मिक व्यावच भी सम्मिलित हैं। प्रवचन द्वारा श्रावक भी श्रावकका सार्धर्मिक होता है अतः उसका व्यावच भी सार्धर्मिकके लिये निर्जराका हेतु है।

बोल सातवां पृष्ठ ३७१ से ३७२ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ५ उद्देशा २ में श्रावकोंका गुण बोलनेसे सुलभ बोधी और अवगुण बोलनेसे दुर्लभ बोधी होना कहा है अतः श्रावकको अन्नदानादि द्वारा धार्मिक सहायता करनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञान है।

बोल आठवां पृष्ठ ३७२ से ३७२ तक

श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख और पथ्य आदि की इच्छा करनेसे सनत्कुमार देवे द्र भवसिद्धिमें लेकर यावत् चरम हो गये हैं। भगवती शतक ३ उ० १

बोल नवां पृष्ठ ३७३ से ३७६ तक

साधु या साध्वीको रातमें या विकालके समय मार्गमें चलनेपर कमजोर गृहस्थ स्त्री और पुरुषके द्वारा झाड़ा दिखाना वृहत्कल्प सूत्रमें लिखा है। आचाराङ्ग सूत्रमें कहा है कि गड्ढे आदिमें गिरनेकी सम्भावना होनेपर गृहस्थका हाथ पकड़ कर साधु मार्गको पार कर सकता है।

बोल दशवां पृष्ठ ३७६ से ३७९ तक

साधुकी गलेकी फांसी काटने तथा आगमें जलते हुए साधुको बाहर निकालनेमें एकान्त पाप कहने वाले निर्दय और शास्त्र विरोधी हैं।

बोल ११ वां पृष्ठ ३७९ से ३८१ तक

साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्शको धर्म बुद्धिसे काटने वाले गृहस्थको पुण्य बन्धकी क्रिया लगती है और लोभसे काटने वालेको पाप लगता है।

बोल १२ वां ३८१ से ३८२ तक

साधुको गृहस्थके द्वारा अपने फोड़े आदिके छेदन करानेकी इच्छा करना बुरा है परन्तु गृहस्थको धर्मबुद्धिसे साधुके फोड़े आदिका छेदन करना पापका कारण नहीं है।

इति वैयावृत्य प्रकरणम्।

अथ विनयाधिकार ।

बोल १ पृष्ठ ३८३ से ३८५ तक

सम्यग्दृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले सम्यग्दृष्टिकी और श्रावक अपनेसे श्रेष्ठ श्रावककी तथा ये सभी लोग सम्यग्दृष्टि साधुकी जो सेवा शुश्रूषा करते हैं यह इनका दर्शन विनय समझना चाहिये।

बोल दूसरा पृष्ठ ३८५ से ३८६ तक

जयन्ती श्राविकाने पोखली श्रावकको और पोखलीने शङ्ख श्रावकको वन्दना नमस्कार किये थे।

बोल तीसरा पृष्ठ ३८७ से ३९१ तक

सामायकमें बैठा हुआ श्रावक सामायकमें नहीं बैठे हुए श्रावकसे श्रेष्ठ है इसलिये वह सामायकमें नहीं बैठे हुएको नमस्कार नहीं करता है।

बोल चौथा पृष्ठ ३९१ से ३९६ तक

आनन्दजी के निर्वाण सथारा पर बैठने के समय बारह व्रत ग्रहण कराने का उपकार मानकर गौतमजी को नमस्कार किया था हुआवचनिक धर्माचार्य्य मान कर नहीं।

बोल पांचवां पृष्ठ ३९५ से ३९९ तक

दिक्कुमारियों ने गर्भस्थ तीर्थङ्कर और उनकी माताको वन्दन नमस्कार किये थे।

बोल छट्ठा पृष्ठ ३९९ से ४०२ तक

जन्मके समय तीर्थङ्करको वन्दना नमस्कार धर्म जान कर इन्द्र करते हैं लौकिक रीतिके अनुसार नहीं।

बोल सातवां पृष्ठ ४०२ से ४०४ तक

भगवती शतक २ उद्देशा ५ में तथारूपके श्रमण और माहन (श्रावक) की सेवा भक्ति करनेसे धर्म श्रवणसे लेकर मोक्षपर्य्यन्त फल मिलना कहा है।

बोल आठवां पृष्ठ ४०५ से ४०६ तक

जैसे परतीर्थी धर्मोपदेशक श्रमण और माहन दो हैं उसी तरह स्वतीर्थ धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दो हैं।

बोल नवां पृष्ठ ४०६ से ४०७ तक

सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जितशत्रु राजाने बारह व्रत ग्रहण किये थे।

बोल दशवां पृष्ठ ४०७ से ४०८ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ की टीकामें श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है।

बोल ग्यारहवां पृष्ठ ४०८ से ४११ तक

भगवती शतक १५ के मूलपाठमें साधु और श्रावक दोनों ही से सीखना और दोनोंको वन्दन नमस्कार करना कहा है।

बोल १२ पृष्ठ ४१० से ४११ तक

उत्तराध्ययन सूत्र की गाथाओं में कहेहुए माहन के लक्षण श्रावकों में भी पाये जाते हैं।

इति विनयाधिकार।

अथ पुण्याधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४१२ से ४१३ तक

पुण्यानुबन्धी पुण्य आदरणीय है, मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं।

बोल दूसरा पृष्ठ ४१३ से ४१४ तक

साधन दशामें मोक्षार्थी भी पुण्य फलका आदर करते हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४१४ से ४१६ तक

मनुष्य शरीर पुण्यका फल है मोक्षार्थियोंके लिये इसकी आवश्यकता उसी तरह है जैसे नदीसे पार जाने वालेको नौका की।

बोल चौथा पृष्ठ ४१६ से ४१९ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ में कही हुई पुण्यकामना और स्वर्गकामना बुरी नहीं है किन्तु मोक्षका उपकारक है।

इति पुण्याधिकार ।

अथ आश्रवाधिकारः ।

बोल १ ४२० से ४२१ तक

पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग ये ४२ आश्रव हैं।

बोल दूसरा ४२१ से ४२५ तक

पचीस क्रियाएं अजीव की कही हैं और वे आश्रव हैं इस लिये आश्रव अजीव भी हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४२५ से ४२६ तक

पुण्य पाप और बन्ध भी व्यवहार दशा में जीव हैं इन्हें एकान्त अजीव कहना अज्ञान है।

बोल चौथा पृष्ठ ४२६ से ४२७ तक

भगवती शतक १७ उद्देशा २ में भगवान सेन्द्रिय और समोह जीव को रूपी कहा है अत जीव स्वरूप आश्रव भी रूपी सिद्ध होता है उसे एकान्त अरूपी कहना अज्ञान है।

बोल पांचवां पृष्ठ ४२७ से ४२८ तक

पाप, पुण्य, बन्ध, ये व्यवहार दशामें जीव और निश्चयनय अनुसार अजीव हैं इन्हें एकान्त जीव या एकान्त अजीव कहना मिथ्या है।

बोल छठा पृष्ठ ४२८ से ४२९ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १ के मूलपाठसे आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव सिद्ध करना एकान्त मिथ्या है।

बोल सातवा पृष्ठ ४२९ से ४३० तक

भगवती शतक १२ उद्देशा ५ के मूलपाठमें तीन दृष्टियों को अरूपी और मिथ्यादर्शनशल्य को रूपी कहा है अतः मिथ्यात्व आश्रव एकान्त अरूपी नहीं हो सकता।

बोल आठवां पृष्ठ ४३० से ४३२ तक

कृष्ण लेश्या संसारी जीव का परिणाम है। संसारी जीव भगवती शतक १७ उद्देशा २ में रूपी भी कहा है अतः कृष्णलेश्या रूपी भी सिद्ध होती है।

बोल नवां पृष्ठ ४३२ से ४३३ तक

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के होने पर जो क्रिया की जाती है वह जीव की हो या पुद्गल की हो क्रमशः सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कही जाती है।

बोल दशवां पृष्ठ ४३३ से ४३४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के पाठ की साक्षी से आश्रव को एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है।

बोल ११ वां पृष्ठ ४३४ से ४३५ तक

भगवती शतक १७ उद्देशा २ के मूल पाठ की साक्षी से आश्रव को एकान्त जीव कहना अज्ञान है।

बोल १२ वां पृष्ठ ४३५ से ४३८ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठ में रूपी अजीव भी जीव का परिणाम कहा गया है।

बोल तेरहवां पृष्ठ ४३८ से ४३९ तक

भाव गति आदिको जीवका परिणाम मान कर द्रव्य गति आदिको जीव का परिणाम न मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध है।

बोल चौदहवां पृष्ठ ४३९ से ४४० तक

दूध जलकी तरह एकाकार होकर रहनेवाले गति आदिको ठाणाङ्ग ठाणा दशमें जीवका परिणाम कहा है।

बोल १५ वां पृष्ठ ४४० से ४४१ तक

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में कषाय और योगको आत्मा कहा है। कषाय और योग रूपी हैं इस लिये संसारी आत्मा भी रूपी हैं और कषायाश्रव तथा योगाश्रव भी रूपी हैं।

बोल १६ वां पृष्ठ ४४१ से ४४१ तक

भाव कषाय और भाव योग को आत्मा मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्मा न मानना शास्त्र विरुद्ध है।

बोल १७ वा पृष्ठ ४४२ से ४४४ तक

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में आत्म मात्रका भेद कहा गया है भाव आत्मा का ही नहीं। भगवती शतक १३ उ० ७ में आत्माका शरीरके साथ कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद कहा है।

बोल १८ वा पृष्ठ ४४५ से ४४६ तक

जीवोदयनिष्पन्न भावको एकांत जीव और अजीवोदयनिष्पन्न भाव को एकान्त अजीव बताना अज्ञान है।

बोल १९ वा पृष्ठ ४४६ से ४४७ तक

भाव रूप होनेसे न कोई पदार्थ एकान्त अरूपी होता है और द्रव्य रूप होने से न एकान्त रूपी ही हो जाता है अतः भाव रूप होने से क्रोधादि को एकान्त अरूपी कहना मिथ्या है।

बोल २० वा पृष्ठ ४४७ से ४४९ तक

क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और पौद्गलिक हैं।

बोल २१ वा पृष्ठ ४४९ से ४५१ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में मन और वचनको रूपी तथा जीव से भिन्न कहा है इसलिये उनके योग भी रूपी और अजीव हैं अतः योगाश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहना अज्ञान है।

बोल २२ वा ४५१ से ४५३ तक

ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें आश्रवको जीव और अजीव दोनोंमें गतार्थ किया है।

बोल २३ वा पृष्ठ ४५३ से ४५४ तक

कर्म भी कर्मके ग्रहण करनेमें कारण होनेसे आश्रव है। वह पौद्गलिक कहा गया है इस लिये आश्रवको एकान्त अजीव मानना अज्ञान है।

इति आश्रवाधिकार।

अथ जीवाजीवादि पदार्थ विचारः।

बोल १ पृष्ठ ४५५ से ४५६ तक

जीव और अजीव आदि नौ ही पदार्थ किसी न्यायसे रूपी और किसी न्यायसे अरूपी हैं।

बोल दूसरा पृष्ठ ४५६ से ४५७ तक

मुख्य नयसे चार पदार्थ रूपी चार अरूपी और एक मिश्र है।

बोल तीसरा पृष्ठ ४४७ से ४५८ तक

शब्द आदि तीन नय वालोंके मतसे नव ही तत्व जीव हैं। किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ अजीव हैं। किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ अजीव हैं।

बोल चौथा पृष्ठ ४५८ से ४५९ तक

किसी अपेक्षासे चार जीव और पांच अजीव हैं।

बोल पांचवां पृष्ठ ४५९ से ४६० तक

एक अपेक्षासे एक जीव, एक अजीव और शेष दोनोंके पर्याय हैं।

इति नव तत्वविचार।

अथ जीवभेदाधिकार।

बोल १ पृष्ठ ४६१ से ४६३ तक

प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवका तीसरा भेद न मानना मूर्खता है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४६३ से ४६४ तक

असंज्ञीसे मर कर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको शास्त्रमें कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है अत पन्नावणा सूत्रके मनुष्य विषयक पाठका दृष्टान्त देकर उक्त जीवोंमें असंज्ञीका अपर्याप्त भेद न मानना अज्ञान है।

बोल तीसरा पृष्ठ ४६४ से ४६५ तक

छोटे बालक और बालिका मनोयुक्त होते हैं मनोविकल नहीं होते इसलिये उनका दृष्टान्त देकर असंज्ञीसे मर कर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंमें असंज्ञीका अपर्याप्त भेद न मानना अज्ञान मूलक है।

बोल चौथा पृष्ठ ४६५ से ४६६ तक

कीड़ी आदि जीवोंको दशवैकालिक सूत्रमें छोटा होनेके कारण सूक्ष्म कहा है सूक्ष्म जीवका भेद मान कर नहीं क्योंकि वे त्रस जीवमें गिने गये हैं परन्तु असंज्ञीसे मर कर नारकि आदिमें उत्पन्न होने वाले जीव कहीं भी संज्ञी नहीं कहे हैं अतः उनमें असंज्ञीका भेद न मानना अज्ञान है।

बोल पांचवा पृष्ठ ४६६ से ४६७ तक

संमूर्छिम मनुष्यका दृष्टान्त देकर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्याप्त भेदका निषेध करना मिथ्या है।

बोल छट्ठा पृष्ठ ४६७ से ४६८ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा २ के मूलपाठमें असुरकुमार देवतामें नपुंसक वेदका निषेध इस लिये किया है कि उनकी यह अवस्था अन्तमुहूर्तकी होती है।

इति जीवभेदाधिकार।

अथ सूत्र पठनाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४६९ से ४७१ तक

श्रावकको भी शास्त्र पढनेका अधिकार है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४७१ से ४७२ तक

शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार श्रावकोंके भी होते हैं यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार न होता तो उसको अकालमें स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करनेका अतिचार कैसे लगता।

बोल तीसरा पृष्ठ ४७२ से ४७३ तक

नन्दी और समवायाङ्ग सूत्रमें साधु और श्रावक दोनोंको "सुयपरिग्गहिया" कहा है इस लिये साधुकी तरह श्रावकका भी सूत्र और अर्थ दोनों जाननेका अधिकार है। उत्तराध्ययन सूत्रमें पालित नामक श्रावकको निर्ग्रन्थ प्रवचनका पण्डित कहा है।

बोल चौथा पृष्ठ ४७३ ४७५ तक

प्रश्न व्याकरण सूत्रके मूल पाठमें सत्य रूप महाव्रतकी प्रशंसा की गई है शास्त्र पढ़ने और पढ़नेका कुछ जिक्र भी नहीं है।

बोल पाचवां पृष्ठ ४७६ से ४७७ तक

व्यवहार सूत्रमें तीन वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् निशीथ सूत्र पढनेका और दस वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् भगवती सूत्र पढ़नेका विधान किया है वह एकान्त नहीं है क्योंकि [illegible] वर्षकी अवस्था वाला साधु उत्कृष्ट द्वादशाङ्गधारी भी कहा गया है।

बोल छट्ठा पृष्ठ ४७७ से ४७८ तक

गुरुसे बिना पढ़े अपने मनसे शास्त्र पढ़ने पर 'सुत्तवद्दिन्न' नामक अतिचार होता है इसको निवृत्तिके लिये श्रावक गुरुसे पढ़ कर ही शास्त्रका अध्ययन करते हैं।

बोल सातवां पृष्ठ ४७८ से ४७९ तक

[illegible] [illegible] वाचना नाम लेकर सभी श्रावकोंको अविनीत छोटुप और क्रोधी [illegible] कर शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी बताना मूर्खता है।

बोल आठवां पृष्ठ ४७९ से ४८१ तक

सूत्रके [illegible] नाम लेकर श्रावकको अपात्र कहना मिथ्या है।

बोल ९ वां पृष्ठ ४८१ से ४८२ तक

[illegible] [illegible] और कुशील आदि श्रावक भी होते हैं साधु ही नहीं। इसलिये निशीथ सूत्र [illegible] १९ के मूलपाठमें [illegible] [illegible] और कुशील श्रावक और साधुको [illegible] [illegible] किया है [illegible] श्रावक [illegible] [illegible] और कुशील नहीं है उसको शास्त्र पढ़ाना [illegible] नहीं है।

बोल १० वा पृष्ठ ४८२ से ४८३ तक

आठ प्रकारके ज्ञानाचारमें दोष लगाने वाला पासत्थ कहा जाता है। आचारा ङ्गादि अङ्ग और उत्तराध्ययनादि पाच अङ्गोंको पढ़ कर जो सम्यक्त्वका लाभ करता है उसे उत्तराध्ययन सूत्रमें सूत्र रुचि कहा है।

इति सूत्र पठनाधिकार ।

अथ क्रियाधिकार ।

बोल १ पृष्ठ ४८४ से ४८४ तक

आज्ञा बाहरकी करणीसे भी पुण्य बन्ध होता है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८४ से ४८५ तक

मिथ्या दर्शनी भी अकाम निर्जरा आदि आज्ञा बाहरकी करणी करके स्वर्गगामी होते हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४८५ से ४८६ तक

आचार्य्य, उपाध्याय, कुल, गण और संघकी निन्दा करने वाले वीतरागकी आज्ञाका अनाराधक अज्ञानी, आज्ञा बाहरकी क्रियासे स्वर्गगामी होते हैं यह उवाई सूत्रमें कहा है।

इति क्रियाधिकार ।

अथ अल्प पाप बहु निर्जराधिकार. ।

बोल १ पृष्ठ ४८७ से ४८९ तक

तथा रूपके श्रमण माहणको अकल्पनीय आहार देने वाले श्रावकको थोड़ा पाप और अधिक निर्जरा होना भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में कही है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८९ से ४९० तक

भगवतीके टीका कारने अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा थोड़ा पाप लिया है पाप न होना नहीं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४९० से ४९१ तक

बहु शब्दके साथ आया हुआ अल्प शब्दका कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होता।

बोल चौथा पृष्ठ ४९१ से ४९२ तक

आचारांग सूत्रकी स्वामिनि टब्बा अर्थमें जीतमलजीने 'अफासुयं' का अर्थ अकल्पनीय कहा है।

बोल पांचवां ४९२ से ४९६ तक

भगवती शतक पांच उद्देशा ६ वें सूत्र टबेमें आधाकर्मी आहार बनाने और झूठ बोल कर उस साधुको देनेसे जो प्राणातिपात और मिथ्या आश्रव होता है उससे अल्प आयुका बन्धन होना कहा है वह अल्प आयु क्षुल्लक भव ग्रहण रूप नहीं है किन्तु दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प है।

बोल ६ पृष्ठ ४९८ से ४९९ तक

भगवती शतक १८ उद्देशा १० में मूलपाठमें उन्मार्ग मार्गमें अनेषणिक आहार साधुको अभक्ष्य कहा है कारण दशा में नहीं।

बोल सातवां पृष्ठ ४९९ से ५०० तक

नित्य पिण्ड और उद्दिष्ट भक्त दोनों ही दुर्गतिके कारण कहे गये हैं। परन्तु ये नामधारी साधु बिना कारण ही नित्य पिण्ड लेते हैं।

इति अल्प पाप बहु निर्जराधिकार ।

अथ कपाटाधिकार ।

बोल १ पृष्ठ ५०१ से ५०२ तक

तेरह पंथी साधु अपने हाथसे खिड़कीका कपाट खोलते हैं और बन्द करते हैं। भीषणजी खिड़कीका कपाट खोल कर रातमें बाहर गये थे तथा साजदमें बहू श्री नाथाजी आदि सात आर्याओंको अपने हाथमें छत्रीका कपाट खोल कर उतारा था।

बोल दूसरा पृष्ठ ५०२ से ५०३ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा ३५ में इन्द्रियोंकी चञ्चलताको रोकनेके लिये कहा है कि साधु, मनोहर, चित्र युक्त मकान और धूपसे सुवासित तथा कपाट वाले मकान में न रहे, कपाट बन्द करने और खोलनेके भयसे उक्त मकानमें रहनेका निषेध नहीं है।

बोल तीसरा पृष्ठ ५०४

आवश्यक सूत्रमें बिना पूंजे कपाट खोलनेका प्रायश्चित्त स्वरूप मिच्छामिदुक्कड़ देना कहा है पूंज कर खोलनेका नहीं है।

बोल ४ पृष्ठ ५०४ से ५०५ तक

सुय० गाथा बारह तेरहमें अकेला विहार करने वाले साधुके लिये कपाट बन्द करनेका निषेध किया है स्थविर कल्पीके लिये नहीं।

बोल पांचवां पृष्ठ ५०६ से ५०७ तक

दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८ में सण आदिके पर्देसे ढके हुए द्वारको गृहस्थकी आज्ञासे कारण दशामें खोलनेका विधान किया है।

आचाराङ्ग सूत्रमें गृहस्वामीकी आज्ञासे प्रमार्जन आदि करके गृहस्थके द्वार खोलनेका विधान किया गया है।

बोल छठा पृष्ठ ५०७ ५०८ सेतक

आचाराङ्ग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे कपाटवाले मकान रहनेका निषेध नहीं है किन्तु गृहस्थके संसर्ग वाले गृहमें रहनेका निषेध किया गया है।

बोल सातवां पृष्ठ ५०८ से ५१२ तक

बृहत्कल्प सूत्रके मध्यम कारण पड़ने पर साधुको जयणाके साथ कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान किया है।

(ए । ४८

शुद्धाशुद्धि पत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	७	नियुक्ति	नियुक्ति
१३	१४	धम	धर्म
१४	३०	सथा	सर्वथा
१५	११	जा	जो
१७	२	रसी	ऐसी
१९	३	मोष्म माग	मोक्ष मार्ग
२०	४	तथा	तथा
२०	५	लिगे गये हैं	लिये गये हैं
२०	८	लग्का दिये हैं	लटका दिये गये है।
२५	९	उन्हें मोक्ष मार्गका	इन्हें अज्ञानी होनेस मोक्ष मार्ग का
२८	७	धर्म्में	धर्म
२८	१२	दुशाराधक	देशाराधक
२८	२४	अथात्	अथात्
३२	३१	सम्यग्दष्टिका	सम्यग्दृष्टि था
३३	१८	विपाक	विपाक
३५	३०	ज्ञान अध्ययन	ज्ञानाध्ययन
४७	१८	क्रियावादी	क्रियावादी ही
४५	२७	सुसल	सुसल
५२	२७	विरतिपुक्त	विरतियुक्त
५३	२०	निमल	निमल
५६	२६	मिथ्दत्वात्व	मिथ्यात्व
५६	३०	भद्दे	भद्दे
५७	१८	विपर्य्यय	विपर्य्यय
६०	२०	उद्देशा १	उद्देशा ११

७

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	१५	उद्देशा १	उद्देशा ३१
६३	२८	"	"
६४	९	"	"
६९	२५	होता	होता है
७२	१४	चन्तवना	चिन्तवना
८२	३	अच्छा	शुभ
८२	७	"	"
८२	२०	"	"
८५	५	पुर्वन्	पूर्वन्
८८	१४	चार	चोर
८८	१७	अधम	अधर्म
९६	६	बनलात	बतलाते
९६	२८	निवाह	जीविका निर्वाह
९९	१७	नुनि	मुनि
१०५	१८	अयमें	अर्थमें
१०७	९	अहन	आर्हत
१०७	१०	शिरमणि	शिरोमणि
१०७	११	प्रनिमह्	प्रतिमह
१०७	२९	वैंडाछ प्रातिक	वैडाल प्रतिक
१०८	५	जना	जाना
१०९	२	जनना	जानना
१११	२३	टकानुसार	टीकानुसार
१२८	२७	तहर	तरह
१३८	९	अथमें	अर्थमें
१४५	३	करसेन	करनेसे
१४६	११	मरवान	मारवाने
१४८	१४	करन	करने
१४३	१३	सारम्भ	संरम्भ
१५५	४	परिमहमें	इसकी ममता परिग्रहमें
१५६	१०	गनम	गौतम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	२१	मिट्टीको	जलको
१६६	१०	गणाग	ठागाग
१७९	३	बोल २९	बोल ३०
१८२	६	बोल ३०	बोल ३१
१८३	८	बोल ३१	बोल ३२
१८४	२८	बोल ३२	बोल ३३
१८५	६	कहने हैं	कहते हैं
१८७	८	बोल ३३	बोल ३४
१८७	१२	विसुलं	विपुल
१८८	१८	बोल ३४	बोल ३५
१९०	१९	बोल ३५	बोल ३६
१९३	३	बोल ३६	बोल ३७
१९३	१७	घाग	नाग
१९४	३	बोल ३७	बोल ३८
१९७	८	बोल ३८	बोल ३९
१९८	५	अप्रतमें	आरम्भमें
१९९	२१	बोल ३९	बोल ४०
२०३	१४	बोल ४०	बोल ४१
२०४	१८	मूले हुए	भूले हुए
२१२	१७	कमका	कर्मका
२१३	१५	आम्य	आर्य्य
२१५	२५	उपहेग	उपदेश
२१५	२९	हिंसक	हिंसकके
२१७	१५	मुक्त करना	मुक्त करना
२१८	५	बोल छट्ठा	बोल पांचवां
२२०	१७	बिमित्त	निमित्त
२२०	२८	दराकर	डराकर
२२१	१०	बोल ७ वां	बोल छट्ठा
२२३	१०	बोल आठवां	बोल ७ वां
”	१९	मनमार	मन मार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५०	१९	बोल २१	बोल २०
२५२	१६	निवरणाद्य	निवारणात्र
"	१८	बोल २२	बोल २१
२५३	१	उबित्ता	उद्वित्ता
२५४	२२	बोल २३	बोल २२
२५६	६	जेभिवस्व	जेभिवत्
२५७	१७	बोल २५	बोल २४
२६१	१६	बोल २६	बोल २५
२६४	११	बोल २७	बोल २६
२६५	१३	कनुकम्पा	अनुकम्पा
"	१४	जा है	जाती है
२६७	९	अभ है	भाव भ है
२६९	२२	बोल २९	बोल २८
२७०	२५	बोल ३०	बोल २९
२७१	१६	बहुत	बहुत हैं
२७२	२९	बोल ३१	बोल ३०
२७५	३	बोल ३२	बोल ३१
२७६	१६	बोल ३३	बोल ३२
२७९	६	बोल ३४	बोल ३३
२८०	१	नदीथी	नदीथी
२८२	८	बोल ३५	बोल ३४
२८४	९	बोल ३६	बोल ३५
२८५	९	बोल ३७	बोल ३६
"	१२	अपनी	उपनी
२९०	५	बोल ३८	बोल ३७
२९४	१८	स्वरूप स्वग और निर्वेद होनसे	[illegible]
३०३	१०	धमका	धर्मका
"	२२	कम	कर्म
३०८	११	कारित्था	न कारित्था
"	१८	करत हुए	न करते हुए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	२५	अनक दिनक	अनक वषक
३१४	०८	तिणय	निर्णय
३१८	२७	दोप अप्रतिसेवी	दोपका अप्रतिसेवी
३२३	४	बोल (०)	बोल १० वा
३२४	१७	गाथाका अथ है	पाठका अथ है
”	०५	छग्रस्थ	छद्मस्थ
३२५	८	गोशालको	गोशालक को
३२९	५	टीकामें	अर्थमें
३४८	१७	लेश्या	लेश्या
३४९	२	पच्चक्खाण	पच्चक्खाण
३५२	४	द्रुम	रुद्र
३५४	२८	गच्छइच्छा	गच्छेच्छा
३५५	९	सादिका	आदिका
”	२०	स्वीकारए	सीगीकारए
३६१	२	भगङक्ति	भगवद्भक्ति
”	१५	छ	छै
३६९	१३	भगोंमें	भगमें
३७१	१	कतव्य है	कर्तव्य है
”	१६	श्रावकोंको	श्रावकों क
३७५	७		श्रु० २ अ० ३ उ० २
३७९	२६	सूत्रको	सूत्रका
३८०	४	अथ	अर्थ
”	९	फरान वाले	कराने वाले
३८२	४	धम बुद्धिस	धम बुद्धिस
”	११	अण्णपरण	अणयरण
३८३	१३	भगवती शत १५	भगवती शतक २५
३८४	१	असानना	अनासातना
३८७	५	निगराक	निशाराका
३८९	६	असनानुप्रदान	आसनानुप्रदान
३९१	१	मुनियोंको	मुनियोंको
३९२	३	बाद्दर	बारह
३९६	१९	कुप्रावाचनिक	कुप्रावचनिक
३९८	५	मिरसावत्त	सिरसावत्त
४०५	१९	द्दम साथ	धर्मके साथ
४०६	१८	अपन शिष्योंको	अपन ७०० शिष्योंको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०७	१९	इसीलिये	इसलिये
४१३	१९	आयन्ते	आय ते
४१५	१०	यह	यह
"	१५	१३ वें अ० को २१ वी	३ रे अ० की पहली
४१९	८	स्वर्गप्राप्ति	मोक्ष प्राप्ति
४२२	१०	किया	क्रिया
४२३	१९	तीना	तीनो
४२४	१७	आरोलिय	ओरालिय
४२४	१८	सगारो	सागारो
"	७	वतमान	वर्तमान
४३१	१८	होता	हो ता
"	२४	ल	लघु
४३१	२०	मुरयता	मुख्यता
४३७	१३	श्रनाशान	श्रनाशान
४४१	११	नकरूपन्वन्	नैकरूपन्वान्
"	१८	शरीर	शरीर
४४४	९	समागी	संसारी
"	२०	द्रव्य	द्रव्य
४४५	११	तत्पर्य्य	तात्पर्य्य
४५०	३	प्रति संडीलता	प्रतिसंडीनता
४६४	१०	गमभ	गर्भज
"	२०	जीर्वो	जीवों
४६५	५	असही	असंहीभूत
"	२९	सवत्र	सर्वत्र
४७१	४	आश्रवों	आश्रवों
४७२	१३	बोल १	बोल २
"	२७	पावयणे	पवयणे
४८०	१४	धम	धर्म
४८२	७	पढना	पढाना
"	२०	मूत्रोंका	सूत्रोंका
४९०	५	हनेस	दनैस
"	२७	समझ	समझकर
४९१	९	पए सगओ	पएसगाओ
४९२	१५	बीजको	बीजको ही
४९३	२६	जाता	जीता

ॐ

❀ श्रीवीतरागाय नमः ❀

सद्धर्ममण्डनम् ।

मिथ्यात्विक्रियाधिकारः ।

अथ सद्धर्ममण्डनमारभ्यते

सिद्धाण नमो किच्चा संजयाणंच भावओ
अत्थ धम्म गइं तच्चं अणुसिट्ठिं सुणेहमे १
भव बीजाङ्कुर जनना रागाद्याः क्षय मुपागता यस्य
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै २

सिद्ध और साधुओंको भावपूर्वक नमस्कार करके हितशिक्षा साथ धर्मका अनुशासन किया जाता है उसे सुनिये। भवबीजका अंकुर उत्पन्न करनेवाले रागादि दोष जिसके क्षीण हो गये हैं वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो चाहे शिव या जिन हो उसे मेरा नमस्कार है।

सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विरत चारित्र और श्रुत चारित्र को "सद्धर्म" कहते हैं। उसका मण्डन तथा मिथ्या ज्ञान दर्शन और चारित्रका खण्डन और जीवरक्षा तथा अनुकम्पा दान आदिके विरोधी सिद्धान्तोंका निराकरण शास्त्रीय प्रमाणसे इस ग्रन्थमें किया जाता है, इसलिये इसका नाम "सद्धर्म मण्डन" रखा है। भव्य जीवोंके उपकारार्थ तथा आत्मलाभार्थ, यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

श्रीवीतरागदेवकी आज्ञाराधना रूप धर्मके दो भेद ठाणाङ्ग सूत्र दूसरे ठाणेमें कहे हैं। वह पाठ—

"दुविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव" (ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा २)

अथ—धर्म दो प्रकारका है एक श्रुत और दूसरा चारित्र।

सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आठ ज्ञानाचार और आठ सम्यक्त्वके आचार श्रुतधर्म माने जाते हैं। साधु धर्म, तथा गृहस्थ धर्मके मूलगुण और आठ चारित्रके आचार, चारित्र धर्ममें कहे गये हैं। इस प्रकार श्रुत और चारित्र ये दो ही वीतरागकी आज्ञाके धर्म हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरा धर्म, वीतराग भाषित या वीतरागकी आज्ञाका धर्म नहीं है। इन्हीं श्रुत और चारित्र धर्मोंका आराधक पुरुष वीतरागकी आज्ञाका आराधक है।

श्रीवीतरागकी आज्ञाराधनाके तीन भेद भगवती सूत्रमें कहे हैं

वह पाठ—"कतिविहाण भन्ते ! आराहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता तजहा नाणाराहणा दसणाराहणा चारित्ता राहणा। णाणाराहणाणभन्ते ! कतिविहा पण्णत्ता गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता तजहा— उक्कोसिया मज्झिमा जहण्णा। दसणाराहणाण भन्ते ! एवचेव तिविहावि एव चारित्ताराहणावि"

(भगवती शतक ८ उद्देशा १०)

अथ—हे भगवन्! आराधनाके भेद कितने होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम! आराधनाके भेद तीन हैं, ज्ञानाराधना (ज्ञानकी आराधना) दर्शनाराधना (दर्शनकी आराधना) और चारित्राराधना (चारित्रकी आराधना)।

(प्रश्न) हे भगवन्! ज्ञानाराधनाके कितने भेद होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम! ज्ञानाराधनाके तीन भेद हैं, उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य। इसी तरह दर्शनाराधना और चारित्राराधनाके भी तीन तीन भेद समझने चाहिये।

यहां भगवान्ने आराधनायें तीन प्रकारकी कही हैं ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। इसलिये इन्हींका आराधक पुरुष मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक समझा जाता है। परन्तु इनकी आराधना नहीं करके जो किसी दूसरे धर्मका आराधन करता है वह मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक नहीं है। ऊपर बताये हुए मूलपाठमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे जो तीनों आराधनाओंको तीन तीन प्रकारका कहा है उनमें किस भेदका आराधक पुरुष कितना भव करता है यह निर्णय भी इसी जगह भगवतीजीके मूलपाठमें कर दिया है वह पाठ—

"उक्कोसियाण भन्ते ! णाणाराहण आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अन्त करेंति ? गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव

भवग्गहणेण सिज्झन्ति जाव अन्तं करेंन्ति अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्ग हणेणं सिज्झन्ति जाव अन्तं करेंन्ति अत्थेगइए कप्पोववएसुवा कप्पातीएसुवा उववज्जन्ति। उक्कोसियणं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं एवं चेव उक्कोसियणं भन्ते ! चारित्ताराहणं आराहेत्ता एवचेव नवरं अत्थेगइए कप्पातीएसुउववज्जंति। मज्झिमियणं भंते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झंति जाव अंतं करेंन्ति ? गोयमा ! अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अन्तं करेंन्ति तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ। मज्झिमियणं भन्ते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता एवचेव एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणंवि। जहन्नियणं भन्ते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झन्ति जाव अन्तं करेंन्ति ? गोयमा ! अत्थेगइए तच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अन्तं करेंन्ति सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ एवं दंसणाराहणं वि एवं चरित्ताराहणं वि" (भगवती शतक ८ उ० १०)

इस पाठमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी उत्कृष्ट आराधना करनेवाले पुरुषको जघन्य एकभव और उत्कृष्ट दूसरे भवमें मोक्ष जाना कहा है तथा उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनकी आराधना करनेवालेको कल्प और कल्पातीत नामक स्थानोंमें ही देवता होना, एवं उत्कृष्ट चारित्रकी आराधना करनेवालेको अनुत्तर विमानमें ही जाना कहा है। इसी तरह इन तीनों आराधनाओंके मध्यम आराधकको जघन्य दो और उत्कृष्ट तीन भवमें, तथा इनके जघन्य आराधकको जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना बतलाया है। इसका खुलासा करते हुए टीकाकारने लिखा है कि—जिस ज्ञान दर्शनकी जघन्य आराधनासे उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना इस पाठमें बतलाया है वह ज्ञान और दर्शनकी आराधना चारित्राराधनाके साथ का जाननी समझनी चाहिए। परन्तु चारित्रकी आराधनासे रहित जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधना नहीं। क्योंकि चारित्र की आराधनासे रहित जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधनासे, तथा श्रावकपनेके दर्शनकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव भी होते हैं। इस प्रकार जिस पुरुषमें चारित्रकी आराधना नहीं है किन्तु ज्ञान और दर्शनकी जघन्य आराधना है वह पुरुष तथा देशव्रती श्रावक, जघन्य तीन और उत्कृष्ट असंख्य भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस न्यायसे भी

पुरुष वीतरागकी आज्ञाराधनामें किसी भी अंशका आराधक है वह सात आठ भवमें अथवा असंख्य भवोंमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर जो पुरुष आराधनामें किसी भी भेदका आराधक नहीं है वह कभी भी मोक्ष नहीं जाता किन्तु वह अनन्त कालतक संसारमें ही पड़ा रहता है। अतः मिथ्यादृष्टि पुरुष वीतरागकी आज्ञाका किसी भी आराधक नहीं है क्योंकि आज्ञाराधक पुरुष पूर्वोक्त पाठ और टीकानुसार सात आठ भवमें अथवा उत्कृष्ट असंख्य भवमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर मिथ्यादृष्टि नहीं जाता। इसलिये वह वीतरागकी आज्ञाराधनामें किसी भी अंशका आराधक नहीं है यह उक्त मूल पाठसे सिद्ध होता है। जो लोग मिथ्यादृष्टिको देशतः मोक्ष मार्गका आराधक मानते हैं उन्हें उक्त मूल पाठ और उस की टीकानुसार मिथ्यादृष्टिको उत्कृष्ट असंख्य भवमें मोक्ष जाना भी मानना चाहिये। यदि मिथ्यादृष्टिको असंख्य भवमें मोक्ष जाना नहीं मानते, तो फिर उसे वीतरागकी आज्ञाका देशतः आराधक भी नहीं मान सकते जो आज्ञाका आराधक भी हो और असंख्य भवमें भी मोक्ष न जाय यह बात उक्त मूल पाठ और उस की टीकासे विरुद्ध है।

पूर्वोक्त त्रिविध आराधनाएं श्रुत और चारित्रके ही अन्तर्गत हैं। ज्ञानके बिना दर्शन और दर्शनके बिना ज्ञान नहीं होता इसलिये ज्ञान और दर्शन ये दोनों श्रुत धर्ममें माने जाते हैं और चारित्राराधना चारित्रस्वरूप है इसलिये धर्मके मुख्य भेद श्रुत और चारित्र ये दो ही हैं। दशवैकालिक सूत्रमें "अहिंसा संजमो तवो" यह कह कर अहिंसा संयम, और तपको जो धर्म कहा है वह श्रुत और चारित्रको ही अहिंसा संयम और तप कह कर बतलाया है। पर श्रुत और चारित्रके अतिरिक्त अहिंसा संयम तप धर्म नहीं कहे हैं। अतएव इस गाथा की निर्युक्तिमें धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "दुविहो लोगुत्तरियो सुयधम्मो खलु चरित्त धम्मोय" अर्थात् लोकोत्तर धर्म दो प्रकारका होता है एक श्रुत और दूसरा चारित्र। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र रूप लोकोत्तर धर्मको ही उक्त गाथामें अहिंसा, संयम और तप कह कर बतलाया है परन्तु किसी लौकिक धर्मको नहीं।

इसी तरह उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमें मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए यह गाथा कही है कि —

"नाणञ्च दंसणंचेव चरित्तंच तवो तहा। एसमग्गुत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" (उत्तरा० अ० २८ गाथा २)

अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र और तपको तत्त्वदर्शी जिनवरोंने मोक्षका मार्ग बतलाया है।

यन गाथाम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप ये चार मोक्ष के मार्ग कहे हैं। ये चारों ही श्रुत और चारित्र धम के भद हैं ज्ञान और दर्शन को श्रुत के अन्दर और चारित्र तथा तप चारित्र के अन्दर माने जाते हैं। अत गाथा म कहे हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, श्रुत तथा चारित्रके अन्तगत हैं। अतएव इस गाथाकी पाई टीका म तप के विषय मे लिखा है कि—

"तपो बाह्याभ्यन्तर भद भिन्नं यदर्हद्वचनानुसारि तदवो पादीयत "

अथात् बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे भिन्न अर्हद्वचनानुसारी जो तप है उसी का इस गाथा म ग्रहण है।

यहा टीकाकारने वीतराग भाषित तप को ही मुक्तिका मार्ग बतला कर गाथामे उसीका ग्रहण होना बतलाया है पर मिथ्यादृष्टिनानुसारी तपको मुक्ति का मार्ग नहीं कहा है। अत वीतरागकी आज्ञाम होने वाला यह तप चारित्र का ही भद है। अतएव इस गाथा की टीकाम चारित्रसे पृथक् तपको लिखनेका प्रयाजन बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—"इह च चारित्र भदत्वेऽपि तपस पृथगुपादान मस्यैव क्षपण प्रत्यसाधारण हेतुत्वमुपदर्शयितुम्।' अथात् तप, चारित्रका ही भद है तथापि कमक्षय करनेमे यह सबसे प्रधान है यह बतलानेके लिए इस गाथाम चारित्रसे अलग तप कहा गया है।

यहा टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि तप चारित्र का ही भद है अत सिद्ध हुआ कि ऊपर लिखी हुई गाथाम श्रुत और चारित्र धम ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप कह कर बतलाये गये हैं इस न्यायसे श्रुत और चारित्रसे भिन्न कोई तीसरा वीतरागकी आज्ञाका धम नहीं है यह बात स्पष्ट सिद्ध होता है।

ठाणाङ्ग सूत्रम विद्या और चारित्रके द्वारा ससार सागरसे पार जाना कहा है, वह विद्या और चारित्र भी श्रुत तथा चारित्र धम ही हैं इनसे पृथक् नहीं। वह पाठ—

"दोहिं ठाणेहिं अणगार सम्पन्ने अणादियं अणवयग्गं दीह मद्ध चाउरंतर संसारकंतार वीतिवतेज्जा। तंजहा विज्जाएचेव चर-णेणचेव" (ठणाङ्ग ठाणा २ उद्देशा ३)

इस पाठमे विद्या और चारित्रके द्वारा ससार सागर से पार जाना कहा है और मूलपाठ म विद्या और चरण शब्द के साथ "च्व कार" लगाकर भवसागर को पार करने के लिये अन्य उपाय का निषेध किया है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिये विद्या और चरण ये दो ही कारण सिद्ध होते हैं इनसे भिन्न कोई तीसरा कारण नहीं। यहा विद्या शब्द से ज्ञान दर्शन का और चरण शब्द से चारित्र का ग्रहण है इसलिये इस पाठ म श्रुत और

चारित्र ही विद्या, तथा चरण कहकर बतलाये हैं। अत इस पाठमे भी यही सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र धर्म ही मोक्ष प्राप्तिके कारण हैं इनसे भिन्न कोइ दूसरा नहीं है।

यहां कोइ यह शङ्का करे कि विद्या शब्द तो केवल ज्ञान अर्थमें ही प्रसिद्ध है उससे ज्ञान और दर्शन इन दोनों का ग्रहण क्या होगा? तो इसका उत्तर यह है कि इस पाठ की टीका में विद्या शब्दसे ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण होना लिखा है। वह टीका यह है—"ननु सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्ग इति श्रूयत इह तु ज्ञान क्रियाभ्याममावुक्त इति कथं न तद्विरोध अथ द्विस्थानकानुरोधात्त्रं निर्देशेऽपि न विरोधो नैवमत्रागणगर्भत्वान्निर्देशस्येति। अत्रोच्यत विद्याग्रहणेन दर्शनमप्याक्षिप्तं द्रष्टव्य ज्ञानभेदत्वात्सम्यग्दर्शनस्य। यथाहि अवोधात्मकत्वे सति मतश्रुताकारत्वादवग्रह दर्शन साकारत्वाश्चापायधारणे ज्ञानमुक्तमेव व्यवसायात्मकत्व सम्यवायस्य रुचिरूपोऽपाय एवेति न विरोध। अवधारणतु ज्ञानादिव्यतिरेकेण नान्यउपायो भव व्यवच्छेदस्येति दर्शनार्थ मिति"

अर्थ—सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र मोक्षके मार्ग सुने जाते हैं परन्तु यहां ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा गया है इस कारण उससे विरोध क्यों नहीं? यदि कहो कि ठाणाङ्ग सूत्रका यह दूसरा ठाणा है इसमे तीनका समावेश नहीं है इसलिये यहां ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा, किन्तु दर्शनसे नहीं। तो यह अयुक्त है। क्योंकि इस मूल पाठमें "विज्जाए चेव चरणेण चेव" इन पदोंमें विद्या और चरण से ही मोक्ष जाने का नियम करके दूसरे से मोक्ष प्राप्तिका निषेध किया है। इसका उत्तर यह है कि विद्या शब्दसे दर्शन का भी ग्रहण समझना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञानका ही भेद है। जैसे कि अवबोध स्वरूप और अनाकार स्वरूप होने से मतिज्ञान के अवग्रह और ईहारूप भेद दर्शन स्वरूप हैं और साकार होने के कारण अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान के भेद ज्ञान के अन्दर कहे हैं इसी तरह व्यवसाय स्वरूप अवाय का रुचि रूप अंश सम्यग्दर्शन है और अवायरूप अंश अवाय, ज्ञान स्वरूप ही है इसलिये कोइ विरोध नहीं है। इस पाठ में जो "एवकार" आया है वह सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र से भिन्न कोइ मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं है यह बताने के लिये समझना चाहिये। यह उक्त टीका का अर्थ है।

यहां टीकाकार ने विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण बतलाया है और सम्यग्ज्ञान दर्शन ही श्रुत कहलाते हैं इसलिये उक्त मूलपाठ में श्रुत और चारित्रसे ही सिद्ध और मोक्ष जाना कहे गये हैं। मूलपाठ में 'एवकार' देकर इनसे भिन्न दूसरे का मोक्ष प्राप्ति में निषेध किया है अत श्रुत और चारित्रसे ही मोक्ष के मार्ग तथा आराधना का धर्म सिद्ध होते हैं। श्रुत तथा चारित्र अथवा विद्या या चारित्रसे

श्रुताज्ञान क्रिया और विभङ्गज्ञान क्रिया कहा है। ये सभी क्रियायें उपरोक्त मूल पाठमें अज्ञान क्रिया के भेद कहे हैं। अज्ञान, वीतराग की आज्ञा से बाहर है इसलिये अज्ञानसे की जाने वाली मिथ्यादृष्टियों की ये क्रिया भी आज्ञा से बाहर ही हैं।

आवश्यक सूत्र में अज्ञान को त्यागने योग्य और ज्ञानको आदरने योग्य कहा है।

वह पाठ—"अन्नाण परियाणामि नाण उवसंपवज्जामि मिच्छत्त परियाणामि सम्मत्त उवसंपवज्जामि" (आवश्यक सूत्र)

अर्थ—साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञान को छोड़ता हूं और ज्ञान को प्राप्त करता हूं। तथा मिथ्यात्व को छोड़ता हूं और सम्यक्त्व को प्राप्त करता हूं। यह इस पाठका अर्थ है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान और मिथ्यात्व वीतराग की आज्ञा से बाहर है इसलिये अज्ञान तथा मिथ्यात्व से जो क्रिया कीजाती है वह भी आज्ञा से बाहर ही सिद्ध होती है।

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा २ में जिसको जीव, अजीव, त्रस और स्थावरका ज्ञान नहीं है उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की क्रिया आज्ञा बाहर सिद्ध होती है क्योंकि मिथ्यादृष्टि को जीव, अजीव, त्रस और स्थावरका सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

उवाइ सूत्रमें कहा है कि जो पुरुष, अकामनिर्जराकी क्रिया करके दस हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो हाडी बन्धनादिक दुःख सह कर बारह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो माता पिता आदिकी सेवासे चौदह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य पालन करके चौंसठ हजार वर्षकी आयुकी देवता होती है जो अन्न जल आदिका नियम रखकर चौरासी हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो कन्द मूलादि खाकर एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो परिव्राजकधर्मका पालन करके दस सागरकी आयुके देवता होते हैं तथा गोशालक मतानुयायी जो बाइस सागरकी आयुके देवता होते हैं ये सभी लोग मोक्षमार्ग के आराधक नहीं हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान तथा मिथ्यात्वसे की जाने वाली क्रिया वीतराग की आज्ञासे बाहर है और उन क्रियाओंका आचरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि पुरुष मोक्ष मार्गके आराधक नहीं हैं किन्तु जो ज्ञानवान और सम्यग्दृष्टि हैं वे ही भगवान् की आज्ञाके आराधक हैं।

(दूसरा बोल समाप्त ।)

—०—

(प्रेरक)

आपने पहले बोलमें ठाणाङ्ग आदि सूत्रोंका प्रमाण देकर धर्मके दो भेद श्रुत और चारित्र बतलाये हैं और मिथ्यादृष्टिमें इन धर्मोंके न होनेसे उसे मोक्ष मार्गका किञ्चित् भी आराधक न होना कहा है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार आपकीतरह धर्मका भेद नहीं करते जैसे कि भ्रमविध्वंसनके पहले पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है "ते धर्मरा दो भेद संवर निर्जरा। ए बीहूं भेदामें जिन आज्ञा छै। ए संवर निर्जरा बीहुइ धर्म छै। ए संवर निर्जरा टाल अनेरो धर्म नहीं छै। कई एक पाखण्डी संवरने धर्म श्रद्धे पिण निर्जराने धर्म श्रद्धे नहीं। त्यांरे संवर निर्जरारी ओलखणा नहीं" इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

शास्त्रमें कहीं भी धर्मके दो भेद संवर और निर्जरा नहीं कहे हैं। किन्तु ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणेमें श्रुत और चारित्र ये दो धर्मके भेद बताये हैं। यह पाठ पहले बोलमें लिखा जा चुका है। इसलिए संवर और निर्जराको धर्मका भेद बतलाना अप्रामाणिक है।* शास्त्रकारको यदि यह इष्ट होता तो ठाणाङ्ग सूत्रमें जहां यह पाठ आता है कि "दुविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा—सुय धम्मे चेव चारित्त धम्मे चेव।" वहां ऐसा पाठ आता कि "दुविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा संवर धम्मे चेव निज्जरा धम्मे चेव" मगर ऐसा पाठ नहीं आया। इसलिए संवर और निर्जराको धर्मका भेद कायम करना मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकारने मिथ्यादृष्टिकी अकाम निर्जराको वीतरागकी आज्ञामें धर्ममें कायम करनेके लिये अपने मनसे धर्मके दो भेद संवर और निर्जरा लिख दिये हैं। परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है। संवर रहित निर्जरा कहीं भी वीतरागकी आज्ञामें नहीं कही है और इसका आराधक भी कहीं मोक्ष मार्गका आराधक नहीं कहा है। तथापि यदि संवर रहित निर्जराको धर्म मान कर मिथ्यादृष्टिको मोक्ष मार्गका आराधक माना जाय तो कोई भी जीव मोक्ष मार्गका अनाराधक न होगा। क्योंकि संवर रहित अकाम निर्जरा सभी प्राणियोंमें होती है। ऐसी निर्जरासे २४ ही दण्डकके जीव युक्त हैं, अत

*नोट—संवर और सकाम निर्जरा श्रुत तथा चारित्रके अन्तर्गत हैं अतः ये धर्म हैं पर अकाम निर्जरा धर्म नहीं है। लेकिन धर्मके दो भेद "संवर और निर्जरा" कहना अकाम निर्जरा को धर्म में लाना है और अकामनिर्जरा मिथ्यादृष्टिमें भी होती है इसलिए वह भी मोक्षमार्ग का आराधक समझा जाता है परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है। इसलिए शास्त्रानुसार धर्म के दो भेद श्रुत और चारित्र ही कहना चाहिये। इस प्रकार संवर और सकाम निर्जरा धर्ममें कायम होंगे और अकाम निर्जरा न होगी क्योंकि वह श्रुत तथा चारित्रसे बाहर है और अकाम निर्जरा के [illegible] मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्गका आराधक न होगा इस प्रकार [illegible] न [illegible] है

अने ए बालतपस्वीन भ्रन नहीं पिण निर्जरारेलेखे देशाराधक कह्या छै।" इस विषयमें भ्रम विध्वंसनकारने भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० का मूलपाठ प्रमाण दिया है और उक्त मूल पाठकी चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गमें मिथ्यादृष्टिको कहा जाना बतलाया है। इसका समाधान क्या है?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० में कही हुई चतुर्भङ्गीके पहले भङ्गका स्वामी प्रथम गुण स्थान वाला मिथ्यादृष्टि पुरुष नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टिमें सम्यग् ज्ञान दर्शन तथा चारित्र इनमेंसे एक भी नहीं होता तथापि संवररहित निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमें मान कर उस करनीकी अपेक्षासे मिथ्यादृष्टिको भ्रमविध्वंसनकार मोक्ष मार्ग का देशाराधक कहते हैं लेकिन यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है। भगवती सूत्रके इस पाठमें तथा इसकी टीकामें संवर रहित निर्जराकी करनीको मोक्षमार्गकी देशाराधना नहीं कहा है और उस करनीको लेकर यह आराधक विराधककी चतुर्भङ्गी भी नहीं कही है किन्तु श्रुत और शीलको लेकर कही है। श्रुत नाम ज्ञान और दर्शनका तथा 'शील' नाम चारित्रका है। इसलिये जिसमें श्रुत और शील इनमेंसे एक भी नहीं है वह पुरुष मोक्ष मार्गका देशाराधक कैसे हो सकता है? अतः मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मोक्षमार्गका देशा राधक नहीं है क्योंकि उसमें श्रुत तथा शील (चारित्र) इनमेंसे एक भी नहीं होता।

संवर रहित निर्जराको मोक्षमार्गमें मानकर उसके होनेसे यदि मिथ्यादृष्टि का इस चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गमें माना जाय और मिथ्यादृष्टिको भी देशाराधक कहा जाय तो यह आराधक विराधक की चतुर्भङ्गी नहीं बन सकती क्योंकि जो पुरुष मोक्ष मार्गकी किञ्चित् भी आराधना नहीं करता वह चतुर्थभङ्गका स्वामी सर्वविराधक कहा गया है परन्तु संवर रहित निर्जरा उसमें भी होती है अतः निर्जराके होनेसे मोक्षमार्गका देशा राधक मानने पर वह पुरुष भी देशाराधक ही ठहरता है सर्व विराधक नहीं। क्योंकि संवर रहित निर्जरा एकेन्द्रियादिक चौवीस ही दण्डकके जीवोंमें होती है इसलिये (संवर रहित निर्जराको मोक्षमार्गकी आराधना मानने पर) सभी मिथ्यादृष्टि आराधक ही ठहरते हैं पर कोई भी सर्वविराधक नहीं होता। इस प्रकार इस चतुर्भङ्गीका चौथा भङ्ग खाली रह जाता है पर यह इष्ट नहीं है इसका भी स्वामी होता है। अतः संवर रहित निर्जराको मोक्षमार्गके आराधनमें मानना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये।

जब कि संवर रहित निर्जरा मोक्षमार्गमें नहीं मानी जाती और उस निर्जराके होते हुए भी आराधक नहीं माना जाता तब इस चतुर्भङ्गीका चौथा भङ्ग खाली नहीं रहता क्योंकि जो पुरुष श्रुत, तथा शील (चारित्र) इन दोनोंसे सर्वथा रहित है वह भगवती

सूत्रोक्त चतुर्भङ्गीके चतुर्थ भङ्गका स्वामी होता है इस प्रकार सभी मिथ्यादृष्टि चतुर्थभङ्गके ही स्वामी हैं क्योंकि उनमें श्रुत और शील (चारित्र) इनमेंसे एक भी नहीं होता। अतः मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका देशाराधक कहना और इसके लिये भगवतीकी साक्षी देना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

संवर रहित निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गके आराधन में कायम करके मिथ्यादृष्टिको देशाराधक माननेसे भ्रमविध्वंसनकारकी प्ररूपणा भी यहां पूर्वापर विरुद्ध हो गई है। जैसे कि भगवतीके इस पाठका अर्थ करते हुए जीतमलजीने लिखा है कि "पहिले पुरुष देश आराधक प्ररूप्यो ते बाल तपस्वी" "चौथे ते पुरुष सर्वविराधक कह्यो अव्रती बाल तपस्वी" (भ्रम० पृ० ३) यह लिख कर भ्रमविध्वंसनकारने पहला और चौथा इन दोनों ही भंगोंमें बालतपस्वीका होना बतलाया है परन्तु यह परस्पर विरुद्ध है। जो बाल तपस्वी देशसे मोक्ष मार्गका आराधक होकर प्रथम भङ्गका स्वामी है वह चतुर्थ भङ्गका स्वामी नहीं हो सकता है क्योंकि चतुर्थ भङ्गवाला मोक्ष मार्गका किंचित् भी आराधक नहीं है। यदि कहो कि चतुर्थ भङ्गवाला अव्रती बाल तपस्वी है और प्रथम भङ्गवाला पुरुष बाल तपस्वी है इसलिये जीतमलजीने पूर्वापर विरुद्ध प्ररूपणा नहीं की है तो यहां यह प्रश्न होता है कि प्रथम भङ्गवाला बालतपस्वी अव्रती है या नहीं? यदि अव्रती है तो फिर चतुर्थभङ्ग वाले अव्रती बालतपस्वीसे इसका कुछ भी भेद नहीं है क्योंकि यह भी अव्रती बालतपस्वी है और चतुर्थभङ्ग वाला भी अव्रती बाल तपस्वी है इस प्रकार जीतमलजीके कथनानुसार प्रथम भङ्ग और चतुर्थ भङ्गके स्वामियोंमें कुछ भी भेद नहीं रहता। ये दोनों ही भङ्गके स्वामी एक ही हो जाते हैं परन्तु यह बात एकान्त विरुद्ध है प्रथम भङ्गका स्वामी देशाराधक है और चौथा भङ्गका स्वामी सर्वविराधक है अतः ये दोनों एक नहीं हैं। यदि कहो कि प्रथम भङ्ग वाला बालतपस्वी अव्रती नहीं किन्तु व्रती है इसलिये वह चतुर्थ भङ्ग वाले बालतपस्वीसे भिन्न है तो फिर वह मिथ्यादृष्टि कैसे? मिथ्यादृष्टिमें व्रत नहीं होता और यह व्रती है इसलिये सम्यग्दृष्टि ही ठहरता है मिथ्यादृष्टि नहीं अतः मिथ्यादृष्टिको देशाराधक बतलाना जीतमलजीका अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि भगवतीके मूल पाठमें देशाराधक शीलवान् पुरुषको "अविण्णाय धम्मे" कह कर धर्मका ज्ञाता न होना कहा है इसलिये वह सम्यग्दृष्टि नहीं है तो यह भी मिथ्या है क्योंकि "अविण्णाय धम्मे" इस पदका अर्थ अज्ञानी या धर्मको बिल्कुल नहीं जानने वाला नहीं है। व्याकरणानुसार इसका अर्थ यह है कि—"न विज्ञातः श्रुतज्ञानतो धर्मो येन सः" अविज्ञात धर्मा अर्थात् जिसने विशेष रूपसे धर्मको नहीं जाना है वह अविज्ञात धर्मा पुरुष कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पहला देशाराधक पुरुष वह है जो श्रुतज्ञानको

इहढीवा जुईवा अमेतिया जलेनिवा चीरिग्गा पुरिमकाम परिकमेइगा? हन्ता ! अत्थि। तेण भन्ते ! देवा परलोगस्स आराहगा ? णोइणट्ठे समट्ठे" (उवाई सूत्र)

अर्थ—

(प्रश्न) हे भगवान्! जो, संयम और विरति रहित हैं तथा जिन्होंने भूत काल के पापों का हनन और भविष्यत् के पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया है वह इस लोक से मर कर क्या देवता हो सकता है ?

(उत्तर) कोई कोई देवता होता भी है और कोई नहीं भी होता है।

(प्रश्न) इसका कारण क्या है ?

(उत्तर) ग्राम, नगर, निगम, राजधानी खेट, कर्वट मडम्ब, द्रोणमुख, पट्टणासम, संवाह और सन्निवेशों में रहनेवाले जो जीव निर्जरा की इच्छा के बिना अकाम तृष्णा, अकाम क्षुधा अकाम ब्रह्मचर्य पालन अकाम स्नानका न करना तथा अकाम से सर्दी गर्मी, डांस, मच्छर स्वेद, धूलि, पङ्क, और मलका सहन करते हैं व थोड़े या बहुत दिनों तक क्लेश सहन करके काल का आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर वाण व्यन्तर नामक देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहीं उनकी गति स्थिति और वैभव की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) वे जीव देवता होकर देवलोक में कितने काल तक रहते हैं ?

(उत्तर) दस हजार वर्ष तक वे देवलोक में रहते हैं।

(प्रश्न) उन देवताओं को वहां पारिवारिक सम्पत्ति शरीर तथा भूषणोंकी दीप्ति, बल वीर्य पुरुषाभिमान और पराक्रम होते हैं ?

(उत्तर) होते हैं।

(प्रश्न) वे देवता परलोक यानी मोक्षमार्ग के आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं। वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं। यह उववाई सूत्र के उक्त लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है।

इस मूलपाठ में अकाम क्षुधा तृष्णा अकाम ब्रह्मचर्यपालन अकाम सर्दी, गर्मी, डांस मच्छर आदिका कष्ट सहन करके दस हजार वर्षकी आयुवाले देवता होनेवाले जीव को भी तीर्थङ्कर देवने मोक्ष मार्ग का आराधक न होना बतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईश्वर रहित निर्जरा का करना मोक्ष मार्ग का आराधन नहीं है। अन्यथा इस मूलपाठ में कहे हुए पुरुष को भगवान् मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कैसे बतलाते ? अतः संवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्ष का मार्ग कह कर उस करनी के करने से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को मोक्ष मार्ग का देशाराधक [illegible] इस पाठ से [illegible] चाहिये।

(६ ८ · (

आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है। जैसे कोई धनवान् यदि धनकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करता तो उसे दरिद्र नहीं कह सकते, वैसे ही यदि कोई पुरुष ज्ञान प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न (आराधना) नहीं करता तो उसे अज्ञानी नहीं कह सकते। अतः उक्त भगवतीकी चौभङ्गीके पहले भङ्गका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—

(१) देशाराधक—जो चारित्रकी आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है।

ऐसा मानना ही शास्त्र अनुकूल है इससे विरुद्ध अर्थ करनेसे "अविण्णायधम्मे" इस पाठमें दिया हुआ "वि" उपसर्ग निरर्थक ठहरता है और उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा से भी विरोध होता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है—

"नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न हुंति चरणगुणा"

अर्थात् मिथ्यादृष्टिको ज्ञान नहीं होता और बिना ज्ञानके चारित्र तथा गुण (पिण्ड विशुद्धि आदि) नहीं होते। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसमें ज्ञानके बिना चारित्रका न होना स्पष्ट कहा है इस लिये भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामी चारित्री पुरुषको अज्ञानी मानना इस गाथासे भी विरुद्ध होता है अतः भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामीको अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कायम करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये। सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्रकी आराधनासे भिन्न कोई मोक्ष मार्गकी आराधना नहीं कही है और उक्त आराधना जिसमें नहीं है उसको आराधक भी नहीं कहा है फिर इनसे रहित निर्जराकी करनीसे कोई मोक्ष मार्गका आराधक कैसे हो सकता है? यह पाठकोंको स्वयं सोच लेना चाहिये। अतएव इस चतुर्भङ्गीमें आराधक विराधकका चारभङ्ग बतला कर आराधनाका भेद बतलाते हुए आगमकारने तीन ही आराधना कही हैं पर चौथी निर्जरा आदिकी आराधना नहीं बतलाई है। वह पाठ—

"कतिविहाणं भन्ते! आराहणा पण्णत्ता गोयमा! तिविहा आराहणा पण्णत्ता तंजहा—णाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा"

(भगवती शतक ८ उ० १०)

अर्थ—हे भगवन्! आराधना कितनी होती हैं?

(उत्तर) हे गौतम! आराधना तीन प्रकारकी होती है ज्ञानकी आराधना दर्शनकी आराधना और चारित्रकी आराधना।

यहां मूल पाठमें ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनोंकी ही आराधना कही है पर निर्जराकी करनी आदिकी आराधना चौथी आराधना नहीं कही है। अतः ज्ञान रहित

निर्जराकी करनी करने कोई मोक्षमार्गकी आराधना करने वाला कदापि नहीं हो सकता। ऐसी दशामें संवर रहित निर्जराकी करनीसे वीतरागकी आज्ञाम ठहरा कर उस करनीसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका देशाराधक कहना उत्सूत्र भाषण करनेवालोंका कार्य समझना चाहिये।

बोल पाचवां।

(प्रेरक)

संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्ग की आराधना मे नहीं है इसलिए उस करनी से कोई मोक्ष मार्ग का आराधक नहीं हो सकता यह मुझे ज्ञान हुआ। परन्तु किसी मूलपाठ में संवर रहित निर्जरा की करनीकरनेवाले को मोक्ष मार्ग का आराधक न होना स्पष्ट लिखा हो तो उसे भी बतलाइये।

(प्ररूपक)

उववाई सूत्र के मूलपाठों में संवर रहित निर्जरा की करनी करने वाले जीवों को अलग अलग गिन कर उन्हें मोक्ष मार्ग का आराधक न होना स्पष्ट लिखा है। वे पाठ यहां दिये जाते हैं।

"जीवेण भन्ते ! असजए अविरए अपडिहयपच्चक्खाय पाव कम्मे इओचुए पेचा देवेसिया ? गोयमा ! अत्थे गइया देवेसिया अत्थे गइया णो देवेसिया। सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एव वुचइ अत्थेगइया देवेसिया अत्थेगइया णो देवे सिया ? । गोयमा ! जेइमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कव्वड मडव दोणमुह पट्टण समसवाह सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभ चेर वासेण अकाम अण्हाण सीय ताव दस मसग सेय जल्ल मल्ल पङ्क परितावेण अप्पतरो वा भुज्जतरो वा काल अप्पाणं परिकिले सन्ति, अप्पतरोवा भुज्जतरोवा काल अप्पाण परिकिलेसित्ता काल मासे काल किया अण्णयरेसु वाणमन्तरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उवव त्तारो भव ति। तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठोति तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसिंणं भन्ते ! देवाण केवइय काल ठीई पण्णत्ता गोयमा ! दसवाससहस्साइ ठिई पण्णत्ता। अत्थिण भन्ते ! तेसिं देवाण

इड्ढीया जुईया जसेनिया बलेनिया वीरिएणं पुरिसक्कार परिक्कमेणं?
हन्ता! अत्थि। तेणं भंते! देवा परलोगस्स आराहगा? णो इणट्ठे
समट्ठे" (उववाई सूत्र)

अर्थ—

(प्रश्न) हे भगवान्! जो, संयम और विरति रहित हैं तथा जिनने भूत काल के पापों का हनन और भविष्यत् के पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया है वह इस लोक से मर कर क्या देवता हो सकता है?

(उत्तर) कोई कोई देवता होता भी है और कोई नहीं भी होता है।

(प्रश्न) इसका कारण क्या है?

(उत्तर) ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पट्टन, आश्रम, संवाह और सन्निवेशों में रहनेवाले जो जीव निर्जरा की इच्छा के बिना अकाम तृष्णा, अकाम क्षुधा, अकाम ब्रह्मचर्य पालन, अकाम स्नान का न करना तथा अकाम से सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर, स्वेद, धूलि, पङ्क, और मल का सहन करते हैं वे थोड़े या बहुत दिनों तक अकाम सहन करके समय आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उनकी स्थिति और स्वभाव की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) वे जीव देवता होकर स्वर्गलोक में कितने काल तक रहते हैं?

(उत्तर) दश हजार वर्ष तक वे देवलोक में रहते हैं।

(प्रश्न) उन देवताओं को वहां पारिवारिक सम्पत्ति, द्युति तथा सुवर्णादि की कांति, बल, वीर्य, पुरुषाभिमान और पराक्रम होते हैं?

(उत्तर) होते हैं।

(प्रश्न) वे देवता परलोक यानी मोक्षमार्ग के आराधक हैं?

(उत्तर) नहीं। वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं। यह उववाई सूत्र के ऊपर लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है।

इस मूलपाठ में अकाम क्षुधा तृषा अकाम ब्रह्मचर्यपालन अकाम सर्दी, गर्मी, डांस मच्छर आदि का कष्ट सहन करके दश हजार वर्ष की आयुवाले देवता होनेवाले जीव को श्री तीर्थंकर देव ने मोक्ष मार्ग का आराधक न होना बतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यक्त्व रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्ग के आराधन में नहीं है। अन्यथा इस मूलपाठ में कहे हुए पुरुष को भगवान मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कैसे बतलाते? अतः सम्यक्त्व रहित निर्जरा की करनी को मोक्ष का मार्ग कह कर उस करनी के करने से मिथ्यादृष्टि अज्ञानियों को मोक्ष मार्ग का आराधक बतलाना प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध समझना चाहिये।

(६ छट्ठा बोल समाप्त)

(प्ररूपक)

जो भारे असंक्लिष्ट परिणाम से हाडी (खोड़ा) बन्धनादि दुःख सह कर बारह हजार वर्ष की आयु से देवता होते हैं उन्हें इसी जगह उववाई सूत्र में मोक्षमार्ग का आराधक न होना कहा है। यह पाठ—

"से जे इमे गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कब्बड मडंब दोणमुह पट्टणासम संवाह सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति तंजहा— अडुबद्धका णियलबद्धका हडिबद्धगा हत्थछिन्नका पायछिन्नका कण्णछिन्नका णक्कछिन्नका उट्ठछिन्नका जिब्भछिन्नका सीसछिन्नका मुखछिन्नका मज्झछिन्नका वेकच्छछिन्नका हियउप्पाडियगा णयणुप्पाडियगा दसणुप्पाडियगा वसणुप्पाडियगा गेवछिन्नका तंडुलछिन्नका कागणिमंसक्खाइयया ओलम्बिया लम्बियया घंसियया घोलियया फाडियया पीलियया सूलाइयया सूलभिन्नका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपुच्छियया दवग्गिदड्ढगा पंकोसण्णका पंकेखुत्तका वलयमयका वसट्टमयका नियाणमयका अन्तोसल्लमयका गिरिपडियका तरुपडियका गिरिपक्खंदोलिया तरुपक्खंदोलिया मरुपक्खंदोलिया जलपवेसिका जलणपवेसिका विसभक्खितका सत्थोवाडितका वेहाणसिया गिद्धपिट्ठका कन्तारमतका दुब्भिक्खमतका असंकिलिट्ठपरिणामा ते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु वाणमन्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति। तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसिणं भन्ते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा! बारसवाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता। अत्थिणं भन्ते! तेसिं देवाणं इड्ढीवा जुईवा जसेतिवा बलेतिवा वीरिएवा पुरिसक्कार परक्कमेइवा? हन्ता! अत्थि। तेणं भन्ते! देवा परलोगस्स आराहगा? णोइणट्ठे समट्ठे"

(उववाई सूत्र)

मोक्ष मार्ग के आराधक में होती तो भगवान् इन पुरुषों को मोक्षमार्ग का आराधक न होना कदापि न कहते। क्योंकि संवर रहित निर्जरा की क्रिया इन पुरुषोंमें पूर्णतया विद्यमान है। अतः संवर रहित अज्ञ अज्ञानी (मिथ्यात्वी) के साथ की जाने वाली निर्जरा की करनी को वीतराग की आज्ञा में मानना उत्सूत्र भाषी का कार्य समझना चाहिये।

[बोल दशवां समाप्त]

(प्रकरण)

जो गंगाके किनारे पर रहते हैं, जो अग्निहोत्री हैं जो वानप्रस्थ हैं जो कन्द मूल फल आदि का आहार करते हैं उनको एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयु का देवता होना कहा पर भगवान्ने मोक्षमार्ग का आराधक न होना बतलाया है। वह पाठ—

"से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति तंजहा—होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णई सड्ढई, थालई, हुंबउट्ठा दंतु क्खलिया उम्मज्जगा सम्मज्जगा निमज्जगा संपक्खाला दक्खिण कूलगा उत्तरकूलगा संखधमगा कूलधमगा मिगलुद्धगा हत्थितावसा दिसापोक्खिणो वाकवासिणो अंबुवासिणो बिलवासिणो जलवासिणो चेलवासिणो रुक्खमूलिया अंबुभक्खिणो वायुभक्खिणो सेवाल भक्खिणो मूलाहारा कन्दाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा बीया हारा परिसडियकन्दमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसेअकढिण गायभूए आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंडुसोल्लियं कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउ णंति। बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। पलि ओवमं वाससयसहस्समब्भहियं ठिई। आराहगा? णो इणट्ठे समट्ठे"

(उवाइ सूत्र)

अर्थ —

गंगातटमें निवास करनेवाले वानप्रस्थ तापस जो अग्निहोत्र करते हैं जो वस्त्रधारी और पृथ्वीपर सोते हैं जो यज्ञ कराते हैं जो श्रद्धा रखते हैं जो भाण्ड ग्रहण किये रहते हैं जो कमण्डलु धारी हैं जो सिर्फ फल खाकर रहते हैं जो पानीमें एक बार डुब्बी लगाकर निकल जाते हैं जो

पानीमें बार बार डुबकी लगाते हैं जो पानीमें डुबकी लगाकर बहुत देर तक रहते हैं जो शरीरमें मृत्तिका लगाकर स्नान करते हैं जो गंगाके दक्षिण तटपर रहते हैं जो गंगाके उत्तर तटपर रहते हैं जो शंख बजा कर भोजन करते हैं जो तटपर ऊपर शब्द करके भोजन करते हैं जो मृग मार कर उसके मांससे बहुत दिन तक अपना निर्वाह करते हैं जो हाथी मार कर उसके मांससे चिरकाल तक अपना उदर पालन करते हैं जो दिशाओंके अन्दर जल छिड़क कर फल तोड़ते हैं जो दण्डको ऊंचा करके भोजन करते हैं जो वृक्षके छिलके पहिनते हैं जो जलमें निवास करते हैं जो बिल बना कर रहते हैं जो जलमें प्रवेश करके रहते हैं जो समुद्रके तट पर रहते हैं जो वृक्षकी जड़में निवास करते हैं जो पानी पीकर रहते हैं जो हवा पीकर रहते हैं जो शैवाल खाकर रहते हैं जो कन्द, मूल, त्वचा, पत्ते फूल और फल खाकर रहते हैं जो सड़े गले कन्द मूल फल आदिको खाकर रहते हैं जिनका शरीर जल स्नान करनेसे कठिन हो गया है जिनका शरीर पञ्चाग्नि तापनेसे कोयला, कढ़ाही और अधजले काठकी तरह काला हो गया है ये सब तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रव्रज्याका पालन करके काल आने पर मृत्युको प्राप्त होकर उत्कृष्ट ज्योतिष्क नामक देव लोकमें जाते हैं। वहां पर उनकी एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी स्थिति होती है। शेष पूर्ववत् जानना चाहिये। ये सब तापस भी परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं। यह ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है।

इस पाठमें कहा है कि जो अज्ञानी तापस कन्द मूल फलादिका आहार करके पञ्चाग्नि तापकर अग्निहोत्र करके तथा जलमें शयन आदि करके एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयुके देवता होते हैं वे परलोकके आराधक नहीं हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्गकी आराधनामें नहीं है क्योंकि उक्त पाठमें गिनाये हुए तपस्वी संवर रहित निर्जराकी करनी करते हैं तो भी उन्हें मोक्ष मार्गका आराधक न होना कहा गया है। यदि संवर रहित निर्जराकी करनी मोक्ष मार्गकी आराधनामें होती तो उक्त तपस्वी मोक्षमार्गके अनाराधक क्यों कहे जाते? अतः संवर रहित निर्जराकी करनीको मोक्षमार्गमें कायम करना प्रत्यक्ष मूल पाठसे विरुद्ध समझना चाहिए।

(बोल ग्यारहवां समाप्त)

(प्ररूपक)

छठे बोलसे लेकर ग्यारहवें बोल तक उवाई सूत्रके मूल पाठोंकी साक्षीसे संवर रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गकी आराधनामें न होना कहा गया है। उवाई सूत्रमें इस विषय पर और भी पाठ आये हैं। इन सभी पाठोंमें संवर रहित निर्जराकी करनीको और इन कार्योंका आचरण करने वाले अज्ञानी तापसोंको अलग अलग गिन कर यह स्पष्ट कहा गया है कि ये अज्ञानी तापस मोक्षमार्गके आराधक नहीं हैं। यह देखते हुए जिस

"सम्यक्त्व बिना संयमकी शुद्ध क्रिया पालन कर जीव नव में वेक स्वर्ग तक गया परन्तु कुछ गरज नहीं सरी मिथ्यात्वी ही रहा।' इसके आगे भीषणजीने फिर लिखा है कि "नवतत्त्व ओलख्या बिना पहरे साधुरो भेष। समण पद नहीं तेहने भारी हुवे विशेष' इसका अर्थ उक्त श्रावक गुलाब चन्दजीने इस प्रकार किया है कि 'नवतत्त्वका ज्ञान बिना वह मनुष्य साधु वेष पहन कर साधु बन जाते हैं लेकिन उनको साधुके आचारका क्रिया शास्त्र वचनोंकी समझ नहीं पड़ती सिर्फ वषधारी द्रव्य साधु हैं। उदाहरण चहर पात्रादि साधु वेष अनन्तवार ग्रहण किया और गोतम स्वामी जैसी क्रिया मिथ्यात्व पनमें करके नवमें वेक कल्पातीत तक जीव जा पहुंचा परन्तु कुछ भी मोक्ष फलितार्थ न हुआ।'

इन पद्योंमें भीषणजीने साफ साफ स्वीकार किया है कि सम्यक्त्व पाये बिना अज्ञान दशामें चाहे गोतम स्वामी जैसी साधुपनकी क्रिया भी की जाय पर उससे किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। यदि मिथ्यात्व दशाकी करनी मोक्ष मार्गमें होती तो भीषणजी उस करणीसे किञ्चित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कैसे कहते ? अतः भीषणजीने इस पद्यमें अकाम निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट स्वीकार किया है। तथा जीतमलजीने भी आराधनाकी ढालमें अकाम निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमें न होना स्वीकार किया है। जैसे कि उन्होंने लिखा है—

"जे समकित विन मैं। चारित्रनी किरियारे, बार अनंत करी पिण काज न सरीयार' अर्थात् सम्यक्त्व पाये बिना मैंने अनन्त वार चारित्रकी क्रिया की थी, पर उससे कुछ भी कार्य नहीं सिद्ध हुआ। इस पद्यमें जीतमलजीने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मिथ्यात्व दशाकी करनीसे कार्य नहीं सिद्ध होता। यदि मिथ्यात्व दशामें की जाने वाली अकाम निर्जराकी करनी मोक्ष मार्गके आराधनमें है तब फिर उससे कार्य नहीं सिद्ध होने का क्या कारण है ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व दशाकी करनी मोक्ष मार्गमें नहीं है तथापि जान बूझ कर भोले जीवोंमें भ्रम फैलानेके लिये जीतमलजीने भ्रमविध्वंसन में अपनी उक्ति तथा भीषणजीकी उक्ति और शास्त्रसे भी विरुद्ध मिथ्यात्व दशाकी करनी को मोक्ष मार्गमें कह दिया है। अतः तामली तापस और पूरण तापसका उदाहरण देकर संवर रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गमें कायम करना मिथ्या समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि 'भीषणजी और जीतमलजीके पूर्वोक्त पद्यमें ... [illegible] लिगार' और 'काज न सरियार' इसका भाव यह नहीं है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आराधन नहीं होता किन्तु सम्यक्त्व पाये बिना मुक्ति नहीं होती यह आशय है' तो यह भी मिथ्या है क्योंकि प्रथम मोक्षकी प्राप्ति तो यथार्थ ... [illegible] और यथाख्यातचारित्र वालोंको ही होती है उनसे इतरकी उसी भवमें मुक्ति नहीं

होती। यदि मुक्ति नहीं होनेसे मिथ्यात्व दशाकी करनी किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध करती तो फिर चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ११ वें गुणस्थान तककी क्रियासे भी किंचित् प्रयोजन न सिद्ध होना मानना पड़ेगा क्योंकि इन गुणस्थानोंमें जीव भी इससे ऊपरके गुण स्थानोंमें गये बिना मोक्षगामी नहीं होते। यदि कहो कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ११ वें गुण स्थान तकके जीवोंकी क्रिया परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उन क्रियाओंसे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना नहीं कहा जा सकता तो फिर भ्रमविध्वंसन कारकी श्रद्धानुसार मिथ्यात्व दशाकी क्रिया भी परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उससे भी प्रयोजनका न सिद्ध होना नहीं कहना चाहिये। परन्तु भीषणजी और जीतमलजीने जो पहले मिथ्यात्वदशाकी क्रियासे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कहा है इससे स्पष्ट जाना जाता है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ये लोग भी मोक्ष मार्गकी आराधना नहीं मानते परन्तु अपने शास्त्र विरुद्ध पक्षको आगेसे पुष्ट कर भ्रमविध्वंसन में मिथ्यात्वीकी क्रियाको जीतमलजीने मोक्ष मार्ग में कह दिया है अतः भ्रमविध्वंसन कारकी यह प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये।

बोल चौदहवां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६ के ऊपर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये यह लिखते हैं कि—"तिहां प्रथम गुणठाणारे धणी सुमुख गाथापति दान देई परीत संसार कर्यो मनुष्यनो आयुषो बाध्यो सुबाहु कुमारने पाठिले भव सुमुख गाथापति ६ई" इत्यादि कहनेका तात्पर्य यह है कि सुमुख गाथा पतिने मिथ्यात्व दशाकी करनीसे संसार परिमित करके मनुष्यकी आयु बांधी थी, इसमें मिथ्यात्व दशाकी क्रिया मोक्ष मार्ग में सिद्ध होती है। यदि मिथ्यात्वीकी क्रिया मोक्ष मार्गमें न होती तो सुमुखगाथा पतिका संसार उससे परिमित कैसे होता ? इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम गुणस्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित नहीं होता क्योंकि संसारका कारण मिथ्यात्व उनमें मौजूद रहता है। जब सम्यग् दर्शनके उदयसे मिथ्यात्व का विनाश होता है तब संसार परिमित होता है परन्तु मिथ्यात्वके रहने पर नहीं होता। कारण के रहने पर कार्यका न होना असम्भव है। अतः मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित होना जो बतलाना है उसे अज्ञानियोंका गिरोमणि समझना चाहिये।

सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यात्वी नहीं था इसलिये उसका संसार परिमित हुआ। अब प्रश्न यह होता है कि सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टि था इसमें क्या प्रमाण ?

सो इसका उत्तर यह है कि सुमुख गाथापतिने जिसप्रकार से दान दिया जो विपाक सूत्रमें मूलपाठ आया है वही प्रमाण है। वह पाठ मूलपाठ लिख कर बतलाइ जाता है।

वह पाठ यह है।

"तेण कालेण तेण समएण धम्मघोसाण थेराण अन्तेवासी सुदत्ते नाम अणगारे उराले जाव सरित्त विउल तेउलेसे मास मासेण खममाणे विहरन्ति। तत्तेण सुदत्ते अणगार मासखमणपारण गंसि पढमाए पोरसीए सज्झाय करति जहा गोयमसामी तहेव सुधम्मेथेरे आपुच्छति जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गिहं अणुपविट्ठे। तत्तेण सुमुहे गाहावइ सुदत्त अणगार एज्जमाण पासइ पासित्ता हट्ठतुट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठित्ता पादपीठाओ पच्चोरूहति पाओयाओ मुयइ एगसाडिय उत्तरासङ्ग करइ सुदत्त अनगार सत्तट्ठपयाइ पच्चुगच्छइ तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ वंदइ नमंसइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सयहत्थेण विउलेण असण पाण खाइम साइम पडिलाभेस्सामीति तुट्ठे ३ तत्तेणं तस्स सुमुहस्स तेण दव्वसुद्धेण तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं २ सुदत्ते अणगार पडिलाभएसमाणे परीत्त संसारकए मणुस्साउए निबद्धे"

(विपाक सूत्राध्ययन विपाक)

अर्थ —

उस समय धर्म घोष नामक स्थविरके अन्तेवासी शिष्य सुदत्त नामक अनगार बड़ा उग्र तथा तपस्याको गुप्त रखने वाले मास मासका क्षमण करते हुए जीवन व्यतीत करते थे। वे एक समय तपस्याके पारणके दिन प्रथम पौरसीमें स्वाध्याय करते थे इत्यादि गौतम स्वामीकी तरह समझना चाहिये। वह सुदत्त अनगार अपने गुरु धर्मघोष स्थविरसे पूछ कर बाहर गोचरीके निमित्त जाते हुए सुमुख नामक गृहस्थके घरपर गये। अनन्तर सुमुख गाथापतिने सुदत्त अनगारको आते हुए देख कर हर्षके साथ आसन छोड़ दिया और पादपीठसे नीचे उतरकर पादुकाओंको छोड़कर एक शाटिक वस्त्रको उत्तरासङ्ग करके मुनिके सम्मुख सात आठ पग तक आगे गया। इन्होंने मोहसे उसने मुनिको तीन बार प्रदक्षिणा दी और मुनिको वन्दन नमस्कार करके वह अपने भोजन गृहमें आया। वहां उसको इस बातका लिए बहुत हर्ष हो रहा था कि आज मैं अपने हाथसे मुनिको

होती। यदि मुक्ति नहीं होनेसे मिथ्यात्व दशाकी करनी किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध करती तो फिर चतुर्थगुणस्थानसे लेकर ११ वें गुणस्थान तककी क्रियासे भी किञ्चित् प्रयोजन न सिद्ध होना मानना पड़ेगा क्योंकि इन गुणस्थानोंमें जीव भी द्वादशादि गुणस्थानोंमें गये बिना मोक्षगामी नहीं होते। यदि कहो कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ११ वें गुणस्थान तककी जीवोंकी क्रिया परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उन क्रियाओंसे किञ्चित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना नहीं कहा जा सकता तो फिर भ्रमविध्वंसनकारकी श्रद्धानुसार मिथ्यात्व दशाकी क्रिया भी परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उससे भी प्रयोजनका न सिद्ध होना नहीं कहना चाहिये। परन्तु भीषणजी और जीतमलजीने उक्त पद्योंमें मिथ्यात्वदशाकी क्रियासे किञ्चित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कहा है इससे स्पष्ट जाना जाता है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ये लोग भी मोक्ष मार्गकी आराधना नहीं मानते परन्तु अपने शास्त्र विरुद्ध पक्षके आग्रहमें पड़ कर भ्रमविध्वंसनमें मिथ्यात्वीकी क्रियाको जीतमलजीने मोक्ष मार्गमें कह दिया है अतः भ्रमविध्वंसनकारकी यह प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये।

बोल चौदहवां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६ पर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये यह लिखते हैं कि—"वली प्रथम गुणठाणारो धणी सुपात्र दान देई परीत संसार करी मनुष्यनो आयुषो बांध्यो सुबाहु कुमारने पाछिले भवे सुमुख गाथापति इ" इसका कहनेका तात्पर्य यह है कि सुमुख गाथापतिने मिथ्यात्व दशाकी करनीसे संसार परिमित करके मनुष्यकी आयु बांधी थी, इससे मिथ्यात्व दशाकी क्रिया मोक्ष मार्गमें सिद्ध होती है। यदि मिथ्यात्वीकी क्रिया मोक्ष मार्गमें न होती तो सुमुखगाथापतिका संसार उससे परिमित कैसे होता ? इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम गुणस्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित नहीं होता क्योंकि संसारका कारण मिथ्यात्व उनमें मौजूद रहता है। जब सम्यग् दर्शनके उदयसे मिथ्यात्व का विनाश होता है तब संसार परिमित होता है परन्तु मिथ्यात्वके रहने पर नहीं होता। कारणके रहने पर कार्यका न होना असम्भव है। अतः मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित होना जो बतलाता है उसे अज्ञानियोंका शिरोमणि समझना चाहिये।

सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यात्वी नहीं था इसी लिए उसका संसार परिमित हुआ। अब प्रश्न यह होता है कि सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टि था इसमें क्या प्रमाण ?

दान देकर अपना संसार परिमित किया था यह भी इसके सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है। यद्यपि भ्रमविध्वंसनकारने मिथ्यात्विक्रिया भी संसार परिमित होना लिखा है परन्तु यह बात शास्त्र विरुद्ध है। जबतक अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभका क्षयोपशम या उपशम नहीं होता तबतक संसार परिमित नहीं होता। अनन्तानुबंधी क्रोधादि का यही अर्थ है कि वह अनन्त संसारका अनुबंध करता है। उसके होते हुए संसार परिमित हो जाय यह बात असंभव है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें "अनन्तानुबंधी शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है "अनन्तं भवमनुबध्नात्यविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी" जो धारा प्रवाह विच्छेदरहित अनन्तकाल तक संसारको उत्पन्न करता है उसे "अनन्तानुबन्धी" कहते हैं।

अनन्तानुबंधी क्रोधादि जबतक सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती तबतक नष्ट नहीं होता और उसके रहते रहते संसारका समुच्छेद नहीं होता इसलिए सुमुख गाथापतिमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका क्षयोपशम या उपशम होना अवश्य ही मानना पड़ेगा और उसके मान लेनेपर सुमुख गाथापतिका सम्यग्दृष्टि होना अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। अतः सुमुख गाथापतिको मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे संसार का परिमित होना, बतला कर उसे मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए।

(बोल १५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८ के ऊपर मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे संसार परिमित होना सिद्ध करनेके लिए लिखते हैं कि—"वली मेघकुमाररो जीव पाछिले भवे हाथी सुसलारी दया पाली परीत संसार मिथ्यात्वी थके कियो।"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

हाथीका भव पाया हुआ मेघ कुमारका जीव शशक आदि प्राणियोंकी प्राणरक्षा करते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं यह बात ज्ञाता सूत्रके मूलपाठसे सिद्ध होती है। उस मूलपाठमें हाथीको साक्षात् सम्यग्दृष्टि कहा है वह पाठ निम्नलिखित है —

'तजइ ताव तुमं मेहा तिरिक्खजोणियभावमुवागएणं अपडिलद्धसम्मत्तरयणलंभेणं होपाणं पाणाणुकम्पयाए जाव अन्तरा चेव सन्धारिए णोचेवणं णिक्खित्ते"

(ज्ञाता अध्ययन १)

दान देकर अपना संसार परिमित किया था यह भी इसके सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है। यद्यपि भ्रमविध्वंसनकारने मिथ्यादृष्टिका भी संसार परिमित होना लिखा है परन्तु यह बात शास्त्र विरुद्ध है। जबतक अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभका क्षयोपशम या उपशम नहीं होता तबतक संसार परिमित नहीं होता। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि का यही अर्थ है कि यह अनन्त संसारका अनुबन्ध करता है। इसके होते हुए संसार परिमित हो जाय यह बात असंभव है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें "अनन्तानुबन्धी" शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है "अनन्तं भवमनुबध्नात्यविच्छिन्नंकरोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी" जो धारा प्रवाह विच्छेदरहित अनन्तकाल तक संसारको उत्पन्न करता है उसे "अनन्तानुबन्धी" कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी क्रोधादि जबतक सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होता तबतक नष्ट नहीं होता और उसके रहते रहते संसारका समुच्छेद नहीं होता इसलिए सुमुख गाथापतिमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका क्षयोपशम या उपशम होना अवश्य ही मानना पड़ता और उसके मान लेनेपर सुमुख गाथापतिका सम्यग्दृष्टि होना अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। अतः सुमुख गाथापतिको मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे संसार का परिमित होना, बतला कर उसे मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिए।

(बोल १५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८ के ऊपर मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे संसार परिमित होना सिद्ध करनेकेलिए लिखते हैं कि—"वली मेघकुमारनो जीव पा छिले भवे हाथी सुसलारी दया पाली परीत संसार मिथ्यात्वी थके कियो।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

हाथीका भव पाया हुआ मेघ कुमारका जीव शशक आदि प्राणियोंकी दया पालन करते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं यह बात ज्ञाता सूत्रके मूलपाठसे सिद्ध होती है। उस मूलपाठमें हाथीको साक्षात् सम्यग्दृष्टि कहा है वह पाठ लिखा जाता है —

'तंजइ ताव तुमे मेहा तिरिक्खजोणियभावमुवागएणं अपडिलद्धसम्मत्तरयणलंभेणं सेणं पाणाणुकम्पयाए जाव अन्तरा चेव संधारिए णो चेवणं णिक्खित्ते"

(ज्ञाता अध्ययन १)

इसका टब्बा अर्थ यह है—"सं० तेमार्ग तिणे सुमुख सीन भव, म० मेघा ! जिणवर्णी योनि भावइ सु० उपनाहता अ० अनपाम्या अठ्या सम्यक्त्व रूपीआ रयणाम्या स० तिणेकी सप्राणिनी अनुकम्पाइ जा० ज्याइ करी जा० यावत् तिहापण ऊ थारोऽया तम मनुष्य भवपाम्या।"

यह टब्बा अर्थ भीषणजीके जन्मसे पहलेका लिखा हुआ प्राचीन है हस्तलिखित प्रतियोंमें इसके लिखे जानेकी मिति संवत् १७६८ लिखी है—

जैसे कि—"सवत् १७६८ वर्षे शा० १६६३ प्रथम कार्तिक मासे शुक्ल पक्षे ११ तिथौ भृगुवासर लिपिकृत मुनिरूपूरसागर" यह लिखा है। इसमें "अपडिलद्धसम्म रयण लभेणं" इस पदका अर्थ यह किया है कि "अनपाम्यो अठ्यो सम्यक्त्वरूपी रत्न पाम्यो" अर्थात् "हाथीने पहले नहीं पाये हुए सम्यक्त्व रूपी रत्नको उस समय प्राप्त किया था।" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह हाथी शशक आदि प्राणियोंकी प्राण रक्षा करतेसमय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं। इस टब्बा अर्थमें जो "अपडिलद्ध सम्मत्त रयणलभेणं" इस पदका सम्यक्त्व रूपी रत्नको पाना अर्थ लिखा है वह व्युत्पत्तिसे भी निकलता है। जैसे कि इस पदकी संस्कृतच्छाया "अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व रत्न लभेन" बनती है। और इसकी व्युत्पत्ति यह है कि "अप्रतिलब्धमप्राप्त यत्सम्यक्त्व रत्न तल्लभन इति अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व रत्न लभस्तेन" अर्थात् पहले कभी नहीं पाये हुए सम्यक्त्व रत्नको प्राप्त करने वाला" यह इसका अर्थ है। इस लिये टब्बाकारने किया हुआ अर्थ व्युत्पत्तिसे भी सङ्गत है तथापि हाथीको मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यात्वदशाकी क्रियासे संसारका समुच्छेद बतलाना उत्सूत्र भाषियोंका कार्य्य समझना चाहिये। कई अशुद्ध टब्बाओंमें उक्त पदका अर्थ अशुद्ध किया है। जैसे भ्रमविध्वंसनमें उक्त पदका अशुद्ध टब्बा अर्थ लिखा है ऐसे अशुद्ध टब्बाओंका आश्रय लेकर जगत्में भ्रम फैलाना सच्चे साधुओंका कर्त्तव्य नहीं है। अतः भ्रमविध्वंसनकारने मूलपाठसे विरुद्ध हाथीको मिथ्यादृष्टि बतलाया है वह मिथ्या समझना चाहिए।

बोल १६ वां

(प्रेरक)

ज्ञाता सूत्रके मूलपाठमें हाथीको शशकादि प्राणियोंकी प्राणरक्षा करते समय सम्यग्दृष्टि हो लिखा है यह ज्ञात हुआ। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १० के ऊपर लिखते हैं कि "वगायाम इम दलपतिरायजी प्रश्न पूछ्या तेहना उत्तर दौलतरामजी दीधा छै। ते प्रश्नोत्तर मध्य पिण हाथीने सुमुख गाथापतिने प्रथम गुणठाणे कह्या छै"

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युत्तर)

दौलतरामजीके साथ दलपतिरायजीके जो प्रश्नोत्तर हुआ है उसकी सम्वत् १८९१ की लिखी हुई प्रति मेरे पास मौजूद है उसमें हाथी और सुमुखगाथापतिका प्रथम गुण स्थानमें होना कहीं नहीं कहा है अत उक्त प्रश्नोत्तरीका उदाहरण देकर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कायम करना मिथ्या है। तथा भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १० के नोटमें दौलतराम जी और दलपतिरायजीको "कोटा बूंदीके आसपास विचरनेवाले बाईस सम्प्रदायके साधु" लिखा है यह भी मिथ्या है। दलपतिरायजी देहलीके रहने वाले बाईस सम्प्रदायके प्रसिद्ध श्रावक थे साधु नहीं थे तथा इनके प्रश्नोत्तरमें हाथी तथा सुमुखगाथा पतिको मिथ्यात्वी होनेका कथन भी नहीं है अत उक्त प्रश्नोत्तरीका दाखला देकर जो नोटके अन्दर लिखा है कि "उक्त प्रश्नोत्तरीके १२८ वें प्रश्नके उत्तरमें हाथीको और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहा है" यह सब मिथ्या समझना चाहिए।

तेरह पन्थियोंको इस प्रश्नोत्तरीकी बात यदि मान्य हो तो इसके ५८ वें प्रश्नके उत्तरमें मिथ्यात्वीके अन्दर मोक्षमार्गरूप सकाम निर्जराका प्रतिषेध किया है इस लिये मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका देशाराधक नहीं मानना चाहिये। वह ५८ वा प्रश्न और उस का उत्तर निम्नलिखित है—

"मिथ्यात्वीनो सकाम निर्जरा हो या न हो, तहनो उत्तर—मोक्ष प्रति सकाम निर्जरा न होवे" इस प्रश्नोत्तरमें मिथ्यादृष्टिमें मोक्षमार्गका न होना स्पष्ट कहा है तथापि इसी प्रश्नोत्तरीका उदाहरण देकर जीतमलजीने मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका आराधक बतलाया है, यह इनका प्रत्यक्ष मिथ्याभाषण समझना चाहिये।

यहां विशेष ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि—किसी भी आधुनिक छद्मस्थ अल्पज्ञकी बात शास्त्राधारके बिना नहीं मानी जाती यह आग्रह तो भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायियोंका ही है जो बाबा वाक्यको प्रमाण मान कर लकीरके फकीर बने हैं। उनके भीखणजी आदिकी बात यदि सूत्रके मूलपाठसे भी विरुद्ध हो तो भी ये उसे नहीं छोड़ते यही तो आभिनिवेशिक मिथ्यात्वका लक्षण है। परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सूत्रमार्गको समझ कर हठ नहीं करते। चाहे किसीका कथन हो सूत्र विरुद्ध बात वे नहीं मानते।

[बोल १७ वां समाप्त]

(प्रश्न)

सुमुखगाथापतिने सुदत्त अनगारको जैसे वन्दन नमस्कार किया है वैसा नम गोशालकके शिष्य सद्दालपुत्रने भी भगवान महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार कि था यदि मुनिको वन्दन नमस्कार करना ही सम्यग्दृष्टिका लक्षण है तो फिर गोशाल

शिष्य शकडाल पुत्रको भी सम्यग्दृष्टि ही मान लेना चाहिये। परन्तु यदि तुम आप सम्यग्दृष्टि नहीं मानते तो फिर सुमुखगाथापतिको सम्यग्दृष्टि क्या मानते हैं ?

(प्रत्युत्तर)

सुमुखगाथापतिके वन्दन नमस्कारको गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रके वन्दन नमस्कार जैसा बतलाना अयुक्त है सुमुखगाथापतिने बिना किसीकी प्रेरणा और स्वार्थ के अपनी हार्दिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे सुदत्त अनगारको वन्दन नमस्कार किया था परन्तु शकडाल पुत्रने देवताके कहने, और उसके दवावसे भगवानको वन्दन नमस्कार किया था। इसलिये इन दोनोंके वन्दन नमस्कार तुल्य नहीं हैं।

जैसे कोई मनुष्य अपनी स्वाभाविक इच्छासे साधुका आचार पालता है और दूसरा अभव्य होकर भी सांसारिक पूजा प्रतिष्ठा आदिके लोभसे साधुका आचार पालता है ये दोनों पुरुष व्यवहार दृष्टिसे यद्यपि साधुका आचार पालने वाले ही कहे जाते हैं तथापि इनके आचार पालनमें तुल्यता नहीं है किन्तु महान भेद है उसी तरह जो अपनी मानसिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे मुनिको वन्दन नमस्कार करता है और जो किसीकी प्रेरणा या दबावसे वन्दन नमस्कार करता है इन दोनोंके वन्दन नमस्कारमें भी तुल्यता नहीं है महान् अन्तर है। सुमुखगाथापतिने अपनी इच्छा और स्वाभाविक श्रद्धा से मुनिको वन्दन नमस्कार आदि किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार सम्यग्दृष्टिका वन्दन नमस्कार है और वह मोक्षका मार्ग है परन्तु शकडाल पुत्रने देवताके कहनेसे वन्दन नमस्कार किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार आन्तरिक भक्तिशून्य द्रव्य रूप होनेसे मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार है वह मोक्षका मार्ग नहीं है। अतः इन दोनोंको तुल्य बतलाना मिथ्या है। शकडाल पुत्रने देवताके कहनेसे भगवान् महावीरस्वामीको वन्दन नमस्कार किया था अपनी इच्छासे नहीं यह बात उपासक दशाग सूत्रके मूलपाठमें कही है। वह पाठ यह है—

"समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीवियोवासयं एवं वयासी से नूणं सद्दाल पुत्ता ! कल्लं तुमं पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवणिया जाव विहरसि तएणं तुज्झ एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था तएणं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी— हं भो सद्दाल पुत्ता ! तचेव सव्वं जाव पज्जुवासिस्सामि सेनूणं सद्दाल पुत्ता ! अट्ठे समट्ठे ! हंता अत्थि। नो खलु सद्दाल पुत्ता ! तेणं देवेणं गोसालं मंखलि पुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते। तएणं तस्स सद्दाल

पुत्तस्स आजीवियो वासगस्स समणेण भगवया महावीरेण एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिये ४ एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्ननाणदंसणधरे जाव तच्चकम्मसंपया संपउत्ते"

(उपासक दशांग अ० ६)

अर्थ—

श्रमण भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रसे कहा कि हे शकडाल पुत्र ! कल सन्ध्या समय अशोक वाटिकामें एक देव आया हुआ था। वहाँ एक देवने तुम्हारे निकट आकाशमें स्थित होकर यह कहा था कि कल यहाँ महामाहन ज्ञान दर्शनका धारक यावत् सकल क्रियाओंसे युक्त पुरुष आवेगा तुम उसका वन्दन नमस्कार आदि यावत् शय्या संथारासे उपनिमंत्रित करना। यह सुन कर तुमने निश्चय किया कि कल मेरे गुरु गोशालक मंखलिपुत्र आवेंगे उनकी वन्दना नमस्कार आदि यावत् उपासना मैं करूंगा क्या यह बात सत्य है ? यह सुन कर शकडाल पुत्रने कहा कि हाँ सत्य है। तब फिर भगवान्ने कहा कि हे शकडाल पुत्र ! उस देवताने गोशालक मंखलिपुत्रके लिये ऐसा नहीं कहा था। इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामीके कहने पर शकडाल पुत्रको यह निश्चय हुआ कि यह तो भगवान् महावीर स्वामी हैं यही महामाहन ज्ञान-दर्शनके धारक यावत् सकल क्रियाओंसे युक्त हैं यह इस पाठका अर्थ है।

इससे स्पष्ट कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने जब गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रसे यह कहा कि "अशोक वाटिकामें आकर देवताने जो बात कही थी वह गोशालक मंखलिपुत्रके लिये नहीं" तब शकडाल पुत्रको यह मालूम हुआ कि यह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं पर हमारे गुरु गोशालक नहीं हैं। इससे निश्चित होता है कि शकडाल पुत्र अपने गुरु गोशालकको आया हुआ जानकर यहाँ आया था और आते समय उसने भगवान् महावीर स्वामीको गोशालक समझ कर वन्दन नमस्कार किया था। अतः उसका यह वन्दन नमस्कार वास्तवमें भगवान् महावीर स्वामीको न होकर उसके गुरु गोशालक मंखलि पुत्रको ही हुआ। पश्चात् भगवान् महावीर स्वामीके कहने पर जब उसका वह भ्रम दूर हुआ और उसने भगवान् महावीरको जान लिया तब अशोक वाटिकामें मिले हुए देवताकी प्रेरणासे भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था परन्तु उनको गुरु जान कर आन्तरिक भक्तिके साथ नहीं इसलिये उसका यह वन्दन नमस्कार भी भावशून्य होनेके कारण अर्हद्भाषित धर्मका अङ्ग नहीं था किन्तु [illegible] और मिथ्यात्व युक्त था। अतः इसे मोक्षमार्गमें नहीं कह सकते। परन्तु सुमुखगाथापतिका वन्दन नमस्कार आन्तरिक श्रद्धाके साथ होनेसे भावरूप था इसलिये वह मोक्षका मार्ग और वीतराग भाषित धर्मका अङ्ग था। ऐसा भावरूप वन्दन नमस्कार

[illegible]

([illegible])

[illegible] —

[illegible]

इसमें विराधक श्रावकका जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिषमें उत्पन्न होना कहा है। यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक देवकी ही आयु बांधते तो इस मूलपाठमें विराधक श्रावकको जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिषमें जाना कैसे कहा जाता? क्योंकि विराधक श्रावक भी क्रियावादी ही है अक्रियावादी नहीं है। अतः निश्चित होता है कि सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च एक वैमानिककी ही आयु नहीं बांधते किन्तु सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च अपने अपने कर्मानुसार दूसरे भवोंमें भी जाते हैं। अतः भगवती शतक ३० उद्देशा १ के मूलपाठका नाम लेकर सभी क्रियावादियोंको एक वैमानिकका ही आयुबन्ध बतलाना मिथ्या है। जब कि क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिकके सिवाय दूसरे की भी आयु बांधते हैं तब मनुष्य का आयुबंध होना देख कर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल १९ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिक देवके सिवाय दूसरे भवमें भी जाते हैं इसका प्रमाण और भी दिया जाता है—

भगवती शतक ८ उद्देशा १० के मूलपाठमें जघन्य ज्ञान और जघन्य दर्शनाराधनाका फल जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवसे मोक्ष जाना बतलाया है इसका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवमें जो यहां मोक्ष जाना कहा है वह चारित्राराधनाके सहित जघन्यज्ञान और जघन्य

दर्शनाराधनाका फल समझना चाहिये क्योंकि चारित्र रहित ज्ञान दर्शन तथा दर्शनकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव भी होते हैं। इस टीकाकारकी बातको स्वीकार करते हुए जीतमलजीने "प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध" नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—

"अष्टम शतक भगवती दशम उद्देश इष्ट
जघन्य ज्ञान आराधना सात आठ भव उत्कृष्ट।
वृत्तिकार कह्यू यह विध चारित सहित जे ज्ञान
तेहनी जघन्य आराधना तसुभव ए पहिचान
बीजा समदृष्टि तणा दर्शनीना जे ह।
भव उत्कृष्ट असंख्य छै न्याय वचन छै एह।

इन दोहोंमें टीकाकारकी बातको प्रमाण मानते हुए जीतमलजीने चारित्र रहित जघन्य ज्ञान दर्शन तथा दर्शनकी आराधनामें उत्कृष्ट असंख्य भव होना भी स्वीकार किया है। अब इनको क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्चका वैमानिक भवके सिवाय दूसरे भवका ग्रहण करना भी मानना पड़ेगा। क्योंकि जिस जघन्य ज्ञान दर्शन तथा दर्शनके आराधक पुरुषका असंख्य भवोंसे मोक्ष जाना है वह अपने असंख्य भवोंको पूर्ति वैमानिक और मनुष्य भवोंमें ही नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य भवसे वैमानिकका और वैमानिकसे मनुष्य भवका लगातार सात आठ बारसे अधिक होना भगवती शतक २४ में वर्जित किया है। इसलिये असंख्य भवोंकी पूर्तिके लिए उसे वैमानिकके सिवाय दूसरा भव करना ही होगा इस प्रकार जब कि असंख्य भवोंसे मोक्ष जाने वाले जघन्य ज्ञान दर्शन तथा दर्शनी पुरुषका वैमानिकके सिवाय दूसरेका आयुबंध होना भ्रमविध्वंसनकार को स्वीकृत है तब फिर क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्चका वैमानिक देवके सिवाय दूसरा भव ग्रहण करना भी अपने आप ही स्वीकार हो जाता है क्योंकि जघन्य ज्ञान दर्शन तथा दर्शनका आराधक पुरुष क्रियावादी ही है अक्रियावादी नहीं। अत भगवती सूत्र शतक ३० उद्देशा एकका नाम लेकर सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्चका एक वैमानिकका ही आयु बंध बतलाना मिथ्या समझना चाहिये।

[बोल २० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ७ गाथा बीसवींको लिख कर उसकी समालोचनामें लिखते हैं कि "एको मिथ्यात्वी अनेक भला गुणां सहितने सुव्रती कह्यो। ते भली करणी आज्ञा मांहि छै। अने इमहिज गुण आज्ञा मांहि न हुवे तो सुव्रती क्यूं कह्यो। ते इमहिज गुणारी करणी अशुद्ध हुवे तो सुव्रती

कहता गो सामन भली परगी आश्रय मिथ्यात्वीने सुव्रती कह्यो छै। अने जो सम्य ग्दृष्टि हुवे तो मरीन मनुष्य हुवे नहीं' इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा दीपिकाके साथ लिख कर इसका समाधान किया जाता है —

वह गाथा यह है—"जे मायाहिं सिक्खाहिं जेनरा गिहिसुव्वया। उवेंति माणुसं जोणिं कम्म सच्चा हु पाणिणो"

(उत्तरा० अ० ७ गाथा २०)

इसकी दीपिका यह है—

"मानुष योनिं च प्रजन्ति तदाह—ये नरा निमानाभिविविधप्रकाराभि शिक्षा भि गृहिसुव्रता गृहिणश्चते सुव्रताश्च गृहिसुव्रता गृहीतसम्यक्त्वाणुव्रता इत्यर्थः सत्यान्यवन्ध्यफलानि ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि येषां तमत्यकर्माणः कर्मसत्या प्राकृतत्वात्कर्म शब्दस्य प्राक्प्रयोग त जीवा "हु" इति निश्चयेन मानुष योनिमुत्पद्यन्ते"

इसका अर्थ यह है—

मनुष्य योनिमें कौन प्राणी जन्म लेते हैं यह इस गाथामें बतलाया है। जो मनुष्य विविध प्रकारकी शिक्षाओंसे युक्त और गृहस्थ सम्बन्धी सम्यक्त्व आदि बारह व्रतोंके धारक हैं तथा जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म अवश्य फल देनेवाले हैं वे अवश्य मनुष्य योनिमें जन्म पाते हैं। यह इस गाथाकी दीपिकाका अर्थ है।

यहां सुव्रत शब्दका अर्थ दीपिकाकारने बारह व्रतधारी किया है इस लिए इस गाथामें कहा हुआ सुव्रतपुरुष सम्यग्दृष्टि है मिथ्या दृष्टि नहीं। अत इस गाथामें कहे हुए सुव्रत पुरुषको मिथ्या दृष्टि बतलाना दीपिकासे विरुद्ध समझना चाहिए।

यदि कोई कहे कि इस गाथामें कहा हुआ सुव्रत पुरुष सम्यग्दृष्टि होता तो वह मनुष्यभवमें क्यों जाता क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य एक वैमानिककी ही आयु बांधते हैं तो इसका समाधान इससे पूर्व बोलमें विस्तारके साथ सप्रमाण दे दिया गया है और यह सिद्ध कर दिया है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी वैमानिक देवसे भिन्न भवको प्राप्त करते हैं अत मनुष्य भवके पानेसे गाथोक्त सुव्रत पुरुषको मिथ्यादृष्टि बतलाना अनुचित समझना चाहिए।

(बोल २१ वा समाप्त)

वरुणका भी घायल होकर संग्राम भूमिसे बाहर जाते देखा। पश्चात् वह युद्ध भूमिसे बाहर आकर घोड़ाको नहूउमें छोड़ अपने प्रियबालमित्र वरुणके समान कपड़के सन्थारेपर बैठ गया। सथर पर बैठ कर पूर्वाभिमुख हो हाथ जोड़ कर कहने लगा कि—"प्रियबाल मित्र वरुणनाग नत्तुआके समान मेरे भी शील, व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि सत्कर्म हों।" यह कह कर उसने अपने सन्नाहको निकाला। पश्चात् अङ्गमें चुभे हुए बाणको निकालकर मृत्युको प्राप्त हुआ। (यह पहले पाठका अर्थ है।)

इसमें वरुणनागनत्तुआके प्रियबाल मित्रका सामान्य रूपसे बारह व्रतधारण करना कहा है। इस पाठमें जो शील, व्रत, गुण और विरमण शब्द आये हैं इनका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है—

"वयाइ" त्ति अहिंसादीनि गुणाइ त्ति गुणव्रतानि 'वेरमणाइ' त्ति सामान्येन रागादि विरतयः। "पच्चक्खाण पोसहो ववासाइ" त्ति प्रत्याख्यानं पौरुष्यादिविषयं पौषधोपवासः पर्व दिनो पवासः"

इसका अर्थ यह है—

यहां व्रत, अहिंसा समझनी चाहिए। तथा "गुण" शब्दका अर्थ गुणव्रत और विरमण शब्दका सामान्यतः रागादि निवृत्ति अर्थ जानना चाहिए। एवं प्रत्याख्यान नाम पौरुषी आदि कालतक त्याग करनेका है और पर्वके दिन उपवास करनेका नाम पौषधोपवास है। यह टीकाका अर्थ है।

यहां टीकाकारने व्रत आदि शब्दोंका अहिंसादि अर्थ किया है। उन व्रतोंको वरुण नागनत्तुआके प्रियबाल मित्रने ग्रहण किया था। ऊपर लिखे हुए मूलपाठमें लिखा है इस प्रकार वरुणनागनत्तुआके प्रियबालमित्रने सामान्य रूपसे बारह व्रतधारी होकर मनुष्य योनिमें जन्म लिया था यह ऊपर लिखे हुए दूसरे पाठमें कहा है। उस पाठका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन्! वरुणनागनत्तुआका प्रियबाल मित्र मृत्युको प्राप्त होकर किस योनिमें उत्पन्न हुआ?

(उत्तर) हे गौतम! वह मनुष्य लोकमें उत्तम कुलके अन्दर उत्पन्न हुआ।

(प्रश्न) अब वह किस योनिमें जन्म लेगा?

(उत्तर) वह मनुष्य भवसे निकल कर महाविदेह क्षेत्रमें मनुष्य भवको प्राप्त करके सिद्ध होगा यावत् कर्मोंका अन्त करेगा।

यह मूल पाठका अर्थ है।

इसमें सामान्य रूपसे बारह व्रतधारी वरुणनागनत्तुआके प्रियबालमित्रका मनुष्य भव प्राप्त कर फिर मनुष्य भवमें ही जन्म लेना कहा है यह सामान्य व्रतधारी

कि "उक्त तपस्या करने वाला मिथ्यादृष्टि जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें भी नहीं है।" क्योंकि जो पुरुष जिनोक्त धर्मका आचरण न करके किसी अन्यके धर्मका आचरण करता है उसीके लिये यह कहा जा सकता है कि "यह जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवालेके सोलहवें अंशमें भी नहीं है" परन्तु जो जिनोक्त धर्मका ही आचरण करता है उसके लिये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह तो स्वयमेव जिनोक्त धर्मका ही आचरण करने वाला है। अतः इस गाथामें कही हुई मिथ्यात्वीकी तपस्या वीतरागकी आज्ञामें नहीं है और उसके आज्ञामें न होनेसे उसका आचरण करनेवाला गाथोक्त बाल तपस्वी भी जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाला नहीं है। अतएव उसे जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें भी न होना कहा है। इसलिये इस गाथासे मिथ्यादृष्टिकी तपस्या स्पष्ट रूपसे जिन आज्ञा बाहर सिद्ध होती है। टीकाकारने भी गाथोक्त बाल तपस्वीकी तपस्याको जिन आज्ञासे बाहर बतलाया है वह टीका यह है—

"घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वादन्यस्यत्वात्मविघातादिव दन्यथात्वात्" अर्थात् जो धर्म जिन भाषित है वह यदि घोर (कठिन) हो तो भी धर्म कामी पुरुषोंसे आचरण करने योग्य है परन्तु जो घोर-धर्म जिन भाषित नहीं है वह आत्मघातादिकी तरह आचरण करने योग्य नहीं है। यह इस टीकाका अर्थ है।

इसका तात्पर्य्य यह है कि गाथोक्त बालतपस्वीकी मास क्षमण तपस्या यद्यपि घोर है तथापि जिन भाषित न होनेके कारण धर्मार्थी पुरुषोंसे आचरण करने योग्य नहीं है। यदि गाथोक्त बाल तपस्वीकी तपस्या जिन भाषित धर्ममें होती तो उसे टीकाकार जिन भाषित न होना क्यों कहते ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गाथोक्त बाल तपस्वीकी मासक्षमण तपस्या जिन आज्ञामें नहीं है इसी लिये उसे टीकाकारने अनाचरणीय कहा है और मूलगाथामें उसे जिनभाषित धर्मके सोलहवें अंशमें भी न होना बतलाया है। तथापि भ्रमविध्वंसनकारने गाथोक्त बालतपस्वीकी मिथ्यात्व युक्त तपस्याको वीतरागकी आज्ञामें होना बतलाया है यह प्रत्यक्ष उक्त गाथा और उसकी टीकासे विरुद्ध है। यद्यपि अपनी बातको सत्य और शास्त्रानुकूल सिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वंसनकारने यह कल्पना की है कि "मिथ्यादृष्टिमें संवर नहीं होता इसलिये उसे संवर धर्मवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें न होना इस गाथामें कहा है" तथापि उनकी यह कल्पना निराधार है इस गाथामें "संवर" का नाम भी नहीं आया है यहां तो "स्वाख्यात धर्म" कहा गया है। स्वाख्यात धर्म वही है जो जिनवरोंसे कहा हुआ है। उस जिनवर भाषित धर्मसे जो अन्य धर्म है, यानी जो जिनोक्त धर्म नहीं है उसे इस गाथामें जिनोक्त धर्मके

सोलहवें अंशमें न होना बतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहां जिन भाषित धर्मका और जो धर्म जिन भाषित नहीं है उसका भेद बतलाया गया है, संवर और निर्जरा का विचार यहां नहीं किया है। अत इस गाथासे मिथ्यादृष्टिकी तपस्या वीतरागसे नहीं कही हुई स्पष्ट सिद्ध होती है तथापि उसे आज्ञामें कायम करके मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका आराधक बतलाना सूत्रार्थ नहीं समझनेका परिणाम है।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्र० पृ० पृष्ठ १८ के ऊपर सुयगडाङ्ग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—"इहां सूत्रमें तो कह्यो जे मासने छाडे भोगवे पिण माया करे तो मायाथी अनन्त संसार भमे एतो मायाना फल कह्या छै। पिण तपने खोटो कह्यो नथी इहां तो तपने अपूर्णो विशिष्ट कह्यो आगे चलकर लिखते हैं कि "तिवारे कोई कहे ए आज्ञा माहिली करणी छै तो मोक्ष क्यू वर्जी तेहनो उत्तर—एहनो श्रद्धा ऊंधी ते माटे मोक्ष नथी परं मोक्षनो मार्ग कह्यो नथी जे अज्ञानी सम्यग्दृष्टि ज्ञान सहित छै तेहने पिण चारित्र विन मोक्ष नथी परं मोक्षनो मार्ग कहिए" (भ्र० पृष्ठ १८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडाङ्ग सूत्रकी यह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है। यह गाथा यह है—

"जइ विय णिगणे किसे चरे जइविय भुञ्जिय मासमन्तसो जे इह मायाइमिज्जइ आगन्ता गब्भाय णन्तसो"

(सुयगडांग श्रु० १ अ० २ उ० १ गाथा ९)

अर्थ—

(जे इह मायाइ मिज्जइ) जो पुरुष माया याने अनन्तानुबन्धी कषायोंसे युक्त मिथ्या दृष्टि है वह घरबार आदि सब प्रकारके बाह्य परिग्रहको छोड़ कर नङ्गा और कृश होकर विचर तथा मास-मास खमणके उपवास करता हुआ उसके अन्तमें पारणा करे तो भी वह अनन्तकाल तक गर्भमें ही जाता है। अर्थात् उसका संसार घटता नहीं।

इस गाथामें कहा है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष घर बार छोड़ कर नङ्गा और कृश होकर विचरे और मास मासकी तपस्या करके उसके अन्तमें पारणा करे तो भी वह अनन्त कालतक गर्भवासको ही प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्या-दृष्टि अज्ञानीकी तपस्या वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। यदि यह आज्ञामें होती तो इस

सेणूण भन्ते ! सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्व सत्तेहिं पच्चक्खायमितिवदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवइ दुप्पच्चक्खायं भवति ? गोयमा ! सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खायं भवति सिय दुप्पच्चक्खायं भवति। सेकेणट्ठेण भन्ते ! एव वुचइ सव्व पाणेहिं जाव सिय दुप्पच्चक्खायं भवति ? गोयमा ! जस्सणं सव्व पाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खाय मिति वदमाणस्स णो एव अभिसमण्णागयं भवइ इमे जीवा, इमे अजीवा इमे तसा इमे थावरा तस्सणं सव्व पाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पचक्खाय मिति वदमाणस्स नो सुपचक्खायं भवति दुप्पचक्खायं भवति। एव खलुसे दुप्पचक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणे नो सच्चं भासं भासइ मोसं भासं भासइ एव खलुसे मुसावाई सव्व पाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं तिविहं तिविहेणं असंजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंत दण्डे एगंत बाले यावि भवइ"

(भगवती शतक ७ उ० २)

इसका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन ! जो पुरुष यह कहता है कि मैंने सब प्राणियों से लेकर यावत् सब सत्वोंके हननका त्याग कर दिया है उसका वह प्रत्याख्यान (मारनेका त्याग) सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

(उत्तर) हे गौतम ! किसी किसीका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है और किसी किसीका दुष्प्रत्याख्यान भी होता है।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गौतम ! जो यह कहता है कि हमने सब प्राणियों से लेकर यावत् सब सत्वों का मारना छोड़ दिया है उसको यदि यह ज्ञान नहीं है कि ये जीव हैं ये अजीव हैं, ये त्रस हैं और ये स्थावर हैं उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान होता है। इस प्रकार वह दुष्प्रत्याख्यानी पुरुष "मुझे सब प्राणियोंके हननका त्याग है" यह कहता हुआ सत्य नहीं बोलता वह झूठ बोलता है वह [illegible] और [illegible] असंयमी, [illegible] पापोंका हनन और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। वह कायिकी आदि क्रियाओंसे युक्त संवर रहित प्राणियोंका एकान्त दण्ड देनेवाला और एकान्त बाल है।

इस पाठमें, जिसको जीव अजीव त्रस और स्थावरका ज्ञान नहीं है उसको का-यिकी आदि क्रियाओंसे युक्त संवर रहित प्राणियोंको एकान्त दण्ड देनेवाला और एकान्त बाल कह कर उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान और उसे मिथ्यावादी कहा है। इससे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषकी प्रत्याख्यानादि क्रिया वीतरागकी आज्ञासे बाहर और मोक्षका अमार्ग सिद्ध होती है। तथापि भ्रमविध्वंसनकार भोले जीवोंको भ्रममें डालनेके लिये यह कहते हैं कि 'मिथ्यादृष्टि भी त्रसको त्रस जानकर उसके हननका त्याग करता है परन्तु उसमें संवर नहीं होता इसलिये उसके प्रत्याख्यानको इस पाठमें दुष्प्रत्याख्यान कहा है' यह इनका कथन सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। जो पुरुष त्रस जीवको त्रस जान कर उसके हननका त्याग करता है वह एकान्त बाल एकान्त प्राणियोंको दण्ड देनेवाला और एकान्त संवर रहित नहीं है किन्तु देशसे (त्रसके विषयमें) प्राणियोंको दण्ड न देनेवाला देशसे पण्डित और देशसे संवरधारी है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि है उसके प्रत्याख्यानको यहां दुष्प्रत्याख्यान नहीं कहा है क्योंकि उसका प्रत्याख्यान, अज्ञान पूर्वक नहीं है। जिसका प्रत्याख्यान अज्ञानपूर्वक होता है उसीके प्रत्याख्यानको यहां दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये जो त्रसको त्रस स्थावरको स्थावर नहीं जानता और झूठ ही कहता है कि मैंने जीवोंके हननका त्याग कर दिया है उस मिथ्यादृष्टि अज्ञानीके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कह कर उसे यहां आज्ञा बाहर होनेकी सूचना दी है। अत त्रसको त्रस जानकर उसके हननका त्याग करनेवाले पुरुषको मिथ्या ही मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यादृष्टिके प्रत्याख्यानको सुप्रत्याख्यान कहना एकान्त मिथ्या है।

भ्रमविध्वंसनकार यहां यह भी कहते हैं कि "मिथ्यादृष्टिमें जो निर्जरा होती है वह निर्मल है उसके हिसाबसे मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है' परन्तु यह इन की अपनी कल्पना है शास्त्रमें ऐसा कहीं नहीं कहा है कि मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान उस की निर्जराके हिसाबसे सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिये इस पाठमें मिथ्यादृष्टिके प्रत्या-ख्यानको प्रत्यक्ष दुष्प्रत्याख्यान कह जाने पर भी उसे अपने मनके आग्रहसे आकर सुप्र-त्याख्यान कहना प्रत्यक्ष उत्सूत्र भाषण और अप्रामाणिक है।

(बोल २५ वा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४१ के ऊपर सुयगडाङ्ग सूत्र श्रु० १ अ० ८ गाथा तेइसवींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ अठेनो इमि कह्यो—जे नरवरा अजाण मिथ्यात्वीनो असुद्ध पराक्रम

क्रम छै त सर्व समारनो कारण छै। अशुद्ध काणीगे कथन इहा कर्यो अने शुद्ध कागीग कथनतो इहा चाल्यो न थी"

(भ्र० प० २१) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडाग सूत्रकी यह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह गाथा यह है—

"जे याऽबुद्धा महाभागा वीरा असमत्त दसिणो
असुद्ध तेसि परकत सफला होइ सव्वसो"

(सूयगडागसूत्र श्रुत० १ अध्ययन ८ गाथा २३)

इसका अर्थ यह है कि—

जो पुरुष तत्वअर्थको नहीं जाननेवाले महाभाग (संसारमें पूजनीय) वीर और असम्य ग्दर्शी (सम्यग् ज्ञानादि विकल) हैं उनके किये हुए तप अध्ययन और नियमादिरूप उद्योग सभी अशुद्ध और कर्मबन्धक ही कारण होते हैं।

इन गाथामें मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषोंसे किये हुए तप अध्ययन आदि सभी पर लोक सम्बन्धी कार्य्य अशुद्ध और कर्मबन्धक कारण कहे गये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रिया मोक्षमार्गमें नहीं है और उन क्रियाओंका अनुष्ठान करनेसे वह मिथ्यादृष्टि पुरुष भी मोक्ष मार्गका आराधक नहीं है। यही बात दूसरे दूसरे दर्शन भी बतलाते हैं बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि—

"योवा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्ष सहस्राण्यन्तवदेवास्यतद्भवति"

हे गार्गि ! जो अविनाशी—आत्माको बिना जाने इस लोकमें होम करता है यज्ञ करता है तपस्या करता है वह बाहे हजारों वर्ष तक इन क्रियाओंको करता रहे पर वह संसारके लिए ही हैं (बृहदारण्यक ३-९-३०) इसी तरह कठोपनिषद्में लिखा है कि—

"यस्त्वविज्ञानवानभवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। नसतत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति'
यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः सतुतत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।

(कठोपनिषद्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता और वह सदा अपवित्र है वह मोक्ष नहीं पा सकता प्रत्युत संसारमें ही भ्रमण करता रहता है। जो ज्ञानी है वह ठीक-ठीक विचार कर सकता है और वह सदा पवित्र है वह उस पदको पाता है जिससे फिर कभी जन्म नहीं लेना पड़ता।

इस कथनसे अज्ञानीका तप अपवित्र बताया है। 'सदा तरह हैनेका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी तप जप जो क्रियाएं करे उनमें ज्ञानका अभाव होनेसे उसकी सब क्रियाएं पवित्रताका कारण नहीं होकर उसकी सब अपवित्रताका ही कारण होती हैं।

इन स्पष्टार्थक वाक्योंसे जैसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी परलोक सम्बन्धी क्रियाओंको संसारका ही कारण कहा है ठीक उसी तरह सुयगडांगसूत्रकी ऊपर लिखी हुई गाथामें भी कहा है अतः उक्त गाथासे मिथ्यादृष्टिकी क्रियाका मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट प्रमाणित होता है तथापि शुद्ध अशुद्धियोंको बदलाकर लिये जीतमलजीने लिखा है कि 'मिथ्यादृष्टीना तपस्या आदि पराक्रम छै ते सब संसारनो कारण छै। अशुद्ध करणीरो कथन इहां चाल्यो अने शुद्ध करणीरो कथन तो इहां चाल्यो न थी" यह एकान्त मिथ्या है। यहां मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंकी परलोक सम्बन्धी तपोदानाध्ययनादिरूप क्रियाओंको अशुद्ध और संसारका कारण कहा है पर उनके कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, संग्राम कुशील आदि क्रियाओंका कथन नहीं है। ये क्रियाएं चाहे मिथ्यादृष्टिकी हों या सम्यग्दृष्टि की हों संसारके लिये ही होती हैं इनसे मोक्षमार्गकी आराधना न होना प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः इस गाथामें कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और संग्राम कुशीलादि क्रियाओंका कथन नहीं है अत एव इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि "तेषां बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययन नियमादिषुपराक्रान्तं तदशुद्धं मविशुद्धिकारि' अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका जो तपस्या, दान, अध्ययन और नियम आदिमें उद्योग होता है वह सभी अशुद्धिका ही कारण होता है यह इस टीकाका अर्थ है।

यहां टीकाकारने अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका, तपस्या दान अध्ययन आदिमें जो उद्योग है उसको उक्त गाथामें अशुद्ध कहा जाना बतलाया है इसलिये उक्त गाथामें मिथ्यादृष्टियोंकी पारलौकिक क्रियाओंका कथन न मान कर कृषि वाणिज्य संग्राम कुशीलादि अशुद्ध क्रियाओंका कथन बतलाना मिथ्या है। इस गाथासे मिथ्यादृष्टियोंकी पारलौकिक क्रिया स्पष्ट रूपसे जिन आज्ञा बाहर और मोक्षमार्गसे पृथक् सिद्ध होती है तथापि उसे मोक्षमार्गमें कायम करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य है।

इस गाथामें मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी जिन क्रियाओंको अशुद्ध और कर्म बन्धका कारण कहा है सम्यग्दृष्टिकी उन्हीं क्रियाओंको इसके आगेकी गाथामें शुद्ध और कर्म-क्षयका हेतु कहा है। वह गाथा यह है—

"जेय बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्त दंसिणो सुद्धं तेसिं पर क्कन्तं अफलं होइ सव्वसो"

अर्थात् जो पुरुष तत्वका जाननेवाला महा पूज्य कर्मको विदारण करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शी है उसके तप, दान, अध्ययन और नियमादि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य शुद्ध और कर्मक्षयके कारण हैं।

इस गाथामें सम्यग्दर्शी पुरुषके परलोक सम्बन्धी तप दान अध्ययन और नियमादि रूप कार्योंको शुद्ध और कर्मक्षयका कारण कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शी पुरुषका ही परलोक सम्बन्धी कार्य मोक्षमार्गमें है मिथ्यादृष्टिका नहीं क्योंकि इससे पूर्व गाथामें मिथ्यादृष्टिके इन्हीं कार्योंको अशुद्ध और कर्मबन्धका कारण कहा है परन्तु कईएक मिथ्यादृष्टि यह कहते हैं कि इस "गाथामें सम्यग्दृष्टिकी शुद्ध यानी परलोक सम्बन्धी क्रियाओंका वर्णन है और इससे पूर्व गाथामें मिथ्यादृष्टिकी अशुद्ध यानी संग्राम कुशीलादिको अशुद्ध कहा है इसलिये मिथ्यादृष्टिकी बालतपस्या आदि पारलौकिक क्रियाएं मोक्षमार्गमें ही हैं" यह कहने वाले इन गाथाओंका अर्थ नहीं समझते। यदि इन दोनों गाथाओंका यही तात्पर्य्य हो कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि इन दोनों ही की तप अध्ययनादि क्रियाएं शुद्ध हैं तो फिर यहां दो गाथा लिखने की आवश्यकता ही नहीं है केवल एकही जगह यह कह देते कि संग्राम कुशीलादि क्रियाएं अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण होती हैं। तथापि अलग अलग जो यहां दो गाथाएं आई हैं उनका तात्पर्य्य सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी पारलौकिक क्रियाओंमें भेद दर्शाना है। वह भेद यही है कि मिथ्यादृष्टिकी तपोदानाध्ययनादि पारलौकिक क्रियाएं अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण हैं क्योंकि वे अज्ञान तथा मिथ्यात्वपूर्वक की जाती हैं। और सम्यग्दृष्टि की ये ही क्रियाएं शुद्ध और कर्मक्षयके कारण हैं क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानके साथ की जाती हैं और यही बात दशानान्तर सम्मत भी है। अतः इन दोनों गाथाओंका अन्यथा तात्पर्य्य बतला कर मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रियाको मोक्षमार्गमें ठहराना अज्ञानका परिणाम है।

बोल २६ वां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्र० पृष्ठ ७७ के ऊपर लिखते हैं "मिथ्यात्व छै जेहने तिणने मिथ्यात्वी कह्यो तेहने कतियक श्रद्धा संउली छै अने केइ एक बोल ऊंधा छै तिहां जे बोल ऊंधा तेतो मिथ्यात्व आश्रव छै अने जे कतला एक बोल सउली श्रद्धारूप छै ते प्रथम गुण ठाणो छै। मिथ्यात्वीना जेतला गुणते मिथ्यात्व गुण ठाणो छै"

इसके आगे लिखते हैं—

"तिवारे कोई कहे प्रथम गुण ठाणे किसा बोल सवला छै। तेहनो उत्तर—जे मिथ्यात्वी गायने गाय श्रद्धे मनुष्यने मनुष्य श्रद्धे दिनने दिन श्रद्धे सोनाने सोने श्रद्धे इत्यादि जे सउली श्रद्धा छै ते क्षयोपशम भाव छै" (भ्र० पृ० ७७-७८)

इसीका कथन करते हैं —

(प्रश्न)

प्रथम गुणस्थानमें मिथ्यादृष्टियोंको जीवादि पदार्थोंकी एक भी शुद्ध श्रद्धा नहीं होती किन्तु उनके ही प्रकार विपरीत होते हैं। इसी लिए प्रथम गुणस्थानका नाम "मिथ्यादृष्टि गुणस्थान" रक्खा है। जिसमें मिथ्यादृष्टि यानी मिथ्याज्ञानरूपगुणकी स्थिति है वह प्रथम गुणस्थानका स्वामी है।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादृष्टियोंमें कई पदार्थोंकी श्रद्धा सम्यक् होती है उस सम्यक् श्रद्धारूप गुणका अभाव होनेसे वे प्रथम गुण स्थानके स्वामी हैं। जैसे कि मिथ्यादृष्टि गायको गाय मनुष्यको मनुष्य, सोनाको सोना श्रद्धते हैं इनकी ये श्रद्धाएं सम्यक् हैं तो यह मिथ्या है। मिथ्यादृष्टियोंके सभी ज्ञानोंमें कारण विपर्यय स्वरूप विपर्यय और सम्बन्ध विपर्यय बने रहते हैं इसी कारण उनका सभी पदार्थोंका ज्ञान विपरीत ही होता है सम्यक् नहीं होता। उक्त तीन विपर्ययोंका स्वरूप यह है—

जिस पदार्थका जो कारण नहीं है उसका वह कारण जानना "कारण विपर्यय" कहलाता है। जैसे घटपटादि रूपी पदार्थ रूपवान् पुद्गलोंसे बने हैं तथापि कई एक उन्हें अमूर्त द्रव्यसे बना हुआ बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान कारण विपर्यय होनेसे अज्ञान है यद्यपि वे घटपटको घटपट कह कर ही बतलाते हैं तथापि उनका घटपटादि ज्ञान पूर्वोक्त प्रकारसे अज्ञान है।

जिस वस्तुका जैसा स्वरूप नहीं है उसका वैसा स्वरूप मानना "स्वरूप विपर्यय" कहलाता है। जैसे घटपटादि पदार्थ कथंचित्नित्य और अनित्य हैं तथापि उन्हें कईएक एकान्त नित्य और कई एकान्त अनित्य बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान स्वरूप विपर्ययके कारण अज्ञान है। कारण और कार्यका परस्पर जो सम्बन्ध है उसे न मान कर उससे विपरीत सम्बन्ध समझना "सम्बन्ध विपर्यय" कहलाता है जैसे घट और उसके कारणका कथंचित् भेदाभेद सम्बन्ध है उसे न मानकर कई इनमें एकान्त भेद और कई एकान्त अभेद सम्बन्ध मानते हैं इसलिए उनका घटादिज्ञान, सम्बन्ध विपर्ययके कारण अज्ञान है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान, कारण विपर्यय, स्वरूप विपर्यय और सम्बन्ध विपर्यय रूप मिथ्यात्वसे युक्त होनेके कारण अज्ञान है सम्यग्ज्ञान नहीं है। अतः मिथ्यादृष्टिके घटपटादि ज्ञानको सम्यक् श्रद्धारूप बतलाना एकान्त मिथ्या है।

अब प्रश्न यह होता है कि मिथ्यादृष्टिमें थोड़ी भी सम्यक् श्रद्धा नहीं है तो यह गुण स्थानमें कैसे गिना गया है ? तो इसका उत्तर यह है कि सम्यक् श्रद्धाको लेकर चतुर्दश गुणस्थान नहीं कहे हैं किन्तु कर्म विशुद्धिका उत्कर्ष और अपकर्षको लेकर कहे गये

हैं इसलिए सम्यक् श्रद्धा न होनेपर भी मिथ्यादृष्टि जीव, गुणस्थानमें गिना जाता है। जिसमें कर्मकी विशुद्धि सबसे निकृष्ट है वह पुरुष प्रथम गुणस्थानका स्वामी है और ज्यों ज्यों कर्मोंकी विशुद्धि होती जाती है त्यों त्यों जीव उन्नति करता हुआ ऊपरके गुण स्थानोंका स्वामी होता जाता है। मिथ्यादृष्टि पुरुषमें जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या ज्ञान है वह कर्मकी विशुद्धिमें है उसीको लेकर वह प्रथम गुणस्थानमें गिना गया है किसी सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। अतः मिथ्यादृष्टिमें झूठ ही सम्यक् श्रद्धाका सद्भाव बतला-कर उससे सबसे उसे प्रथम गुणस्थानमें कायम करना अज्ञान मूलक है।

समवायाग सूत्र मूल पाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्ष और अपकर्षका विचार कर के चौदह गुणस्थान बतलाए हैं सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। वह पाठ यह है—

'कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीव ठाणा पण्णत्ता तंजहा—मिच्छदिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्ममिच्छदिट्ठी, अविरत सम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसजए, अपमत्तसजए, नियट्टियायरे, अनियट्टियायरे, सुहुमसपराए, (उपसमएवा खवएवा) उपसन्त मोहे, खीण मोहे, सयोगी केवली अयोगी केवली"

(समवायाग सूत्र सू० ४)

अर्थात् कर्मोंकी विशुद्धिकी गवेषणा मार्गी उत्कर्ष और अपकर्षका विचार करके चौदह प्रकार के जीवोंके स्थान (भेद) कहे हैं।

वे ये हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि (३) सम्यङ् मिथ्यादृष्टि (४) अविरत सम्यग्दृष्टि, (५) विरताविरत (६) प्रमत्त संयत, (७) अप्रमत्त संयत (८) निवृत्ति बादर, (९) अनिवृत्तिबादर, (१०) सूक्ष्म संपराय (यह उपशमक और क्षपक दो प्रकारका होता है) (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह (१३) सयोगी केवली (१४) अयोगी केवली।

यहां समवायाङ्ग सूत्रके मूलपाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्षापकर्षके विचारसे गुण स्थानोंका कथन किया बतलाया है सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। इसलिए सम्यक् श्रद्धाको लेकर गुण स्थानोंका कथन बतलाना मिथ्या है। यहां जो कर्मकी विशुद्धि कही गयी है वह कर्मोंका क्षयोपशम रूप है मिथ्यादृष्टि पुरुषका जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या ज्ञान है वह क्षयोपशम भावमें है इस लिये मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको लेकर मिथ्यादृष्टि पुरुष प्रथम गुणस्थानमें कहा गया है। मिथ्यादर्शनका क्षयोपशमभावमें होना अनुयोग द्वार सूत्रमें कहा है। वह पाठ यह है—

"खओवसमिआ मइअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुयअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभगअण्णाणलद्धी, खओव[illegible]

मिआ चक्खुदसणलद्धी, खओवसमिआ अचक्खुदसणलद्धी ओहिदसणलद्धी, एव सम्मदसणलद्धी, मिच्छादसणलद्धी, सम्म मिच्छादसणलद्धी, एव पण्डियवीरियलद्धी, बालपण्डिय वीरियलद्धी खओवसमिआ सोइन्दियलद्धी, जाव खओवसमिआ फासेन्दिय लद्धी ”

(अनुयोग द्वार सूत्र)

इसका अर्थ यह है—

मति अज्ञानलब्धि, श्रुतअज्ञानलब्धि, विभङ्ग अज्ञान लब्धि चक्षुदर्शन लब्धि अचक्षु दर्शन लब्धि अवधिदर्शन लब्धि सम्यग्दर्शन लब्धि मिथ्यादर्शन लब्धि, सम्यङ् मिथ्यादर्शन लब्धि पण्डित वीर्य लब्धि, बालवीर्य लब्धि बाल पण्डित वीर्य लब्धि, श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि यावत् स्पर्शेन्द्रिय लब्धि ये सब अपने अपने आवरण कर्मों के क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होती हैं अतः ये क्षायोपशमिक कहलाती हैं।

यहां मिथ्यादर्शन लब्धि और मतिअज्ञानादिकको क्षयोपशमसे उत्पन्न होना कहा है। इसलिये मिथ्यादृष्टि पुरुषका मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान क्षयोपशमिक भावमें हैं उन को लेकर यह प्रथम गुण स्थानमें गिना जाता है किसी सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है तो इसे वीत रागकी आज्ञामें क्यों नहीं मानते ? सो इसका समाधान यह है कि क्षयोपशमसे उत्पन्न होने मात्रसे कोई पदार्थ वीतरागकी आज्ञामें नहीं हो जाता। क्योंकि मति अज्ञान लब्धि श्रुत अज्ञान लब्धि, और विभङ्ग अज्ञान लब्धि क्षयोपशमसे ही उत्पन्न होती हैं तथापि, त्यागने योग्य होनेसे ये वीतरागकी आज्ञामें नहीं हैं उसी तरह मिथ्यादर्शन लब्धि भी त्यागने योग्य होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं है।

मति अज्ञानादिक और मिथ्यादर्शन त्यागने योग्य है यह आवश्यक सूत्रमें कहा है। वह पाठ यह है—

“ मिच्छत्त परियाणामि सम्मत्त उवसंपज्जामि, अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि ”

अर्थात् साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं मिथ्यात्व और अज्ञानको छोड़ कर सम्यक्त्व और और ज्ञानका आश्रय लेता हूं।

इस पाठमें मिथ्यात्व और अज्ञानको त्यागने योग्य कहा है अतः अज्ञान, क्षायोपशमिक भावमें होने पर भी आज्ञामें नहीं है उसी तरह मिथ्यादर्शन भी त्यागने योग्य होनेके कारण आज्ञामें नहीं है।

विभङ्ग ज्ञान सम्यक्त्व प्राप्तिका साक्षात् कारण यहां कहा है। यदि विभङ्ग ज्ञानको वीतरागकी आज्ञामें नहीं मानते तो बाल तपस्या और बाल तपस्वीके पूर्वोक्त गुणोंको भी आज्ञामें नहीं मान सकते क्योंकि जब सम्यक्त्वकी प्राप्तिका साक्षात् कारण विभङ्ग ज्ञान वीतरागकी आज्ञामें नहीं है तब परम्परा कारण प्रकृति भद्रकतादि गुण क्यों कर आज्ञामें हो सकते हैं? अतः सम्यक्त्व प्राप्तिके परम्परा कारण बाल तपस्या आदिको वीतरागकी आज्ञामें बतलाना अज्ञानमूलक है।

यदि कोई विभङ्ग ज्ञानको भी वीतरागकी आज्ञामें बतावे तो उससे कहना चाहिये कि अज्ञान आज्ञामें नहीं होता। विभङ्ग ज्ञान अज्ञान है इसलिये वह आज्ञामें नहीं है। आवश्यक सूत्रमें कहा है कि "अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि" अर्थात् साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञानको छोड़ कर ज्ञानको प्राप्त करता हूं। यहां अज्ञानको त्यागने योग्य कहा है इसलिये वह आज्ञामें नहीं है।

भगवतीके उक्त मूलपाठमें "लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं" यह पाठ आया है। इसमें विशुद्ध लेश्याका कथन हुआ है इस बात पर कई यह कहते हैं कि "उक्त लेश्या धर्म लेश्या प्रशस्त है क्योंकि यह विशुद्ध कही गई है" उनसे कहना चाहिये विशुद्ध होनेसे लेश्या प्रशस्त नहीं हो जाती। भगवती शतक १३ उद्देशा १ में नील लेश्या भी विशुद्ध कही है परन्तु वह वीतरागकी आज्ञामें नहीं है उसी तरह भगवतीके उक्त मूलपाठमें कही हुई मिथ्यादृष्टिकी विशुद्ध लेश्या भी आज्ञामें नहीं है। कृष्णलेश्यासे नील लेश्या विशुद्ध कही है वह पाठ यह है—

"से नूणं भन्ते! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति? हंता गोयमा! कण्हलेस्से जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं भन्ते! एवं वुच्चइ कण्हलेस्से जाव उववज्जंति? गोयमा! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु कण्हलेस्सं परिणमइ से कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति। से नूणं भन्ते! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति? हंता गोयमा! जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति? गोयमा! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसुज्झमाणेसु णीललेस्सं परिणमइ से णीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति। से तेणट्ठेणं गोयमा!"

(भगवती शतक १३ उ० १)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्यासे लेकर यावत् शुक्ललेश्यावाले जीव कृष्णलेशी नरक योनियें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हां होते हैं।

(प्रश्न) ऐसा क्या होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानक संक्लिश्यमान होने पर जीवको कृष्णलेश्याका परिणाम होता है और वे कृष्णलेशी होकर कृष्णलेश्या वाली नरक योनिमें उत्पन्न होते हैं।

हे भगवन् ! कृष्णलेश्यासे लेकर यावत् शुक्ल लेश्या वाले जीव नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरक योनिमें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हां गौतम ! होते हैं।

(प्रश्न) ऐसा क्या होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानक संक्लिश्यमान और विशुद्ध होनेसे जीवोंको नील लेश्याका परिणाम होता है और वे नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरकयोनिमें उत्पन्न होते हैं।

इस मूलपाठमें कृष्ण लेश्याकी अपेक्षा नील लेश्याको विशुद्ध कहा है तो भी वह वीतरागकी आज्ञामें नहीं है उसी तरह भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ के मूलपाठमें कही हुई बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या भी वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। अतः बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या और उसके मिथ्यात्व युक्त प्रकृति भद्रकता आदि गुणोंको वीत रागकी आज्ञामें ठहराना अप्रामाणिक है।

[बोल २८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार पृष्ठ ३३ पर ऊपर लिखते हैं—

"तस्स ईहापोहमग्गणं गवेसणं करे माणस्स" ए पाठ कह्या ईहा कहितां भलो अर्थ जाणवा सन्मुख थयो अपोह कहितां धर्मध्यान वाला पक्षपात रहित मग्गणं कहितां समुच्चय धर्मनी आलोचना गवेसणं कहितां अधिक धर्मनी आलोचना प्रथम गुण ठाणें कही ते धर्मनी आलोचनाने अनधर्मध्यानने आज्ञा बाहरे किम कहिए एतो प्रत्यक्ष आज्ञामांहि छै" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ९ उद्देशा १ के मूल पाठमें आये हुए ईहा अपोह 'मार्गण और 'गवेषण' शब्दका भ्रमविध्वंसनकारने अशुद्ध अर्थ किया है। टीकानुसार इन शब्दों का अर्थ यह है "ईहा सदर्थाभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षनिरासः, मार्गणञ्च अन्वय धर्मालोचनम्, गवेषणञ्च व्यतिरेक धर्मालोचनम्,'

अर्थात् जो ध्यान, दुःखके कारण अथवा दुःख होने पर होता है वह "आर्त ध्यान" कहलाता है। और जो हिंसा आदि अतिक्रूरताके साथ होता है उसे "रुद्र ध्यान" कहते हैं। तथा जो ध्यान श्रुत और चारित्र रूप धर्मके साथ होता है उसे "धर्मध्यान" कहते हैं। एवं जो आठ प्रकारके कर्ममलोंको दूर करता है या शोकको हटाता है उसे "शुक्लध्यान" कहते हैं।

यहां टीकाकारने स्पष्ट कहा है कि—जो ध्यान श्रुत और चारित्रधर्मके साथ होता है वही धर्म ध्यान है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि पुरुषमें धर्म ध्यान नहीं होता क्योंकि उसमें श्रुत और चारित्र धर्मका सर्वथा अभाव है। अतः प्रथम गुणस्थानमें धर्म ध्यानका सद्भाव बतलाना शास्त्रविरुद्ध है।

इसी जगह धर्मध्यान करने वाले पुरुषका लक्षण बतलानेके लिए ठाणाङ्ग सूत्रमें यह पाठ आया है—

"धम्मस्सणं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता तंजहा—आणारुइ णिसग्गरुइ सुत्तरुइ ओगाढरुइ"

(ठाणाङ्ग)

इसकी टीका यह है—

"आणारुइ' त्ति आज्ञासूत्रव्याख्यानं निर्युक्त्यादि तत्र तया वा रुचिः श्रद्धानम् आज्ञा रुचिः एवमन्यत्रापि, नवरं निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यर्थः, तथा सूत्रम् आगमः तत्र तस्माद्वा तथा अवगाहनमवगाढं द्वादशाङ्गावगाहो विस्ताराधिगम इति सम्भाव्यते तत्र रुचिः अथवा 'ओगाढ' त्ति साधु प्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधूपदेशाद् रुचिः उक्तञ्च—"आगम उवएसेणं निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं" तत्त्वार्थ श्रद्धान रूपं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयम्'

इस टीकाका यह अर्थ है—वीतराग भाषित सूत्रोंके व्याख्यानस्वरूप निर्युक्ति आदिको आज्ञा कहते हैं (१) उसमें रुचि रखना, या उसके अध्ययन करनेसे धर्ममें रुचि उत्पन्न होना, (२) स्वभावसे ही वीतराग भाषित धर्ममें रुचि होना, (३) वीतराग भाषित सूत्रोंमें रुचि होना या उनके पढ़नेसे धर्ममें रुचि होना (४) द्वादशाङ्गमें प्रवेश होनेसे रुचि होना, या निकटवर्ती साधुके उपदेशसे धर्ममें रुचि होना ये चार धर्मध्यानके लक्षण हैं। किसी आचार्यने भी कहा है आगमके उपदेशसे अथवा स्वभावसे जिन भाषित धर्ममें श्रद्धा रखना धर्मध्यानी पुरुषका लक्षण है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, धर्मध्यानका लक्षण है।

जो गाथामें दश ध्यानके स्थान बताये हैं वे सब ऊपरके ही गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं प्रथम गुणस्थानमें नहीं, तो उसी तरह धर्म्मध्यान भी ऊपरके ही गुणस्थानोंमें पाया जाता है प्रथम गुणस्थानमें नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि गाथामें कहे हुए और सब स्थान तो ऊपरके गुणस्थानोंमें ही पावें मगर एक धर्म्मध्यान प्रथम गुणस्थानमें भी पावे अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी उन गाथाओंका नाम लेकर मिथ्यादृष्टिमें धर्म्मध्यान बतलाना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३० वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४ के ऊपर लिखते हैं कि "जिम एक तालाव नो पाणी एक घडो ब्राह्मण भर ले गयो अने एक घडो भंगी भर ले गयो। भंगीरा घडामें भंगीरो पाणी बाजे अने ब्राह्मणरा घडामें ब्राह्मणरो पाणी बाजे पिण पाणी तो मीठो शीतल छै भंगीरा घडामें आया खारो थयो न थी। तथा शीतलता मिटी नहीं पाणी तो तहिज तालाव नो छै। पिण भाजन लारे नाम बोलवा रूप छै। तिम शील, दया, क्षमा तपस्यादिक रूप पाणी ब्राह्मण समान सम्यग्दृष्टि आदरे भंगी समान मिथ्यादृष्टि आदरे ते तो तप शील दया नो गुण जाय नहीं। जिमि पानी ब्राह्मण तथा भंगी रो बाजे पिण पाणी मीठामें फेर नहीं पाणी मीठो एक सरीखो छै। तिमि मिथ्यादृष्टि शीलादिक पाले ते मिथ्यादृष्टि री करणी बाजे पिण करणी दोनू मोक्षमार्गनी छै।" [भ्र० पृ० ३४] इस का क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

एक तालावसे जल भरने वाले ब्राह्मण और भङ्गीका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंके गुणको तुल्य बताना मूर्खता है। ब्राह्मण और भङ्गीमें जातिमात्रका भेद है किन्तु उस तालावकी मधुरता और उपादेयताके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है। जैसे ब्राह्मण उस तालावको मधुर और जलप्रद करनेयोग्य समझता है भङ्गी भी उसे उसी तरह समझता है। यदि भङ्गी उस तालावको खारा या जलप्रद न करनेके योग्य समझता तो वह उससे जल नहीं भरता इसलिये भङ्गी और ब्राह्मणका विचार उस तालावके सम्बन्धमें एक है परन्तु मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिमें यह बात नहीं है। मिथ्यादृष्टि जिस मिथ्यादर्शन रूप तालावको उत्तम समझता है सम्यग्दृष्टि उसे बुरा जानता है। तथा सम्यग्दृष्टि जिस सम्यग्दर्शनरूप तालावको अच्छा समझता है मिथ्यादृष्टि उसे बुरा जानता है इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके विचारमें महान् अन्तर है इस अन्तरके होते हुए

क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं हो सकती। अतः मिथ्यादृष्टिकी असम्यक्रूप क्रियाको साधु की आज्ञामें बताना अयुक्त है।

साधु पुरुष हर एक जीवको सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं उनकी आज्ञानुसार जो सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करता है वह मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है और जो साधुकी आज्ञा लेकर भी सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान नहीं करता मिथ्या क्रियाका अनुष्ठान करता है उसकी वह मिथ्याक्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं है उस क्रियाके करनेसे वह आज्ञाराधक नहीं हो सकता किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है और उसकी वह क्रिया आज्ञा बाहर है। अतः मिथ्यादृष्टिको साधुकी आज्ञाका आराधक कहना मिथ्या है।

जैसे साधु मोक्षमार्गका आराधन करनेके लिए दीक्षा देते हैं और दीक्षा देकर सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं परन्तु दीक्षित पुरुष अभव्य हो और मिथ्यात्वी होनेसे अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करने लग जाय तो उसकी वह क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं कही जा सकती क्योंकि साधुने ज्ञानपूर्वक भावक्रिया करनेकी आज्ञा दी थी न कि अज्ञान पूर्वक द्रव्यक्रिया करनेकी, उसी तरह जो पुरुष साधुसे सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा लेकर अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करता है उसकी वह क्रिया आज्ञामें नहीं है क्योंकि साधुने अज्ञानपूर्वक द्रव्य क्रिया करनेकी आज्ञा नहीं दी है बल्कि ज्ञानपूर्वक भाव क्रिया करनेकी आज्ञा दी है इसलिये उसकी वह अज्ञान क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं हो सकती। अतः मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यात्व युक्त क्रियाको वीतरागकी आज्ञामें ठहराना मिथ्या है।

(बोल ३२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २६ पर लिखते हैं कि "इहां कह्यो सूर्याभना अभियोगिया देवता भगवान्ने वन्दन नमस्कार कियो तिवारे भगवान् बोल्या एतन्तरूप तुम्हारा पुराणो आचार छै। ए तुम्हारो जित आचार छै ए वन्दनारी म्हारी आज्ञा छै। तो तिणकरणीने आज्ञा बाहिर किम कहिए" (भ्र० पृ० २६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

सूर्याभ देवताके अभियोगिया देवताका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको वीतरागकी आज्ञामें कायम करना अज्ञान है। सूर्याभदेवके अभियोगिया देवताके मिथ्यादृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। नारकयानिके जीव भी जब सम्यग्दृष्टि होते हैं तब

सूर्याभ के अभियोगिया देवताओं के सम्यग्दृष्टि होने का कथन किया गया है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी होता है कि भ्रमविध्वंसनकार भक्तिशून्य द्रव्यरूप वन्दना भगवान्‌की आज्ञामें है या भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दना ही आज्ञामें है? यदि भावशून्य द्रव्यवन्दना भी भगवान्‌की आज्ञामें हो तो ऐसी वन्दना अभव्य जीव भी करते हैं इसलिए वे भी वीतरागकी आज्ञाके आराधक होकर मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता अभव्य और मोक्षमार्गका आराधक होना तो स्वप्नमें भी नहीं है अतः भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दनको ही आज्ञामें मानना चाहिये ऐसा वन्दन नमस्कार मिथ्यादृष्टियोंका नहीं होता क्योंकि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वके कारण द्रव्यरूप क्रियाही करता है भावरूप नहीं। सूर्याभके अभियोगिया देवताओंका वन्दन नमस्कार सम्यग्ज्ञानपूर्वक भावरूप था अतएव उसे भगवान्‌ने आज्ञामें बतलाया यदि वह द्रव्यरूप होता तो कदापि भगवान् आज्ञामें नहीं बतलाते अतः सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करने वाले सूर्याभके अभियोगिया देवता सम्यग्दृष्टि थे मिथ्यादृष्टि नहीं उनका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिके भावशून्य द्रव्यरूप वन्दन नमस्कारको वीतरागकी आज्ञामें बताना अज्ञान मूलक है।

(बोल ३३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३७ पर भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि "अथ अठे स्कन्दक कह्यो हे गोतम! ताहरा धर्माचार्य भगवान् महावीर स्वामीने वाद्या यावत् सेवा करां। तिवारे गोतम कह्यो जिम सुख हुवे तिम करो हे देवानुप्रिय, विलम्ब मत करो। इसी पाठ आज्ञा वन्दनानीदीधी ते वन्दना रूप करणी प्रथम गुणठाणा रो धणी कर तेहने आज्ञा बाहिरे किम कहिये।" (भ्र० पृ० ३७)। इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि गोतम स्वामीने स्कन्दकजीको भक्ति भावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक नाथ करको वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी या भावरहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी? यदि भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी तो मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार उनकी आज्ञामें कैसे हो सकता है? क्योंकि मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार भक्तिभाव रहित और मिथ्यात्वके साथ होता है भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक नहीं। यदि भक्तिभाव रहित द्रव्य वन्दनाकी आज्ञा दिया जाना कहो तो यह अयुक्त है साधु कदापि किसीको

भक्ति भावरहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा नहीं देते। इसलिए गोतम स्वामीने भक्ति भावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी थी। उस आज्ञाके अनुसार यदि स्कन्दकजीने भगवान्‌का भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार किया था तो वह उस समय सम्यग्दृष्टि ही थे मिथ्यादृष्टि नहीं ॥

यदि वैसा न करके स्कन्दकजीने मिथ्यात्वके साथ द्रव्य रूप वन्दन नमस्कार किया था तो उनका वह नमस्कार गोतम स्वामीकी आज्ञामें हुआ ही नहीं क्योंकि गोतम स्वामीने भक्तिभावके साथ भाव रूप वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी था भक्ति रहित मिथ्यात्वयुक्त द्रव्य वन्दनकी नहीं। अतः स्कन्दकजीका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वयुक्त द्रव्यरूप वन्दन नमस्कारको जिन आज्ञामें कायम करना नितान्त मिथ्या है।

(बोल ३४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४० पर लिखते हैं कि "अथ इहां तामली बालतपस्वीरी अनित्यचिन्तवना कही छै। ए संसार अनित्य छै एहवीचिन्तवना ते तो शुद्ध छै" इसके बाद पुष्पियोपाङ्गका पाठ देकर लिखते हैं—अथ इहां सोमिल ऋषिनी अनित्य चिन्तवना कही। ए अनित्य चिन्तवना शुद्ध करणी छै निरवद्य छै तेहने आज्ञा बाहिर किम कहिए"

इसके आगे और भी लिखते हैं—"वली अनित्य चिन्तवना धर्मध्यानरो भेद चाल्यो ते ही अनित्य चिन्तवना तामली सोमिल ऋषि प्रथम गुण ठाणे थकी कीधी तेहने अधर्म किम कहिए ए धर्मध्यानरो भेद आज्ञा बाहरे किम कहिए" (भ्र० पृ० ४० ४१

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तामली बाल तपस्वी और सोमिल ऋषिकी अनित्य जागरणको धर्मध्यानकी अनुप्रेक्षामें कायम करके प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामें कायम करना मिथ्या है। प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमें धर्मध्यान होना ही नहीं, क्योंकि धर्मध्यान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही होता है यह पहले बतलाया जा चुका है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन मिथ्यादृष्टियोंमें नहीं होता इसलिये उनमें धर्मध्यान भी नहीं हो सकता। जब कि प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमें धर्मध्यान नहीं होता तब धर्मध्यानका भेद स्वरूप अनित्य जागरणा उनमें कैसे हो सकती

है ? जब वृक्ष ही नहीं है तो शाखा पत्र कहांसे होंगे ? धर्मध्यान सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनके साथ ही होता है इस विषयमें ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ और उसकी टीका लिखकर प्रमाण बतलाया जाता है।

"चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तंजहा—अट्टे झाणे रोद्दे झाणे धम्मे झाणे सुक्के झाणे"

"धम्मस्सणं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा"

(ठाणाङ्गठाणा ४ उ० १)

इस पाठकी टीका यह है—

"ध्यानयाध्यानानि अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालं चित्तस्थिरतालक्षणानि। यदाह—"अन्तोमुहूत्त मित्त चित्तावत्थाणमेग वत्थुम्मि छउमत्थाणं झाणं जोगणिरोहो जिणाणंतु' तत्र ऋतं दुःखं तस्य निमित्त तत्रभवंवा ऋतं पीडितं भवमार्त्तं ध्यानं क्लिष्टोऽध्यवसाय । हिंसाद्यतिक्रौर्य्यानुगतं रौद्रम्। श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यम् शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्'

अर्थात् किसी एक विषयमें अन्तमुहूर्त तक चित्तको स्थिर करना, ध्यान कहलाता है। कहा भी है किसी एक वस्तुमें अन्तर्मुहूर्त तक चित्तको स्थिर करना ध्यान है। ऐसा ध्यान छद्मस्थोंका होता है। योगनिरोध काल तक सब वस्तुओंका ध्यान केवलियोंका होता है यह ध्यान चार प्रकारका है आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, और शुक्ल ध्यान। जो ध्यान दुःखका कारण है अथवा दुःख होने पर होता है उसे आर्त्तध्यान कहते हैं। जो ध्यान हिंसा आदि क्रूरतासे युक्त होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है। जो ध्यान, सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्रके साथ होता है वह धर्मध्यान है। जो ध्यान आठ प्रकारके कर्ममलोंको दूर करता है या शोकको दूर करता है वह शुक्लध्यान है।

इनमें सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्रके साथ होने वाले धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएं कही हैं। ध्यान होनेके पश्चात् भावना या पर्यालोचना करनेको 'अनुप्रेक्षा' कहते हैं। पहली अनुप्रेक्षाको 'एकानुप्रेक्षा' कहते हैं। मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है ऐसी भावना करना एकानुप्रेक्षा है। दूसरा 'अनित्यानुप्रेक्षा' है। यह शरीर नाशवान है सम्पत्ति दुःखका स्थान है, संयोग, वियोगका हेतु है उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नश्वर हैं इस प्रकार जीवन आदिके विषयमें अनित्यताकी भावना करना 'अनित्यानुप्रेक्षा' है। तीसरी 'अशरणानुप्रेक्षा' है। इसका अर्थ जन्म जरा और मरणके भयसे भीत, व्याधि

और वदनासे भरत इन प्राणियोंके लिए जिनवरोक्त वाक्यसे अतिरिक्त कोई दूसरा शरण नहीं है ऐसी भावना करना है। चौथी 'संसरणानुप्रेक्षा' है। संसारके प्राणी सदा अपने अपने कर्मानुसार चारों गतियोंमें जाते रहते हैं यही स्त्री यही जीव, किसी भवमें माता होकर दूसरे भवमें उसी जीवकी भगिनी हो जाता है और फिर अन्य भवमें भार्या एवं किसी भवमें पुत्री हो जाता है। इसी तरह कभी पुत्र ही पिता और पिता पुत्र हो जाता है इस प्रकार संसारके सभी जीव एक भवको छोड कर दूसरे भवमें जाते रहते हैं ऐसी भावना करनेको 'संसरणानुप्रेक्षा' कहते हैं। उक्त चतुर्विध अनुप्रेक्षाएं धर्मध्यान होनेके पश्चात् होती हैं और धर्मध्यान श्रुत तथा चारित्रके साथ होता है मिथ्यादृष्टिमें श्रुत और चारित्र नहीं होता इसलिये धर्मध्यान भी उसमें नहीं होता और धर्मध्यानके न होनेसे मिथ्यादृष्टिमें चतुर्विध अनुप्रेक्षाएं भी नहीं होती अतः मिथ्यादृष्टिके अन्दर धर्मध्यानके पश्चात् होने वाली अनित्य जागरणाका सद्भाव बताना शास्त्रविरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य जागरणा शास्त्रमें कही है इसलिए मिथ्यादृष्टिमें अनित्य जागरणा होती है। तो इसका उत्तर यह है कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीमें जो अनित्य जागरणा शास्त्रमें कही है वह धर्मध्यानके पश्चात् होने वाली सम्यग्दृष्टियोंकी अनित्य जागरणा नहीं किन्तु मिथ्यात्वके साथ होने वाली दूसरी अनित्य जागरणा है। जैसे शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या कही है और सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है परन्तु वे दोनों प्रव्रज्याएं एक नहीं भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या, सम्यग्रूप और मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यारूप है उसी तरह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणाएं भी भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणा धर्मध्यानके अन्तर्गत होनेसे वीतरागकी आज्ञामें है और मिथ्यादृष्टिकी धर्मध्यानसे बहिर्भूत और अज्ञानपूर्वक होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। अतः सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य जागरणाको धर्मध्यानमें ठहरा कर वीतराग की आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है वह पाठ यह है—"पाणामाए पव्वज्जाए" यह भगवती शतक ३ उद्देशा १ में तामली तापसकी प्रव्रज्याके लिये पाठ आया है। इस पाठमें तामली तापसको प्रव्रज्या धारण करना कहा है परन्तु यह प्रव्रज्या मिथ्यात्वके साथ होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं मानी जाती उसी तरह मिथ्यात्वके साथ होनेसे तामली तापसकी अनित्य जागरणा भी आज्ञामें नहीं मानी जा सकती। तामली की तुल्यता रख कर यदि कोई इसी तामली तापसकी अनित्य जागरणाको जिन आज्ञामें ठहराते हों तो उन्हें तामली तापसकी प्रव्रज्या भी जिन आज्ञामें मान लेनी चाहिये। यदि

तामली तापसकी प्रव्रज्याको जिन आज्ञामें नहीं मानने वालोंको अनित्य जागरणाको भी आज्ञामें नहीं मानना चाहिये।

उवाइ सूत्रमें वानप्रस्थ तापसोंकी प्रव्रज्याके लिये यह पाठ आया है—

"बहूइं वासाइं परियाय पाउणंति"

अर्थात् वानप्रस्थ तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रव्रज्याका पालन करते हैं। यहां जिस प्रकार वानप्रस्थ तापसोंकी प्रव्रज्याका पाठ आया है उसी तरह जिनाज्ञाराधक मुनियोंकी प्रव्रज्याके लिये भी पाठ आया है।

"बहुइं वासाइं केवल परियाग पाउणंति"

बहुइं वासाइं छउमत्थ परियाग पाउणंति"

इन पाठोंमें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंकी प्रव्रज्याके लिये समान पाठ आने पर भी जैसे इनकी प्रव्रज्याएं एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न हैं उसी तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की अनित्य जागरणाएं भी भिन्न भिन्न हैं एक नहीं। अतः तामली और सोमिलकी अनित्य जागरणाको भगवान् महावीर स्वामीकी अनित्य जागरणाके तुल्य बताना मिथ्या है।

[बोल ३५ वा समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४९ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा ९ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ इहां च्यार प्रकार मनुष्यनो आउखो बंध कह्यो। ते प्रकृति भद्रिक विनीत दयावान् अमत्सर भाव ए च्यार करणी शुद्ध छै आज्ञा माहि छै ते दयादिक [illegible] सावद्य आज्ञा बाहिरे छै इत्यादि आगे लिखते हैं—

"वली सरागसंयम संयमासंयम ते श्रावक पणो बाल तप अकाम निर्जरा ए च्यार कारणे करी देव आउखो बंध कह्यो ते च्यार कारण शुद्ध छै [illegible] छै। सावद्य छै के निरवद्य छै। आगम मे छ के आज्ञा बाहिर छै। ए च्यार करणी [illegible] माहि छीज्ञ देव आउखो बंधे छै। [illegible] बाल तप अकाम निर्जरा [illegible] बाहिर कहे [illegible] सरागसंयम संयमासंयम पिण [illegible] बाहिर कहिणा [illegible] संयमासंयमने आज्ञामें कहे तो बाल तप अकाम निर्जरा पिण आज्ञा माहि कहिणा। [illegible]

तप अकाम निर्जरा एह आज्ञा माहि छै न मानै सगागर्भयम भेयमार्गरमर मन्न श्रद्धा।
जो अशुद्ध हुए तो भला नाहिंना

(भ्र० पृ० ५०—५३) भ्रमका पत्र मनाय ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा ९ के मूलपाठमें आज्ञाके मिथ्यादृष्टिकी करनीको आज्ञामें बताना मिथ्या है। भगवतीके उस पाठमें मिथ्यादृष्टि और मनुष्य भवकी प्राप्ति के चार कारण कहे हैं। वे कारण वीतरागकी आज्ञामें हैं या आज्ञाके बाहर हैं यह नहीं बतलाया है इसलिये भगवतीके उस पाठमें अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञामें ठहराना अप्रामाणिक है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञा बाहर कहा है इसलिये अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञामें कहना शास्त्र विरुद्ध है। उवाई सूत्रका वह पाठ निम्नलिखित है—

"जे इमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कव्वड मडव दोण मुह पट्टणासम सवाह सन्निवेसेसु अकाम तण्हाए अकाम छुहाए अकाम बम्भचेर वासेण अकाम अण्हाणक सीयायव दसमसक सेअजल्लमल्ल पक परितावेण अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालं अप्पाण परिकिलेसंति परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु वाण मंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति"

(उवाई सूत्र)

इस पाठका अर्थ पृष्ठ (१८) पर दे दिया गया है।

इस पाठमें अकाम निर्जराकी करनी करने वालेको जिन आज्ञाका अनाराधक कहा है। यदि अकाम निर्जरा वीतरागकी आज्ञामें होती तो उसके आराधकको परलोक का अनाराधक कैसे कहते ? अतः अकाम निर्जराका आज्ञा बाहर होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

इसी जगह उवाई सूत्रमें बाल तपस्या करने वालेको मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है वह पाठ अर्थके साथ पृष्ठ (२५-२६) के ऊपर दे दिया गया है। यदि बाल तपस्या जिन आज्ञामें होती तो उक्त पाठमें गंगातट निवासी अज्ञानी तापसोंको परलोकका अनाराधक क्यों कहा जाता ? अतः बाल तपस्या जिन आज्ञामें नहीं है यह स्पष्ट सिद्ध होता है।

उवाई सूत्रमें, प्रकृति भद्रक, विनीत, अमत्सरी पुरुष जो सम्यक्श्रद्धासे हीन हैं उन्हें परलोकका अनाराधक बतलाया है। वह पाठ भी पहले लिखा जा चुका है

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता और वीतरागमतमान्य जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता एक नहीं है भिन्न भिन्न हैं क्योंकि उवाइ सूत्र सत्रहवें बोल में गोशालक मतानुमागी तपस्वियोंको परलोकका अनाराधक कहा है। यदि गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता जिनोक्त प्रतिसलीनतासे भिन्न न होती तो गोशालक मतानुसारी तपस्वियोंको परलोकका अनाराधक कैसे कहते ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता अन्य है और वीतराग मतोक्त जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता अन्य है। अत पूर्वोक्त दोनों प्रतिसलीनताओंको एक ठहरा कर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिनाज्ञामें बताना मिथ्या है।

उवाई सूत्रका वह पाठ नीचे लिखा जाता है जिसमें गोशालक मतानुयायी तपस्वियोंकी तपस्याका वर्णन करके उन्हें परलोकका अनाराधक कहा है।

"सेजे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु आजीविका भवंति तजहा—दुघरतरिया, तिघरतरिया, सत्तघरतरिया, उप्पलवेंटिया, घरसमुदाणिया, विज्जुअन्तरिया, उट्टियासमणा तेण एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउण ति। पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेण अच्चुएकप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति तहिं तेसिंगती बावीस सागरोवमाइं ठिती अणाराहगा सेस त चेव"

(उवाइ सूत्र)

अर्थ—

ग्राम आगर, यावत् सन्निवेशोंमें गोशालक मतानुसारी श्रमण होते हैं उनमें कई दो घर छोड़कर तीसरे घरमें कई सात घरोंको छोड़कर भी घरमें, कई सात घरोंको टाल कर आठवें घरमें भिक्षा लेते हैं। कई नियम करके लेते हैं कि कई प्रत्येक घरोंमें भिक्षा लेते हैं केवल एक ही घर नहीं। कई बिजली चमकनेपर भिक्षा नहीं लेते कई एक ऊँटकी तरह बने हुए मिट्टी के बर्तनमें रह कर तपस्या करते हैं। ये सभी आदि श्रमण बहुत वर्षोंतक पालकर कालके अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर उत्कृष्ट अच्युत कल्पमें उत्पन्न होते हैं। वहीं तक उनकी उत्कृष्ट गति है वहाँ बाईस सागरकी उनकी स्थिति है। ये लोग परलोकके आराधक नहीं हैं।

यदि गोशालक मतानुयायियोंका तप कर तपस्याका वर्णन करके उस तपस्या कोभी जिनाज्ञामें न होनेसे ही जिनाज्ञाका आराधक न होना कहा है। यदि गोशालक मतानुयायियोंकी तपस्या जिनाज्ञामें होती तो उन्हें इस पाठमें परलोकका अनाराधक न कहते। इसी तरह जितेन्द्रिय प्रतिसंलीनता यदि जिन आज्ञामें होती तो ये जिनाज्ञाके अनाराधक न कहे जाते। अतः गोशालक मतकी जितेन्द्रिय प्रतिसंलीनता और वीतराग मतकी जितेन्द्रिय प्रतिसंलीनतामें भिन्नता होना स्पष्ट प्रमाणित होता है। यद्यपि इनकी तुलना देख कर यदि कोई गोशालक मतानुयायियोंकी जितेन्द्रिय प्रतिसंलीनताको जिन आज्ञामें बतावे तो उसे इनकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्याको भी जिन आज्ञामें ही मानना चाहिए क्योंकि इनकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्या भी जिन मार्गकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्याके सादृश्य तुल्य हैं। यदि सादृश्य तुल्य होने पर भी गोशालक मतानुयायियोंकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्याको जिन आज्ञामें नहीं मानते तो इनकी जितेन्द्रिय प्रतिसंलीनताको भी आज्ञामें नहीं मानना चाहिए अतः गोशालक मतानुयायियोंकी जितेन्द्रिय प्रतिसंलीनताको वीतरागकी आज्ञामें ठहराकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३७ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० ४४ पर प्रश्नव्याकरण सूत्रके दूसरे संवरद्वारका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"एहवो कह्यो सत्य वचन साधुने आदरवा योग्य छै। ते सत्य अनेक पाखंडी अन्य दर्शनी पिण आदर्यो कह्यो, ते सत्य लोकमें सारभूत कह्यो। सत्य महासमुद्रथकी पिण गम्भीर कह्यो मेरुथकी स्थिर कह्यो एहवा भगवन्त सत्यने वखाण्यो ते सत्यने अन्य दर्शनी पिण धार्यो सो ते सत्यने खोटो अशुद्ध किम कहिए आज्ञा बाहरे कहे तो ते हनी श्रद्धा ऊंधी छै, पिण निरवद्य सत्य भावीतराग सराह्यो ते आज्ञा बाहरे नहीं"

(भ्रम० पृ० ४४),

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रश्न व्याकरण सूत्रका वह मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है—

"अनेग पासण्ड परिग्गहिय ज तिलोकम्मिमारभूय गंभीर तर महासमुद्दाओ थिरतर मेरुपव्व आओ। "

(प्रश्न व्याकरण सम्वर द्वार २)

इसका अर्थ यह है—

सत्यरूप महाव्रतको विविध व्रतधारियोंने स्वीकार किया है यह महासमुद्रसे भी गम्भीर मेरु पर्वतसे भी अधिक स्थिर और तीन लोकमें सारभूत है।

यहां मूलपाठमे जो "अनेग पासण्ड परिग्गहिय" पाठ आया है इसका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है—

"अनेक पाषण्डिपरिगृहीत नानाविध व्रतिभि रङ्गी कृतम्" अर्थात् अनेक प्रकार के व्रतधारियोंसे स्वीकार किया हुआ व्रतका नाम पाषाण्ड है और वह व्रत जिसमें हो उसे "पाषण्डी" कहते हैं। उन पाषण्डियोंसे ग्रहण किए हुए होनेसे सत्य व्रत "अनेक पाषण्डि परिगृहीत" कहा गया है। यद्यपि लोकमें पाषण्डी शब्द दाम्भिक अर्थमें भी आता है तथापि उक्त पाठमें व्रतधारी अर्थमें ही आया है दाम्भिक अर्थमें नहीं। जैन शास्त्रमें पाषण्ड शब्दका व्रतधारी अर्थ भी होता है। दशवैकालिक सूत्र अध्याय २ निर्युक्ति १५८ की टीकामें पाषण्ड शब्दका अर्थ यों किया है —

पाषण्ड व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलंभुवि। सपाषण्डी वदन्त्यन्ये कर्मपाश विनिर्गत"

अर्थात् पाषण्ड नाम व्रतका है वह जिसका निर्मल है उस कर्मबन्धनसे विनिर्मुक्त पुरुषको पाषण्डी कहते हैं।

यहां टीकाकारने पाषण्ड शब्दका व्रत अर्थ बतलाया है और दशवैकालिक सूत्रकी निर्युक्तिमें श्रमण निर्ग्रन्थोंका 'पाषण्ड' नाम कहा है वह निर्युक्तिकी गाथा यह है—

" पव्वइए अणगारे पासण्डे चरग तावसे भिक्खू परिवा इए य समणे निग्गथे सञ्जए मुत्ते "

अर्थात् प्रव्रजित, अनगार पाषण्ड, चरक, तापस, भिक्षु परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत और मुक्त ये सब श्रमण निर्ग्रन्थोंके नाम हैं।

इस निर्युक्तिमें श्रमणनिर्ग्रन्थोंका नाम "पाषण्ड" कहा है उपासकदशांग सूत्रके प्रथम अध्ययनमें और आवश्यक सूत्रमें सम्यक्त्वका अतिचार बतलानेके लिये यह पाठ आया है "पर पासण्डपसंसा परपासंड संथव" इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है—

"सर्वज्ञ प्रणीत पाषण्ड व्यतिरिक्तानां प्रशंसा प्रशंसनं स्तुतिरिपरा ।

अर्थात् सर्वज्ञसे रचा हुआ जो पाखण्ड है उससे भिन्न पाखण्डकी प्रशंसा करना सम्यक्त्वका अतिचार है।

यहां सर्वज्ञसे पाखण्डका रचा जाना कहा है जो लोग पाखण्डका अर्थ केवल दम्भ बतलाते हैं उनसे पूछना चाहिये कि सर्वज्ञने कौनसा दम्भ रचा है ? यदि वे सर्वज्ञसे दम्भ का रचा जाना न मानें तो उक्त टीकामें पाखण्ड शब्दका व्रत अर्थ मानना ही पड़ेगा इस प्रकार उक्त टीकाका यही अर्थ है कि जो पाखण्ड यानी व्रत सर्वज्ञका कहा हुआ नहीं है उसकी प्रशंसा करना सम्यक्त्वका अतिचार है। यदि पाखण्ड शब्दका दम्भ ही अर्थ होता है तो मूलपाठमें "पाखण्ड" शब्दके पहिले "पर" लगानेकी क्या आवश्यकता थी क्योंकि जैसे दूसरेका दम्भ बुरा है वैसे ही अपना दम्भ भी तो बुरा होना चाहिये फिर "पर" शब्द क्यों लगाया ? केवल यही कहा जाता कि "मैंने यदि पाखण्डकी प्रशंसा की हो तो "तस्समिच्छामिदुक्कडं" परन्तु ऐसा न कह कर जो मूलपाठमें "परपाखण्ड" कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि "पाखण्ड" नाम व्रतका है उस व्रतके धारण करनेवाले पुरुषों से सत्यका ग्रहण किया जाना प्रश्न व्याकरण सूत्रके दूसरे संवरद्वारमें कहा है इसलिये प्रश्न व्याकरण सूत्रका नाम लेकर मिथ्यादृष्टि अज्ञानी दाम्भिक पुरुषोंमें सत्यका स्थापन करना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५ पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे इम कह्यो ते वन खण्डने विषे घणा व्यन्तर देवता देवी बैसे सुवे क्रीड़ा करे पूर्वभवे भला पराक्रम फोड़व्या तेहना फल भोगवे गहवा भी नीच कर देवे कह्यो । तो जे घणा व्यन्तरामें तो सम्यग्दृष्टि उपजे नहीं। व्यन्तरमें तो मिथ्यात्वीज उपजे छै अने मिथ्यात्वीरो सर्व पराक्रम अशुद्ध हुवे तो भगवान् वर देवे इम क्यूं कह्यो जे घणा व्यन्तरे पूर्वभवे भला पराक्रम किया तेहना फल भोगवे छै। एतो मिथ्यात्वीरा शील तप दिकने विषे भलो पराक्रम कह्यो छै। जो मिथ्यात्वीरो पराक्रम अशुद्ध हुवे तो भगवान् भलो पराक्रम न कहिता। एतो भरी काली करे ते आज्ञा मांहि छै" (भ्र० पृ० ४५) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके मूलपाठमें व्यन्तर देवक देवताओंके पूर्वभवके पराक्रमके फल बतलाने वाले अच्छा कह कर बतलाया है इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उन देवताओंके

पूर्वभवके कार्य्य वीतरागकी आज्ञामे थे क्योंकि व्यन्तर देवोंके पूर्वभवके कार्य्यको जैसे भगवानने अच्छा कहा है उसी तरह पद्मवर वेदिका वनखण्ड और उनमे देवताओंसे भोगे जाने वाले सुख विशेषको भी अच्छा कहा है। पद्मवर वेदिका और वनखण्डके लिये यह पाठ आया है —

"पासाइया दंसणीया अभिरूवा पडिरूवा"

अर्थात् पद्मवर वेदिका चित्तको प्रसन्न करने वाली है, देखने योग्य है, अभिरूप है, और प्रतिरूप है। यहा भगवान् ने पद्मवर वेदिका और वनखण्ड को भी अच्छा कहा है।

इसी तरह व्यन्तर सज्ञक देवताओ के सुख विशेष के सम्बन्ध में यह पाठ आया है —

"कल्लाणाण कडाण कम्माणं कल्लाण फलवित्तिविसेसे पच्चणुभवमाणा विहरति"

अर्थात् व्यन्तर सज्ञकदेव पूर्वभवमे किये हुए कल्याण रूप कर्मोका फलस्वरूप कल्याण रूप फल विशेषका अनुभव करते हैं।

यहा भगवान्ने जैसे व्यन्तर देवोंके पूर्वभवके कार्य्यको कल्याण कह कर बताया है उसी तरह उनसे भोगे जाते हुए सुख विशेषको भी कल्याणरूप कहा है। अत जो लोग भगवान् द्वारा अच्छा कह जानेके कारण व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्यको आज्ञामे बताते हैं उन्हें व्यन्तरदेवोंके सुखविशेषको भी आज्ञामे ही मान लेना चाहिये तथा पद्मवर वेदिका और वनखण्डको भी उन्हे आज्ञामे ही कहना चाहिये। यदि पद्मवर वेदिका वनखण्ड और वहा देवताओंमे भोगे जाने वाले सुखविशेषको भगवान् द्वारा अच्छा कहे जानेपर भी आज्ञामे नहीं मानते तो व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्यको भी आज्ञामें न मानना चाहिये। तथापि इस पाठका उदाहरण देकर व्यन्तर देवताओंके सुख विशेष और पद्मवर वेदिकाको आज्ञामें न मानते हुए भी उनके पूर्वभवके कार्य्यको आज्ञामें कहना दुराग्रहका परिणाम है।

वस्तुतत्त्वमें आज्ञामें होनेके कारण भगवान् ने व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्य, उनके सुख विशेष, और पद्मवर वेदिका तथा वन खंडको अच्छा नहीं कहा है किन्तु वस्तु स्थिति बताई है। जैसे रत्नको श्रेष्ठ और कङ्करको निकृष्ट कहा जाता है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रत्न भगवान् की आज्ञामें है और कङ्कर आज्ञामें नहीं है उसी तरह प्रस्तुत पाठमें वस्तुस्थितिका कथन है वीतरागकी आज्ञामें होनेसे मोक्षमार्ग

राजनरूप कार्य्योंका कथन नहीं है। अत जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिका नाम लेकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ ४७ पर उवाइ सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अत जो माता पितारा विनीत कह्या तहिज गुण थायस तो इहां इमि कह्या माता पितारो वचन उल्लंघ नहीं तिगर लेखे एपिण गुण कहिणो जो ए गुण छै तो धर्म करता माता पिता वर्जे अने न माने तो एवचन लोप्यो ते माटे तिणरे लेखे अवगुण कहिणो। साधुपणोऽथवा श्रावक पणु आदरता सामायक पोषा करता माता पिता वर्जे तो तिणर लेखे धम करणो नहीं अने सामायकादि करे तो अविनीत थयो ते अवगुण हुवे तेहथीतो धम हुवे नहीं

(भ्रम० पृ० ४७-४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रके मूलपाठमें, माता पिताकी सेवा शुश्रूषा विनय भक्ति आज्ञा पालन करनेसे पुत्रको स्वर्ग प्राप्ति स्पष्ट लिखी है परन्तु इस शास्त्रोक्त बातको अङ्गीकार करनेसे भ्रमविध्वंसनकारका अपना कपोल कल्पित सिद्धान्त मिथ्या ठहरता है इसलिये उवाइ सूत्रके उक्त मूलपाठका इन्होंने विपरीत अभिप्राय बतलाया है। इनका सिद्धान्त है कि "इनके मतके साधुओंके सिवाय सभी कुपात्र हैं" यहां तक कि माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरुजनोंको भी यह कुपात्र कहते हैं उनकी सेवा करनेसे यह एकान्त पाप मानते हैं ऐसी दशामें उवाइ सूत्रके मूलपाठका विपरीत अर्थ न करनेसे इनका मत खड़ा नहीं रह सकता अत इन्होंने इस पाठका विपरीत अर्थ किया है। इनका यह कहना कि "माता पिताका विनय करना उनकी आज्ञा पालन करना यदि धर्म है तो माता पिता चोरी जारी व्यभिचार और मद्यपान मांसभक्षणकी आज्ञा देवें तो वह आज्ञा पालन करना भी पुत्रके लिये धर्म होना चाहिये और उस आज्ञाको न माननेसे पाप होना चाहिये" बिल्कुल कुतर्क है।

इस विषयमें बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये कि —अपने पुत्रको चोरी जारी मद्यपान मांसभक्षण वेश्यागमन आदि बुराइयोंकी शिक्षा देने वाले माता पिता अधिक हैं या

इन कुकृत्योंसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले माता पिता अधिक हैं ? जहां तक आशा की जाती है सभी बुद्धिमान् यही कहेंगे कि उक्त कुगुणोंसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले माता पिता ही अधिक हैं। सम्भव है कोई कोई माता पिता मार्गी या मूर्खतावश अपने पुत्र को उक्त कुगुणोंकी शिक्षा भी देते हों पर वे विरले होते हैं। उन अपवाद स्वरूप माता पिताकी आज्ञामें यदि पाप होता है तो उनके उदाहरणसे सभी माता पिताओंकी आज्ञामें पाप ही है यह कौनसा न्याय है ? किंवा अपवादका आश्रय लेकर उत्सर्गको बुरा कहना कहांकी विद्वत्ता है ?

कभी कभी सूर्य्यग्रहण होने पर दिनमें ही अन्धकार हो जाता है इस दशा में यदि कोई सूर्य्यको अन्धकार फैलानेवाला कहे तो वह मूर्ख है उसी तरह अपवादस्वरूप माता पिताके उदाहरणसे जो सभी माता पिताकी आज्ञा माननेमें पाप बताता है वह भी मूर्ख है। कोई कोई एसी भी दुष्टा माता सुननेमें आई है जिसने अपने पुत्रका घात कर दिया है, क्या उसके उदाहरणसे सभी माताएं पुत्रघातिनी कही जा सकती हैं ? कदापि नहीं। जब कि पुत्रघातिनी माताके उदाहरणसे सभी माताएं पुत्रघातिनी नहीं कही जा सकतीं तब कुकृत्यकी शिक्षा देनेवाले पिताके उदाहरणसे सभी पिता बुरे कैसे कहे जा सकते हैं ? अत माता पिताका विनय और सेवा शुश्रूषा करनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्रविरुद्ध है।

उवाई सूत्रमें माता पिताकी सेवा भक्ति और उनकी आज्ञा पालन करनेसे स्वर्ग जाना कहा है वह पाठ यह है—

"सेजे इमे गामागर नगर जाव सन्निवेसेसु मणुआ भवति पगइभद्दगा पगइउवसन्ता पगइपतणुकोहमानमायालोभा मिउ मद्दव सपन्ना अल्लीणा वीणीया अम्मापिऊणं सुस्सुसगा अम्मा पत्ताण अणतिक्कमणिज्ज वयणा अप्पिच्छा अप्पारम्भा अप्पपरिग्गहा अप्पेण आरंभेण अप्पेण आरंभसमारंभेण वित्तिकप्पेमाणा बहुइ वासाइ आउय पालयति पालित्ता कालमासे काल किच्चा अनुत्तरेसुवाणमंतरसु देवत्ताए उववत्तारो भवति तचेव सव्व नवर ठिति चोद्दसवास सहस्साइ"

(उवाई सूत्र)

अर्थात् ग्राम नगर आदि सन्निवेशोंमें रहने वाले जो मनुष्य स्वभावसे भद्रक अर्थात् परोपकारी हैं। स्वभावसे उपशान्त यानी शीतल हैं स्वभावसे ही क्रोध मान माया और लोभका

स्थ किये हुए हैं। भद्रता सहित होकर गुरुके आश्रममें रहते हैं विनीत हैं माता पिताके वचन को उल्लङ्घन नहीं करने वाले हैं, माता पिताकी सेवाशुश्रूषा करते हैं, इत्यादिकभी अल्प परिग्रही हैं और अल्प आरम्भ समारम्भसे अपनी आजिका चलाते हैं व बहुत वर्षों तक अपनी आयुको पूरी करके कालके अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोकमें देवता होते हैं वहां वे चौदह हजार वर्षों तक रहते हैं। यह पूरा है। यह ऊपर लिखे पाठका अर्थ है।

इसमें कहा है कि परोपकार करनेवाले विनीत और मातापिताकी आज्ञा पालन करने वाले पुरुष देवलोकमें जाते हैं। यदि मातापिताकी आज्ञा पालन करना उनकी सेवाभक्ति करना एकान्त पापमें होती तो उससे स्वर्ग जाना इस पाठमें क्यों कहा जाता ? स्वर्ग प्राप्ति पुण्यसे होती है पापसे नहीं होती। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार मूढ मतियोंको बहकानेके लिये लिखते हैं—

“ अहो महानुभावो ! ए गुण नहीं ए तो प्रतिपक्ष वचन छै। जे इहां इम कह्यो स्वभावे पतला क्रोध मान माया लोभ। क्रोध मान माया लोभ पतला थोडा ते तो अन गुण इम छै थोडा अवगुण छै पिण क्रोधादिक तो गुण नहीं पिण प्रतिपक्ष वचन करी बोल ल्यायो छै। पतला क्रोधादिक कह्या तिवारे जाडा क्रोधादिक नहीं ए गुण कह्या छै।”
यह लिख कर भ्रमविध्वंसनकार मूल पाठमें कहे हुए विनयकरने तथा माता पिताके वचन का उल्लङ्घन न करनेको गुण नहीं मानते। अत इनके मतमें विनय करना भी बुरा है और अविनय करना भी बुरा है परन्तु यह बात शास्त्र और अनुभवसे सर्वथा विरुद्ध है। यदि विनय करना बुरा है तो अविनय करना अच्छा होना चाहिए एवं अविनय करना बुरा है तो विनय करना अच्छा होना चाहिए लेकिन विनय और अविनय दोनों ही बुरे हों यह बात नहीं हो सकती है इस पाठमें विनय करना स्पष्ट गुण बतलाया है उसे बुरा बताना शास्त्रसे भी विरुद्ध है।

इसी तरह प्रतिपक्ष वचनका नाम लेकर इस पाठमें कहे हुए विनय आदि गुणोंको दोष कहना भी अज्ञान है। जैसे विनयका प्रतिपक्ष वचन अविनय और स्वल्पक्रोध मान माया और लोभके प्रतिपक्ष वचन, महान् क्रोध मान माया और लोभ होते हैं उसी तरह माता पिताके वचनको उल्लङ्घन नहीं करनेका प्रतिपक्ष वचन मातापिताके वचनका उल्लङ्घन करना होता है यदि प्रतिपक्ष वचनसे इस पाठमें गुण बतलाये हैं तो भ्रमविध्वंसन कारके मतमें माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण कहना चाहिए क्योंकि मातापिताके वचनको उल्लङ्घन न करनेका प्रतिपक्ष वचन उनके वचनको उल्लङ्घन करना होता है। यदि माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण नहीं मानते तो उनके वचनको उल्लङ्घन

नहीं करनेको गुण कहना ही होगा जब कि माता पिताके वचनको उल्लङ्घन नहीं करना गुण है तो उसी तरह इस पाठमें विनय आदि करना भी गुण है दोष नहीं है। अत प्रतिपक्ष वचनका झूठ ही नाम लेकर मातापिताकी सेवाभक्ति आज्ञा पालन और विनय आदि करनेमे एकान्त पाप कहना शास्त्रसे सर्वथा विरुद्ध है।

(बोल ४० वां)

इति मिथ्यात्वि क्रियाधिकार ।

देना नहीं किन्तु धर्मका कार्य्य है। इस प्रकार तीनो ही कार्य्य अधम दानका निषेध करना शास्त्र सम्मत है। जो लोग अनुकम्पा दानको अधम दानमें गिनते हैं व वर्तमान कालमे भी अनुकम्पा दानका निषेध क्यों नहीं करते? क्योंकि अधम दानके निषेध करनेमें किसी भी कालमें अन्तराय नहीं कहा है। यदि अधम दानके त्याग करानेमें भी अन्तराय लगना कोइ माने तो उनके हिसाबसे चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देने वाले पुरुषसे भी उसके दानका फल एकान्त पाप नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकान्त पाप बतलानेसे देनेवाला यदि न देवे तो चोर जार हिंसक आदिके लाभमें अन्तराय पड़ता है। यदि चोरी जारी हिंसा आदि महारंभका कार्य्य करनेके लिये चोर जार हिंसकको दान देना एकान्त पाप है इसलिए वर्तमानमें भी उसके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता तो उसी तरह तुम्हारे मतमे अनुकम्पा दान भी एकान्त पाप है इसलिए उसका वर्तमानमें निषेध करनेसे भी अन्तराय न होना चाहिये। यदि कहो कि हम इन सब विषयोंमें एक समान ही मौन रह जाते हैं अथान् "कोइ दयालु किसी दीन दुःखीको कुछ दे रहा हो और व्यभिचारार्थ कोइ वेश्याको दे रहा हो, तथा चोरी जारी हिंसाके लिये कोइ चोर जार और हिंसकको दे रहा हो इन सभी विषयोंमें हम एक समान ही मौन रहते हैं, अन्तरायके भयसे पुण्य पाप कुछ भी नहीं कहते" तो फिर दूसरे अधर्मो मे भी आपको ऐसा ही करना चाहिये क्योंकि जैसे अधर्म दान अधर्म है उसी तरह हिंसा करना चोरी करना आदि भी अधर्म है इनका भी वर्तमान कालमें आप लोग क्यों निषेध करते हैं?

कसाईको बकरा मारनेके लिए तैयार देख कर उपदेश द्वारा उसे हिंसा छुडानेमें भी आपके सिद्धान्तानुसार अन्तराय लगना चाहिये। यदि हिंसा छुडानेमें अन्तराय नहीं लगता तो अनुकम्पा दान छुडानेमे भी तुम्हारे मतमें अन्तराय न होना चाहिए क्योंकि जैसे हिंसा करना अधर्म हैं अधर्म दान देना अधर्म है उसी तरह तुम्हारे मतमें अनुकम्पा दान भी अधर्म है क्योंकि देनेवाला अधर्ममें ही देता है और लेनेवाला अधर्म में लेता है उसका त्याग करा देनेसे दोनोंका अधर्म छूट सकता है अतः जिस प्रकार उपदेश द्वारा हिंसा छुडानेमें वर्तमानमे भी अन्तराय नहीं होता उसी तरह कोई अनुकम्पा दान दे रहा हो और लेने वाला ले रहा हो उस समय भी अनुकम्पा दानके त्याग करानेमे तुम्हारे हिसाबसे पाप न होना चाहिये। भ्र० पृ० १५० में लिखा हैं कि "हिंसादिक अकार्य्य करता देखि उपदेश देइ समझावणो" तो किसीको अधर्म दान देते देखकर क्या नहीं समझाना चाहिये। जैसे हिंसा छुडाना धर्म है उसी तरह आपके मतमें अनुकम्पादान छुडाना भी धर्म है अतः जैसे वर्तमानमें भी हिंसा छुडानेमें आप धर्म मानते

है उसी तरह वर्तमानमें अनुकम्पादान छुड़ानेमें भी धर्म क्यों नहीं मानते ? यदि आप यह कहें कि अनुकम्पा दानके त्याग करानेसे वर्तमान कालमें लेनेके लिए उपस्थित हीन दीन जीवोंकी जीविकामें बाधा पड़ती है पर कसाईसे हिंसा छुड़ानेमें किसीकी जीविका का नाश नहीं होता इसलिये हम वर्तमान कालमें हिंसाका निषेध करते हैं अनुकम्पा दान का निषेध नहीं करते तो यह मिथ्या है जिस मांसाहारीको मांस देनेके लिए कसाई हिंसा करता है उसके लाभका अन्तराय कसाईसे हिंसा छुड़ानेमें भी हो सकता है ऐसी दशामें आपके मतमें उपदेश देकर कसाईसे हिंसा भी नहीं छुड़ानी चाहिए। परन्तु जैसे हिंसा करना अधर्म है उसके छुड़ानेमें कोई अन्तराय नहीं होता उसी तरह अनुकम्पा दान भी आपके मतमें अधर्म है अतः वर्तमानमें भी उसका त्याग कराने पर आपको अन्तराय नहीं मानना चाहिए। परन्तु वर्तमानमें अनुकम्पा दानके निषेध करनेमें आप भी अन्तरायका पाप होना मानते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान, वेश्या चोर जार हिंसक प्राणियोंको व्यभिचार चोरी आदिके लिये दिया जानेवाला अधर्म दान के समान एकान्त पापका कारण नहीं है अतएव अनुकम्पा दानके निषेध करनेसे अन्तराय लगना कहा है अधर्म दानके निषेध करनेसे नहीं कहा है।

दशवैकालिक सूत्रमें अनुकम्पा दानके अधिकारियोंको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वारपर खड़े देख कर उन्हें अन्तराय न देनेके लिए साधुको वहांसे हट जाना कहा है परन्तु वेश्या आदिको व्यभिचारार्थ दान लेनेके लिये गृहस्थके द्वारपर खड़ा देख कर साधुको टल जाना नहीं कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य कार्यमें बाधा पहुंचानेसे ही अन्तराय होता है एकान्त पापमें बाधा देनेसे अन्तराय नहीं होता वह दशवैकालिक सूत्रकी गाथा यह है—

"समण माहणवावि किविणवा वणीमग
उवसंकमन्त भत्तट्ठा पाणट्ठाएवसंजए
तमइक्कमित्तुनपविसे नविचिट्ठे चक्खुगोयरे
एगन्तमवक्कमित्ता तत्थचिट्ठिज्जसंजए"
(दश वै० अ० ५ उ० २ गाथा १०-११)

अर्थात् श्रमण माहन दरिद्र और वनीपकको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वार पर गये हुए वा जाते हुए देख कर उनको उल्लंघन करके साधु भिक्षार्थ गृहस्थके मकानमें प्रवेश न करे और गृहस्वामीके दृष्टिगोचरमें भी न स्थित रहे किन्तु जहां गृहस्थकी दृष्टि न पड़े वहां एकान्तमें जाकर ठहरे।

यहां दशवैकालिक सूत्रकी गाथाओंमें अनुकम्पादान लेनेवाले श्रमण माहन दरिद्र भिखारी आदिको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वार पर गये हुए देख कर साधुको उनका अन्तराय न देनेके लिये गृहस्थके द्वारसे टल जाना कहा है परन्तु चोर जार हिंसक और वेश्या आदिको चोरी जारी आदि कुकर्मके निमित्त गृहस्थके द्वार पर दान लेनेके लिये खड़े देखकर साधुको वहांसे टल जाना नहीं कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि एकान्त पापके कार्य्यमें बाधा देनेसे अन्तरायका पाप नहीं होता पुण्यकार्य्यमें बाधा पहुंचानेसे अन्तराय कर्म बंधता है अतः अनुकम्पादानका किसी भी समयमें निषेध नहीं करना चाहिये क्योंकि इसमें पुण्यका सद्भाव है अतएव उक्त गाथाओंमें अनुकम्पादानमें बाधा पहुंचानेसे अन्तराय होना माना है एकान्त पापके कार्य्य चोरी जारी आदिमें बाधा देनेसे अन्तराय लगना नहीं कहा है इसलिये अनुकम्पादानको एकान्त पापमें बताना मूर्खोंका कार्य्य है।

अनुकम्पादान यदि अधर्म दानमें है तो उसके निषेध करनेसे वर्त्तमानमें भी अन्तराय न होना चाहिये जैसे चोरी जारी हिंसा आदि कुकर्म करनेके लिये उद्यत हुए पुरुषको वर्त्तमानमें भी निषेध करनेसे अन्तराय नहीं लगता उसी तरह अनुकम्पादानको एकान्त पाप बतलानेवालोंके मतसे वर्त्तमानमें भी उसका (अनुकम्पादानका) निषेध करनेसे अन्तराय न होना चाहिये। यदि कहो कि चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे किसीके [illegible] बाधा नहीं होती इसलिये वर्त्तमानमें भी चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता परन्तु अनुकम्पादानके निषेध करनेसे दाता [illegible] स्वार्थकी हानि होती है इसलिये हम वर्त्तमानमें अनुकम्पादानका निषेध नहीं करते तो यह [illegible] है चोरके चोरी छुड़ानेसे उसके कुटुम्बके भरण पोषणमें बाधा पहुंचती है एवं जारको [illegible] त्याग करानेसे उसकी प्रियाके कामसुखकी हानि होती है एवं हिंसकके हिंसा [illegible] पर [illegible] मांस भोजनमें हानि होती है ऐसी दशामें (कुछ जीवोंके स्वार्थमें [illegible] पहुंचने पर भी) चोरी जारी हिंसा आदिका वर्त्तमानमें त्याग करा देना यदि अन्तराय का कारण नहीं है तो दीन हीन प्राणियोंके स्वार्थमें बाधा पहुंचाने पर भी [illegible] अनुकम्पादानके निषेध करनेसे तुम्हारे मतसे पाप न होना चाहिये। परन्तु [illegible] अनुकम्पादानका निषेध करना अन्तरायका कारण माना है और [illegible] [illegible] अनुकम्पादानका निषेध करना पापका हेतु कहा है अतः अनुकम्पादानको [illegible] त्याग करानेकी शिक्षा देना अनुकम्पाद्रोहियोंका [illegible] है।

[illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] भिक्षुओंको देनेके लिये [illegible] जा रहा है और

दूसरा रुपये लेकर व्यभिचारार्थ वेश्याके यहां जा रहा है, तीसरा खाने और दूसरे को मांस खिलानेके लिये छुरी लेकर बकरा मारने जा रहा है, चौथा अपने परिवार के पालनके लिये चोरी करने जाता है इन सभी पुरुषोंसे मार्गमें यदि साधु मिलें तो वह किसको एकान्त पापकी शिक्षा देकर त्याग करावें और किसके विषयमें मौन रहें ? यदि कहो कि दानमें गेली रकम भिक्षुकोंको देनेके लिये धर्मशालामें जाते हुए पुरुषके विषयमें साधु मौन रहे और शेष सभी लोगोंको एकान्त पापका उपदेश देकर उनसे चोरी व्यभिचार और हिंसाका त्याग करावें तो यहां यह प्रश्न होता है कि तुम्हारे मतमें अनुकम्पा दान देना भी तो चोरी जारी और हिंसाके समान ही एकान्त पाप है फिर अनुकम्पादान देनेके लिये जाते वालेके विषयमें साधु क्यों मौन रहता है ? तुम्हारे हिसाबसे उसको भी त्याग करा देना चाहिये । परन्तु तुम लोग भी अनुकम्पा दानके विषयमें वर्तमानमें मौन रह जाते हो उसका त्याग नहीं कराते इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पादान चोरी जारी और हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कारण नहीं किंतु पुण्यका भी कारण है।

कई अनुकम्पादानके विरोधी, ऐसा कुतर्क करते हैं कि "अनुकम्पादानमें यदि पुण्य है तो श्रावकोंको सामायक और पोषा न कराना चाहिये क्योंकि सामायक और पोषामें बैठा हुआ श्रावक अनुकम्पादान नहीं देता इसलिये हीन दीन जीवोंकी जीविकामें बाधा पड़ती है" जैसे कि भ्रम० कारने लिखा है "वली कोईने सामायक पोषो करावणो नहीं सामायक पोषामें कोईने देवे नहीं यदपिण इहां अन्तराय कर्म बंधे छै" (भ्र० पृ० ५१)

इसका उत्तर यह है—श्रावक सामायक और पोषा विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये करते हैं न कि अनुकम्पादानसे अपनेको बचानेके लिए। अनुकम्पादान देना सामान्य गुण है और सामायक पोषा करना विशिष्ट गुण है उस विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके समय सामान्य गुणका त्याग होना स्वाभाविक है। जैसे दिशाकी मर्य्यादा करने वाला जो श्रावक घरसे बाहर जानेका त्याग किया हुआ है वह मुनिराजके सम्मुख भी उनके स्वागतार्थ नहीं जाता इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि मुनिराजके सम्मुख जाना छोड़नेके लिए इसने दिशाकी मर्य्यादा की है। तथा मुनिराजके स्वागतार्थ उनके सम्मुख जाना एकान्त पाप भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस श्रावकने विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये दिशाकी मर्य्यादा की है मुनिराजके सम्मुख जानेको एकान्त पाप जान कर उसे छोड़नेके आशयसे नहीं उसी तरह सामायक और पोषा करने वाला श्रावक एकान्त पाप जान कर अनुकम्पा दान देना नहीं छोड़ता है किन्तु विशिष्ट गुणका उपार्जन करते समय सामान्य गुण उससे छूट जाता है अतः अनुकम्पादानको एकान्त पाप जान कर श्रावक सामायक और पोषमें उसका त्याग करते हैं यह कहना अविवेक है।

जो श्रावक विशिष्ट निर्जराके निमित्त वैराग्यभावसे स्वयं उपवास करता है और उपदेश देकर अपने परिवारको भी उपवास कराता है वह उस रोज घरमें रसोई न होनेसे साधुको आहार पानी नहीं देता, तो भी उसको साधुदानका अन्तराय नहीं होता किंतु विशिष्ट निर्जराका लाभ होता है क्योंकि उसने साधुदानमें अन्तराय देनेके लिये उपवास नहीं किया है उसी तरह जो श्रावक सामायक और पोषा करते हैं उनको अनुकम्पादान का अन्तराय नहीं होता किन्तु विशिष्ट गुणकी प्राप्ति होती है क्योंकि अनुकम्पादानको त्यागनेके उद्देश्यसे श्रावक सामायक और पोषा नहीं करते। अतः अनुकम्पादानको एकान्त पाप जान कर सामायक और पोषामें उसका त्याग बतलाना अज्ञानियों का कार्य्य है।

भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना शास्त्र में वर्जित है। जैसे कि सुयगडाङ्ग सूत्रमें लिखा है—

"जेयणं पडिसेहंति वित्तिछेयं करंतिते"

अर्थात् जो अनुकम्पादानका निषेध करते हैं व हीन दीन जीवोंकी जीविका का उच्छेद करते हैं।

यहां वर्तमान कालका नाम न लेकर सभी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना मना किया है इसलिये जो किसी भी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे हीन दीनजीवोंकी जीविकाका छेदन करनेवाले पापी हैं। भ्रमविध्वंसनकारने इस गाथाको लिख कर इसके नीचे टब्बा अर्थ लिखा है वह टब्बा अर्थ यह है "जे गीतार्थ दाननिषेधे ते वृत्तिच्छेद वर्तमान काले पामवानो उपाय तेहनो विघ्न करे" तथा इस पाठकी समालोचना करते हुए भ्र० कारने लिखा है "दान देवे ते देवे छे ते वली निषेध्यां वृत्तिछेद हुवे अने जे देवे ते देवे न थी तो वृत्तिच्छेद किम हुवे। ते माटे वृत्तिच्छेद वर्तमान काले कह्यो छे। वली सुयगडांगनीवृत्ति शीलाङ्काचार्य्य की धी ते टीकामें पिण वर्तमान कालरो इज अर्थ छै" परन्तु यह बिलकुल मिथ्या है सुयगडाङ्ग सूत्रकी उक्त गाथामें वर्तमान कालका नाम तक नहीं है और शीलाङ्काचार्य्यने जो उक्त गाथाकी टीका लिखी है उसमें भी वर्तमान कालका जिक्र नहीं है किन्तु गाथा और उसकी टीकामें सामान्यरूपसे सब कालके लिए अनुकम्पादानका निषेध करना वर्जित किया है। यह गाथा लिखी जा चुकी है उसकी टीका यह है—"यत्किल सूक्ष्मधियाऽवयमिति मन्यमाना आगमसद्भावानभिज्ञाः प्रतिषेधन्ति तेऽगीतार्थाः प्राणिनां वृत्तिच्छेदं वर्तनोपायविघ्नं कुर्वन्ति" अर्थात् जो अपने को सूक्ष्मदर्शी मानते हुए आगमके तत्त्वको न जानकर अनुकम्पादानका निषेध करते हैं व अगीतार्थ हैं क्योंकि व प्राणियोंकी जीविकामें बाधा देते हैं।

' तएण से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पञ्चाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावय धम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जइत्ता समणं भगवं महावीरं वं दइ नमंसइत्ता एवं वयासी नो खलुमे कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिएवा अन्न उत्थिय देवयाणिवा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणिवा वंदित्तएवा नमंसित्त एवा पुव्विं अणालत्तेण आलवित्त एवा सलवित्तएवा तेसिं असण वा पाणं वा खाइमवा साइमवा दाऊंवा अणुप्प दाऊं वा नन्नत्थ रायाभियोगेणं गणाभियोगेणं बलाभियोगेणं देवयाभियोगेणं गुरुनि ग्गहेणं वित्ति कन्तारेणं । कप्पइमे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणवत्थपरिग्गहपायपुच्छणेणं पीढफलग सिज्जा संथारएणं ओसहभेसज्जेणं पडिलाभे माणस्स विह रित्तएत्तिकट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं पडिगिण्हइत्ता पसिणाइं पुच्छइत्ता अट्ठाइं आदियइ ''

(उपासक दशाङ्ग अ० १)

इसके अनन्तर आनन्द गाथा पतिने श्रमण भगवान् महावीर स्वामीसे पांच अणुव्रत सात शिक्षा व्रत द्वादश विध श्रावक धर्मको स्वीकार करके भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार करके इस प्रकार कहा कि हे भगवन् ! अन्य यूथिक यानी सर्वज्ञ भाषित धर्मसे भिन्न धर्मकी स्थापना करनेवाले अज्ञानी चरक परिव्राजक आदि तथा उनसे स्वीकार किये हुए देवताओंको वन्दन नमस्कार करना और उनके बोले बिना पहले ही उनसे आलाप संलाप करना उन्हें एक बार या अनेक बार अन्न, पान खाद्य और स्वाद्य देना आजसे मुझको नहीं कल्पता । परन्तु राजाभियोग गणाभियोग बलाभियोग देवाभियोग गुरुनिग्रह और वृत्तिकान्तारको छोड़ कर यह बात समझनी चाहिए ।

श्रमण निर्ग्रन्थोंको प्रासुक एषणीक अन्न पान खाद्य स्वाद्य वस्त्र पात्र पादपोञ्छन पीठ फलक शय्या संथारा और औषध भेषज आदि देते हुए विचरना आजसे मुझको कल्पता है । इस प्रकारका अभिग्रह धारण करके आनन्द श्रावकने भगवान्से प्रश्न पूछकर उत्तर पूछा और भगवान्से कहे हुए उत्तरका स्वीकार किया । यह ऊपर लिखे मूल पाठका आशय है ।

नोट—इस पाठमें साम्प्रदायिक खींचातानीके कारण बहुत भेद पाया जाता है इसलिए एशियाटिक सोसाइटी कलकत्तामें छपी हुई पुस्तकसे लेकर यह पाठ लिखा गया है । विख्यात अंग्रेज विद्वानने उक्त पुस्तक छपाई है और इसी पाठको यथार्थ माना है ।

इस सारे शास्त्रको जो अपनी इच्छा अथवा आश्रय लेकर विपरीत बतलाता है उनके लिए इनके अभिप्रायका समाधान और प्रकट करानेकी आज्ञा गया गुणानुवाद समझनी चाहिए।

(बोल २)

(प्रेरक)

अन्य तीर्थीको गुरु बुद्धिसे दान देनेका नियम, शास्त्र करता है अनुकम्पा लाकर दान देनेका नहीं इसलिये दीन हीन दुःखीको अनुकम्पाद्वारा देना एकान्त पाप नहीं है यह स्पष्ट हुआ। अब शास्त्रके मूलपाठमें यह बतलाइये कि किस अभिग्रहधारी बारह व्रतधारी श्रावकने बारह व्रत धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान दिया है ?

(प्ररूपक)

राजप्रश्नीय सूत्रमें आनन्द श्रावककी तरह अभिग्रहधारी समकित सहित बारह व्रत धारी राजा प्रदेशीका बारह व्रत धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुःखी जीवोंको दान शाला खोल कर अनुकम्पाद्वारा दान दिया है यह अभिग्रहधारी बारह व्रतधारी श्रावक के अनुकम्पा दान देनेका पूरा उदाहरण है। राजा प्रदेशी आनन्द श्रावकके समान ही बारह व्रतधारी श्रावक होनेके कारण अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा आदि न करनेका अभिग्रह धारण किया हुआ था तो भी उसने दान हीन जीवों को अनुकम्पा दान दिया, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्यतीर्थीको अनुकम्पा लाकर दान न देनेका श्रावकोंको अभिग्रह नहीं होता पूज्य बुद्धिसे देनेका होता है अतः अन्य तीर्थी पर अनुकम्पा लाकर दान देनेमें एकान्त पाप कहने वाले मिथ्यावादी हैं।

यदि कोई यह पूछे कि राजा प्रदेशी आनन्द श्रावककी तरह अभिग्रह धारी था इसमें क्या प्रमाण है ? तो उत्तर लिए आवश्यक सूत्रका मूल पाठ प्रमाण दिया जाता है। वह पाठ यह है—

'तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ सम्मत्तं उवसंपज्जइ। नो से कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिए वा" इत्यादि।

(आवश्यक सूत्र)

यह पाठ हर एक समकितधारीके लिए कहा है इस लिए सभी समकितधारी श्रावक अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा न करनेका अभिग्रह धारण करते हैं।

राजा प्रदेशी भी समकित सहित बारह व्रतधारी था इसलिए वह भी आनन्द श्रावकके समान ही अभिग्रहधारी था तथापि उसने जो दानशाला खोल कर हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान दिया था इससे अन्यतीर्थीको अनुकम्पा दान देना श्रावकका कर्त्तव्य सिद्ध होता है। राजा प्रदेशीने हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान दिया था यह मूल पाठ लिख कर बताया जाता है।

"तएण पएसी राया केसीकुमार समण एवं वयासी नो खलु भन्ते ! अहं पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविस्सामि। जहासे वनखंडेइवा जाव खलवाडेइवा। अहं ण सेयविया्पमोक्खाइं सत्तगाम सहस्साइं चत्तारिभागे करिस्सामि। एगे भागे बल वाहणस्स दलइस्सामि एगे भागे कोट्ठागारे दलइस्सामि एगे भागे अन्तेउरस्स दलइस्सामि एगेण भागेण महइमहालिय कूडागारसाल करिस्सामि। तत्थण बहुहिं पुरिसेहिं दिण्णभत्ति भत्तवेयणेहिं विउल असण पाण खाइम साइम उवक्खडावेत्ता बहुण समणमाहणभिक्खुयाण पथियपहियाणय परिभोय माणे बहुहिं सील पचक्खाण पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामित्ति कट्टु, जामेव दिस पाउब्भुए तामेव दिस पडिगए। ततेण पएसी राया कल्ल पाओ जाव तेजसा जलन्ते सेयवियाप्पमोक्खाइं सत्तगाम सहस्साइं चत्तारि भाए करति। एग भाग बलवाहणस्स दलयति जाव कूडागार साल करति तत्थ बहुहिं पुरुसेहिं जाव उवक्खडा वेत्ता बहुणं समण माहणाण जाव परिभोएमाणे विहरति"

(राजप्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

इसके अनन्तर राजा प्रदेशीने केशीकुमार श्रमण मुनिसे कहा कि हे मुने ! पहले रमणीय होकर पश्चात् वन खण्ड यावत् खलिहानकी तरह मैं अरमणीय न बनूंगा। किन्तु श्वेताम्बिका प्रभृति सात हजार गांवोंका चार भागोंमें बांट कर एक भाग हस्तिवाहनके लिये दूसरा कोष्ठागार के लिये और तीसरा अंत पुरके लिये दूंगा। तथा चौथे भागसे अति विशाल दानशाला बना कर उसमें बहुतसे वेतन भोगी पुरुषोंको नौकर रख कर उनके द्वारा चतुर्विध आहार तैयार करा कर श्रमण माहन भिक्षुक और राहगीरोंको भोजन कराता हुआ और शील प्रत्याख्यान पोषध

तथा उपवास करता हुआ सपरिवार मैं विचरूंगा यह कह कर राजा प्रदेशी जिधरसे आया था वहाँ चला गया। अनन्तर दूसरे दिन तेजसे प्रज्वलित सूर्योदय होनेपर राजा प्रदेशीने श्वेताम्बिका प्रभृति सात हजार गाँवोंका चार भागोंमें विभाग करके एक भाग बल वाहनको, दूसरा कोष्ठागारको तीसरा अन्तःपुरको दिया और चौथे भागसे अतिविशाल दानशाला बनवा कर उसमें बहुतसे पुरुष रख कर उनके द्वारा अशनादि चतुर्विध आहार तय्यार कराकर बहुतसे श्रमण माहन भिक्षुक और राहगीरोंको भोजन देता हुआ विचरने लगा।

यहां राजप्रश्नीय सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठमें राजा प्रदेशीका दानशाला बना कर श्रमण माहन भिक्षुक आदिको अनुकम्पा दान देना स्पष्ट लिखा हुआ है इससे सिद्ध होता है कि सम्यक्त्वके साथ बारह व्रत धारण करने वाले श्रावकोंको अन्य तीर्थियोंको गुरु बुद्धिसे दान न देनेका ही अभिग्रह होता है अनुकम्पा दान देनेका नहीं। अन्यथा आनन्द श्रावकके समान ही अभिग्रह धारी बारह व्रतधारी श्रावक होकर राजा प्रदेशी श्रमण माहन भिक्षुकोंको अनुकम्पा दान क्यों देता? तथा केशीकुमार श्रमण मुनि, अनुकम्पा दान देनेके लिए राजाकी प्रतिज्ञा सुन कर उसे क्यों नहीं इस कार्यसे रोक दिया? जिस समय राजा प्रदेशीने मुनिके समक्ष रमणीय बने रहनेकी प्रतिज्ञा करता हुआ दानशाला बनानेकी इच्छा प्रकट की थी उस समय कोई याचक वहां दान लेनेके लिए आया भी न था और राजा उसे कुछ देता भी न रहा था ऐसी दशामें केशी कुमार मुनि यदि राजाको अनुकम्पादानमें पाप बता कर रोक देते तो उनको भीखणजीके सिद्धान्तानुसार अन्तराय भी न होता, क्योंकि भीखणजीने भ्र० पृ० ५० पर लिखा है कि—"ऐसो देतां हुतां वर्तमान देखि पाप न कहे उण वेलां पाप कह्यां अन्तराय पड़े ते माटे साधु वर्तमान मौन राखे" यहां भीखणजीने वर्तमानमें ही अनुकम्पा दानके निषेधमें अन्तराय माना है दूसरे कालमें नहीं इसलिए राजा प्रदेशी को अनुकम्पा दानसे यदि मुनि वारण कर देते तो उस समय उनको अन्तराय भी न होता और राजा प्रदेशी एक नवीन पापसे भी बच जाता परन्तु मुनिने राजाको अनुकम्पा दान देनेसे वारण नहीं किया और यह भी नहीं कहा कि "राजन्! तुम यह क्या कह रहे हो। अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है इस कार्यके आचरण करनेसे तुम्हारा अभिग्रह टूट जायगा और तुम फिर [illegible] हो जाओगे" किन्तु मुनिने अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा सुन कर मौन धारण किया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है तथा अभिग्रह धारी श्रावकोंको अन्यतीर्थियोंके लिए अनुकम्पा दान देनेका त्याग नहीं होता किन्तु गुरु बुद्धिसे दान देनेका त्याग होता है

है इस लिए जो अनुकम्पा दानमें एकान्त पापका उपदेश देकर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं वे हीन दीन जीवोंकी जीविकाका उच्छेद करने वाले अज्ञानी हैं।

(बोल ३)

(प्रेरक)

आपने प्रदेशी राजाका उदाहरण देकर राजप्रश्नीय सूत्रके प्रमाणसे हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान देनेमें पुण्यका सद्भाव बतलाया परन्तु भ्र० कार भ्र० पृ० ५१ पर लिखते हैं—"वलीराय प्रदेशीये प्रश्नी दानशाला मंडाइ कही छै। राजरा च्यार भाग करने आप न्यारो होय धर्म ध्यान करवा लाग्यो। केशी स्वामी ती हुई ठामे मौन साधी छै तिण इम न कह्यो ह प्रदेशी तीन भागमें तो पाप छै पर चौथो भाग दान शाला रो काम तो पुण्यरो हेतु छै। थारे भन्यो मन ऊठो ओतो अच्छो काम करिवा विचार्यो इम चौथा भागने सरायो नहीं केशी स्वामी तो वो हुई सावद्यभागीन मौन साधी छै। तमाटे तीन भागरा फल जिसोइ चौथो भागरो फल छै" (भ्र० पृ० ५१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दानशाला बनवा कर हीन दीन दुखी जीवोंको दान देनेकी प्रतिज्ञा सुन कर केशी स्वामीने जो मौन धारण किया इसका तात्पर्य्य यह नहीं हो सकता कि अनुकम्पा दान एकान्त पापका कार्य्य था। क्योंकि एकान्त पापके कार्य्यकी प्रतिज्ञा सुन कर साधु मौन धारण नहीं करते, उपदेश देकर उसका निषेध करते हैं। साधुके समक्ष यदि कोई हिंसादि कुकर्म करनेका विचार प्रकट करे तो उस समय साधु मौन धारण न करके उस कार्य्यका प्रतिषेध करते हैं। अनुकम्पा दान देना यदि हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य होता तो उस कार्य्यके लिए प्रदेशीकी प्रतिज्ञा करते देख कर मुनि कदापि मौन न होते किन्तु धर्मोपदेश देकर उस कार्य्यसे उन्हें अवश्य रोकते। अत मुनिने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा करते हुए देख कर निषेध न करके जो मौन धारण किया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य नहीं है किन्तु इससे पुण्य भी होता है। अतएव केशी स्वामीने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेसे नहीं रोका था किन्तु मौन होकर रह गए अतः केशी स्वामीके मौन होनेका अभिप्राय अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप होनेकी बात बतलाना मूर्खोंका कार्य्य है।

भीषणजीने अनुकम्पा दानका यहां तक विरोध किया है कि यदि कोई अनुकम्पा दान देनेका त्याग कर देवे तो उसे उन्होंने अतिशय बुद्धिमान कहा है देखिये—भीषणजीके इस अभिप्रायके ये पद्य हैं—

"असंयमे दान दे, तहनो टालन रो कर उपायजी ।
जाने कर्म बंधे छै म्हायर माने भोगवना दुखदायजी ।
असंयम दान देवा तणू कोई त्याग करे मन शुद्धजी ।
तिणरो पाप निरन्तर टालियो तीसरी वीर बखाणी बुद्धिजी ।'

(पद्य भीषणजीके)

इन पद्योंमें भीषणजीने असंयम दान न देने वालेकी बुद्धिकी प्रशंसा वीर प्रभुसे किया जाना कहा है परन्तु केशी स्वामीने राजा प्रदेशीसे असंयममें दान देनेका त्याग नहीं कराया । यदि भीषणजीकी उक्ति सत्य होती तो केशी स्वामी राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कह कर उसका अवश्य त्याग कराते, मौन होकर न रहते । अतः अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप बताने वाले मिथ्यावादी हैं ।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकारने जो यह लिखा है कि "राजरा चार भाग करने आप न्यारो होय धर्मध्यान करवा लाग्यो" यह भी मिथ्या है । राजप्रश्नीय सूत्रके मूल पाठमें अनुकम्पादान देते हुए राजा प्रदेशीको धर्मध्यान करना लिखा है दान देनेसे न्यारा होकर धर्मध्यान करना नहीं । देखिये वहांका पाठ यह है—

"तत्थ बहुहिं पुरिसेहिं जाव उवक्खडावेत्ता
बहुण समण माहणाण परिभोयमाणे विहरति"

अर्थात् राजा प्रदेशी दानशालामें बहुत पुरुषोंके द्वारा चतुर्विध आहार तय्यार करा कर बहुतसे श्रमण माहन और याचकोंको भोजन कराता हुआ विचरने लगा ।

यहां मूलपाठमें दान देनेसे न्यारा होकर राजा प्रदेशीका विचरना नहीं किन्तु दान देते हुए विचरना लिखा है । अतः राजा प्रदेशीका दान देनेसे न्यारा होकर विचरनेकी प्ररूपणा मिथ्या है ।

(बोल चौथा)

(प्रेरक)

असंयतिको अनुकम्पा लाकर दान देना यदि एकान्त पाप नहीं है तो भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में असंयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना क्यों कहा ? भ्रमविध्वंसनकारने भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ५८ पर इस विषयमें यह लिखा है अथ अठे तथारूप असं

यतिने फासु अफासु असनो असूयतो अहानादिक देवे तं आयरूने एकान्त पाप कहा है'
(भ्र० पृ० ५) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूल पाठमें तथारूप असंयतिको गुरु बुद्धिसे दान देनेसे एकान्त पाप होना कहा है अनुकम्पादान नहीं। टीकाकारने इस विषय को खोल कर लिख दिया है। वह टीका यह है—

"सूत्र त्रयेणाऽपि चानेन मोक्षार्थ मेव यद्दानं तच्चिन्तितम् यत्पुनरनुकम्पादानमौचित्य दानं वा तन्न चिन्तितम्। निर्जरायास्तत्रानपेक्षणात् अनुकम्पौचित्ययोरेव चापेक्षणीयत्वात्। उक्त च मोक्खत्थं जं दाणं तं पइ एसो विही समक्खाओ अनुकम्पा दाणं पुण जिणेहिं न कहिंचि पडिसिद्धं"

अर्थात् भगवती शतक आठ उद्देशा छः के इन तीन सूत्रोंमें मोक्षके लिये जो दान दिया जाता है उसीका विचार किया गया है अनुकम्पादान और औचित्यदानका नहीं। अनुकम्पादान और औचित्य दानमें अनुकम्पा और औचित्य ही अपेक्षित होते हैं निर्जरा अपेक्षित नहीं होती (अतः निर्जराकी अपेक्षासे किये जाने वाले मोक्षार्थ दानका इन सूत्रोंमें कथन समझना चाहिये) कहा भी है—जो दान मोक्षके निमित्त दिया जाता है उसीका विधान भगवती शतक आठ उद्देशा ६ के तीनों सूत्रोंमें किया है दूसरे दानका नहीं क्योंकि जिनवरोंने अनुकम्पादानका कहीं भी निषेध नहीं किया है। यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है।

इसमें टीकाकारने भगवतीशतक ८ उद्देशा ६ के तीनों मूलपाठोंका तात्पर्य बतलाते हुए मोक्षार्थ दानका ही इन पाठोंमें विचार किया जाना बतलाया है अनुकम्पा तथा औचित्य दानका नहीं। तथा हरिभद्र सूरिने भी यही बात कही है। उनका पद्य निम्नलिखित है—

"शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसयताय प्रदीयते।
गुरुत्वबुद्धया तत्कर्म बन्ध कृन्नानु कम्पया"

अर्थात् शुद्ध, या अशुद्ध जो गुरु बुद्धिसे असयतिको दिया जाता है वही कर्म बन्धका कारण है, जो अनुकम्पासे दिया जाता है वह नहीं। यह उक्त पद्यका अर्थ है। इसमें हरिभद्र सूरिने भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठका आशय बतलाते हुए अनुकम्पादानका निषेध नहीं किया जाना स्पष्ट लिखा है। तथा आगे चलकर अनुकम्पादानका शुभ फल बतलाते हुए यह लिखा है—

"शुभाशयं करं ह्येतदाग्रहच्छेद कारि च।
सदभ्युदय साराग मनुकम्पा प्रसूति च॥

अर्थात् अनुकम्पा लाकर दान देनेसे चित्तकी शुद्धि और पात्रके प्रति ममताका नाश तथा अनन्तानुबन्धी कषायकी मन्दता होती है और अनुकम्पाभावका उदय होनेसे यह दान दिया जाता है।

इस श्लोकमें हरिभद्र सूरिने अनुकम्पादानका फल एकान्त पाप न कह कर इसे अनन्तानुबन्धी कषायकी मन्दताका कारण कहा है अतः भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें असंयतिको मोक्षार्थ गुरु बुद्धिसे दिया जाने वाला दानका ही फल एकान्त पाप कहा गया है अनुकम्पादानका नहीं इसलिए भगवती शतक ८ उद्देशा ६ का नाम लेकर अनुकम्पादानमें एकान्त पाप बताना सूत्रार्थ न जानने वालोंका कार्य है।

यदि कोई कहे कि "हरिभद्र सूरि और भगवती सूत्रके टीकाकार यद्यपि असंयतिको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप होना नहीं कहते तथापि यह बात मूलपाठसे नहीं निकलती। मूलपाठमें किसी दान विशेषका नाम न लेकर असंयतिको दान देनेसे एकान्त पाप कहा है इसलिये टीकाकार और हरिभद्रसूरिके कथनमें कोई प्रमाण नहीं है" तो इसका उत्तर यह है कि टीकाकार और हरिभद्र सूरिका पूर्वोक्त कथन निराधार नहीं है वह भगवतीके इस मूलपाठसे ही निकलता है। यह बात मूल पाठ लिख कर बताई जाती है। वह मूलपाठ यह है—

"समणोवासएण भन्ते ! तहारूव असंजय अविरय अपडिहय पच्चक्खाय पाव कम्मे फासुएणवा अफासुएणवा एसणिज्जेणवा अणे सणिज्जेणवा असणपाण जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगन्तसो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थिसे काइ निज्जरा कज्जइ"

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

इस पाठमें सभी असंयतिओंका नाम न लेकर तथा रूपके असंयतिको दान देनेसे श्रावकको एकान्त पाप होना कहा है। तथारूपका असंयति वह है जिसको लोकमें गुरु बुद्धिसे दान दिया जाता है और जो अन्य तीर्थियोंके शास्त्रानुसार लिङ्ग रखता हुआ अन्य तीर्थी धर्मकी स्थापना करता है उसीको दान देनेसे एकान्त पाप होना कहा है इसलिए भगवती सूत्रके इस मूलपाठसे ही यह बात निकलती है कि गुरु बुद्धिसे असंयतिको दान देना एकान्त पापका कारण है अतः भगवतीके टीकाकार और हरिभद्र सूरिका पूर्वोक्त कथन स्वकपोल कल्पित न होकर मूल पाठके अनुसार ही है उसे अप्रामाणिक समझना अज्ञान है। टीकाकारने 'तथा रूप' शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—

"तथा तत्प्रकार रूप स्वभावो नेपथ्यादिर्यस्य स तथारूप" (ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा १)

"उचित स्वभाव" "भक्ति दानोचित पात्रे" (भगवती शतक ५ उ० ५)

"दानोचित" (ठा० ठा० ३ उद्देशा १)

अर्थात् जिसका स्वभाव या वेषभूषा आदि उसी तरहका है वह 'तथा रूप' कहलाता है। जो भक्तिपूर्वक दान देने योग्य पात्र समझा जाता है वह तथा रूप कहलाता है।

उस तथा रूपके असंयतिको दान देनेसे श्रमणोपासकको एकान्त पाप होना भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कहा है इसलिये हरिभद्र सूरि और भगवतीके टीकाकारका कथन इस मूलपाठके शब्दसे ही निकलता है अतः वह अप्रामाणिक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जहां सब असंयतियोंको बतलाना होता है वहां 'तहारूवं' इस पदसे रहित पाठ आता है जैसे भगवती आदि सूत्रोंमें सब असंयतियोंको बतानेके लिये यह पाठ आया है—

"जीवेणं भन्ते! असंजए अविरए अपडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे" इत्यादि पाठों में "तहारूवं" इस पदसे रहित पाठ आया है इसलिये इन पाठोंमें सभी असंयतियोंका ग्रहण होता है परन्तु भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में "तहा रूवं" इस पदके साथ पाठ आया है इसलिये उसमें सभी असंयतियोंका ग्रहण न होकर अन्य तीर्थियोंके वेष भूषा धारण करने वाले उनके धर्माचार्य धर्म गुरुओंका ही ग्रहण होता है अतएव भगवती सूत्रके टीकाकार और हरिभद्र सूरिने गुरु बुद्धिसे असंयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाया है अनुकम्पादान देनेसे नहीं।

इस पाठमें "पडिलाभमाणे" इस पदके आनेसे भी यही बात सिद्ध होती है। "पडिलाभमाणे" इस पदका प्रयोग, स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको दान देनेके अर्थमें ही होता है गृहस्थको दान देनेके अर्थमें नहीं होता क्योंकि कहीं भी मूलपाठमें गृहस्थको दान देनेके अर्थमें "पडिलाभमाणे" इस पदका व्यवहार नहीं देखा जाता। इसलिये भग- वतीके मान्य पूज्य असंयतियोंको दान देनेका ही फल एकान्त पाप इस पाठमें कहा है सभी असंयतियोंको दान देनेका फल नहीं कहा। यदि कोई कहे कि भगवती शतक ८ उद्देशा ६ का मूल पाठ श्रावकके लिये आया है और श्रावक अन्य तीर्थियोंको गुरु बुद्धिसे दान नहीं देते फिर उस दानके फल बतानेकी इस पाठमें क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि जैसे साधु मैथुन सेवा, रात्रिभोजन आदि पापकर्म नहीं करते तथापि निशीथ सूत्रमें उनको रात्रिभोजन और मैथुन सेवन करनेका प्रायश्चित्त कहा

इसी तरह सूयगडांग श्रुत स्कन्ध २ उद्देशा ५ गाथा ३२ को लिख कर भ्रमविध्वंसन कारने जो गृहस्थको दान देने अर्थमें "पडिलभमाण" इस पदका व्यवहार बतलाया है वह भी मिथ्या है। उस गाथामें स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको ही दान अर्थमें "पडिलभमाण" इस पदका व्यवहार हुआ है गृहस्थको दान देने अर्थमें नहीं यह बात आगे चलकर बताई जायगी अतः सूय० की गाथाका नाम लेकर गृहस्थको दान देने अर्थमें "पडिलभमाण" पदका व्यवहार बताना भी अयुक्त है। भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूल पाठमें "पडिलभमाण" यह पद आया है इसलिए यह पाठ परतीर्थी साधु यानी अन्य यूथिकोंके गुरुको गुरुबुद्धिसे दान देने में ही एकान्त पाप बतलाता है अनुकम्पा दान देनेमें नहीं। अतः भगवतीके उक्त मूल पाठका नाम लेकर अनुकम्पा दानका निषेध करना मूर्खोंका कार्य है।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६६ पर सूय० श्रुत० २ अ० ६ गाथा ४३ ४४ और ४५ वीं को लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे आर्द्र मुनिने ब्राह्मणा कह्यो—जे पुरुष २ हजार ब्राह्मण नित्य जीमाड़े ते महा पुण्यस्कन्ध उपार्जी देवता हुवे एहवो हमारे वेदनो वचन छै तिवारे आर्द्र मुनि बोल्या अहो ब्राह्मणो! जे मांसना गृद्धी घर घरने विषे मंजारनी परे भ्रमण करणहार एहवा बेहजार कुपात्र ब्राह्मणाने नित्य जीमाड़े ते जीमाड़नहार पुरुष ते ब्राह्मणा सहित बहु वेदना छै जेहने एहवी महाअसह्य वेदना युक्त नरकने विषे जाइ" (भ्र० पृ० ६६) इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

आर्द्रकुमार मुनिने हिंसक, मांसाहारी, वैडालव्रतिक ब्राह्मणोंको पूज्य बुद्धिसे भोजन करानेसे नरक जाना कहा था, हीन दीन प्राणियोंपर दया लाकर उनको दान देनेसे एकान्त पाप या नरक जाना नहीं कहा इसलिए आर्द्रकुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पा दानका खण्डन करना मूर्खोंका कार्य है। अब वे गाथाये लिख कर उनका अर्थ बताया जाता है जिससे पाठकोंको आर्द्र कुमार मुनिके कथनका भाव ज्ञात हो जाय। वे गाथाएं ये हैं—

"सिणायगाणंतु दुवे सहस्से जे भोयए णियए माहणाणं।
ते पुण्ण खन्धे सुमहज्जणित्ता भवन्ति देवा इति वेयवाओ।

सिणायगाणंतु दुवे सहस्से जे भोयए णियए कुलालयाणं ।
से गच्छइ लोलुव संपगाढे तीव्वाभितावी नरगाभिसेवी ।
दयावरं धम्म दुगुंछमाणा वहावहं धम्म पसंसमाणा ।
एगंपि जे भोययइ असीलं णिवो णिसं जाति कुओ सुरेहिं ।”

(सूयगडांग सूत्र श्रु० २ अ० ६ गाथा ४३ ४४ ४५)

अर्थ—

पशुयागके समर्थक कर्मकाण्डी ब्राह्मण आर्द्रकुमार मुनिके पास आकर कहने लगे—हे आर्द्रकुमार ! तुमने गोशालक और बौद्ध मतका स्वीकार नहीं किया यह अच्छा किया है क्योंकि ये दोनों ही मत वेद बाह्य होनेके कारण असत्य हैं और ये आपका मत भी वेद बाह्य होनेसे निन्दित ही है अतः आप जैसे क्षत्रिय शिरोमणिके लिए इसका आश्रय लेना भी अनुचित है। आप सब वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सेवा करें शूद्रोंकी नहीं। षट्कर्म करने वाले यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छः कर्मोंमें सदा रत रहने वाले दो हजार ब्राह्मणोंको जो प्रतिदिन भोजन कराता है वह पुण्य समूहका उपार्जन करके स्वर्गलोकमें देवता होता है। ४३

इसका उत्तर देते हुए आर्द्रकुमार मुनिने कहा कि हे ब्राह्मणो ! जो मांसकी लालसासे बिलाड़की तरह घर घर फिरते हैं जो अपना उदर पूर्तिके लिए क्षत्रिय आदिके घरोंमें नीच वृत्ति करते हैं ऐसे दो हजार ब्राह्मणोंको नित्य भोजन कराने वाला पुरुष उन मांसाहारी ब्राह्मणोंके साथ साथ बहुत दुःख भोगनेके लिए नरकमें जाता है। ४४

जो, दया प्रधान धर्मकी निन्दा करता हुआ हिंसामय धर्मकी प्रशंसा करता है वह एक भी ब्राह्मणको भोजन कराता हुआ अन्धकारसे पूर्ण नरककी प्राप्ति होती है फिर जो दो हजार ऐसे ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं उनका कहना ही क्या है। पूर्वोक्त कुशील ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जब कि अधम देवता भी नहीं होता तब उत्तम देव होनेकी तो बात ही क्या है। ४५

यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका टीकानुसार अर्थ है।

इन गाथाओंमें दया धर्मकी निन्दा और हिंसामय धर्मकी प्रशंसा करनेवाले बिड़ालव्रतिक नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणोंको पुण्य बुद्धिसे दान देनेका पाप बताया गया है, दीन हीन दुःखी प्राणियों पर दया लाकर अनुकम्पा दान देनेका नहीं। अतः इन गाथाओंकी साक्षी देकर अनुकम्पा दानका निषेध करना एकान्त मिथ्या है। इन गाथाओंमें अनुकम्पा दानका कोई प्रसंग नहीं है क्योंकि ब्राह्मणोंने जैन धर्मकी निन्दा करके ब्राह्मण भोजन करानेसे स्वर्ग जाना कहा था उसका उत्तर देते हुए आर्द्रकुमार मुनिने वेदवादी हिंसक शिरोमणि नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाना कहा है इससे न तो अनुकम्पा दानका खण्डन होता है और न दयावान अहिंसक ब्रह्मचारी ब्राह्मण

यह मलिन और वेदान्तमतिक ब्राह्मणको अन्न देना भी धार्मिक मनुष्योंका कर्त्तव्य नहीं है। जो यह नहीं जानते उनको भी दान देना धार्मिक मनुष्योंके लिए अयोग्य है।

न्यायवृत्तिसे उपार्जन किया हुआ भी धन कपिलमतिक और वेदान्तमतिक ब्राह्मणको दिया हुआ परलोकमें दाता और गृहीता (लेनेवाला) दोनोंका अनर्थके लिए होता है।

जैसे पत्थरकी नावपर चढ़ा हुआ मनुष्य उस नावके साथ ही डूब जाता है उसी तरह दान और प्रतिग्रहकी विधि न जानने वाले दाता और गृहीता (लेनेवाला) दोनों ही नरकमें जाते हैं।

यहां मनुजीने भी दयारहित हिंसक वेदान्तमतिक ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाना कहा है और इन्हीं ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे मुनि आर्द्रकुमारने भी नरक प्राप्ति बताई है इसलिये आर्द्रकुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पादान देने और ब्राह्मणमात्रको भोजन करानेसे नरक प्राप्ति बतलाना मिथ्यावादियोंका कार्य्य है।

(बोल छट्ठा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६८ पर लिखते हैं "अथ इहां भृगुने पुत्रां कह्यो यह भण्या ब्राह्मण न होवे ब्राह्मण जीमायां तमतमा जाय तमतमा ते अन्धेरा में अंधेरा ते छट्ठी नरकमें जाय इम कह्यो जो विप्र जीमायां पुण्य कहे तो नरक क्यूं कह्यो' (भ्र० पृ० ६८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भृगु पुरोहितके पुत्रोंका नाम लेकर अनुकम्पादानमें पाप बताना मूर्खोंका कार्य्य है। भृगुके पुत्रोंने अनुकम्पा दान देनेसे पाप होना नहीं कहा था किन्तु यज्ञ यागादि करके पुण्य बुद्धिसे ब्राह्मण भोजन कराने, और पुत्रोत्पादन करनेसे जो लोग दुर्गतिमार्गका निरोध होना मानते हैं उनके मन्तव्यको मिथ्या बतलाया था। यदि कोई कहे कि अनुकम्पा करके असंयतिको दान देनेसे पुण्य होता तो भृगुके पुत्रोंने ब्राह्मण भोजन करानेसे तमतमा जाना क्यों कहा? तो इसका उत्तर यह है। यहां टीकाकारने लिखा है कि—

'तेहि भोजिता कुमार्ग प्ररूपणे पशुवधादौ च कर्मोपचयनिबन्धनेऽसद्व्यापारे प्रवर्त्तन्ते इत्यसत्प्रवर्त्तनतस्तद्भोजनस्य नरक गति हेतुत्वमेव'

अर्थात् हिंसामय धर्मकी प्रशंसा और दयामय धर्मकी निंदा करने वाले ब्राह्मण, भोजन कराये हुए कुमार्गकी प्ररूपणा और धर्मका प्रचार करके पशुवध आदि असद् व्यापारमें ही प्रवृत्त होते हैं अतः असद् व्यापारमें प्रवृत्त होनेके कारण उनको भोजन कराना नरक प्राप्तिका हेतु होता है।

इस गाथामें जो "पडिलंभ" पद आया है वह स्वयूथिक या परयूथिक साधु दान लाभ अर्थमें ही आया है गृहस्थके दान लाभ अर्थमें नहीं। अतएव टीकाकारने लिखा है कि —'यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दान ग्रहण प्रति यो लाभः' अर्थात् स्वयूथिक यानी अपने यूथके साधुको और तीर्थान्तरीय यानी अन्य दर्शनी साधुको दानकी प्राप्ति होना प्रतिलम्भ है।"

अतः इस गाथाकी साक्षी देकर जो जीतमलजीने गृहस्थके दान लाभ अर्थमें "प्रतिलम्भ" पदका व्यवहार बतलाया है वह मिथ्या है तथा इस गाथाको लिखकर इसके नीचे जो जीतमलजीने टब्बा अर्थ दिया है वह भी मूलपाठ और टीकासे असम्मत होनेके कारण एकान्त अशुद्ध और अप्रामाणिक है उसका आश्रय लेकर अनुकम्पादानका खण्डन करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य है।

(बोल ८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० ७८ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ इहां कह्यो जे नन्दन मणिहारो दान शालादिकनो घणो आरंभ करी मरने डेडको थयो। जो सावद्य दान थी पुण्य हुवे तो दानशालादिकथी घणा असंयति जीवारे साता न्हवाई ते साताना फल किहां गयो" इनके कहनेका भाव यह है कि नन्दन मणिहारने अनुकम्पा दान देकर अनेक हीनदीन दुःखी जीवोंको सुख दिया था परन्तु वह मर कर मेंढक योनिमें उत्पन्न हुआ यदि अनुकम्पादान देना पुण्य होता तो नन्दन मणिहार मर कर मेंढक क्यों होता? अतः अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

नन्दन मणिहारका नाम लेकर अनुकम्पादानमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है। ज्ञाता सूत्रके मूलपाठमें स्पष्ट लिखा है कि नन्दन मणिहार नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेसे मेंढक योनिमें उत्पन्न हुआ था, हीन दीन जीवोंको अनुकम्पादान देनेसे नहीं। ज्ञाता सूत्रका वह पाठ यह है —

"तत्तेण णंदे तेहिं सोलसेहिं रोगायंकेहिं अभिभूएसमाणे णंदाए पोक्खरिणीये मुच्छिते तिरिक्ख जोणिएहिं बद्धाउए बद्धपएसिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे कालमासे कालं किच्चा णंदाए पोक्खरिणीये ददुरिये कुच्छि सि ददुरत्ताए उववण्णे"

इसके अनन्तर वह नन्दन मनिहार सोलह रोगोंसे पीड़ित होकर नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेके कारण तिर्य्यञ्च योनिकी आयु बांध कर आर्त्तध्यान ध्याता हुआ काल के अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर नन्दा नामक पुष्करिणीके अन्दर मेंढक योनिमें उत्पन्न हुआ।

यहां नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त (गृद्ध) होनेके कारण नन्दन मनिहारको मेंढक योनिमें जन्म लेना लिखा है हीन दीन जीवों पर दया लाकर दान देनेके कारण नहीं। अतः नन्दन मनिहारका नाम लेकर अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना मिथ्या-वादियोंका काम है। कई ऐसा प्रश्न करते हैं कि अनुकम्पा दान देनेमें यदि पुण्य था तो नन्दन मनिहार अनुकम्पा दान देकर मेंढक क्यों हुआ ? अनुकम्पा दानका फल उसको क्या मिला था ? उनसे कहना चाहिये कि नन्दन मनिहारने श्रावकोंके बारह व्रत भी धारण किये थे उसका फल उसको क्या मिला था यह आप बतलावें ? यदि वह कहें कि बारह व्रत धारण करनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूल पाठमें उसका कुछ कथन नहीं है, तो यही उनके प्रश्नका भी उत्तर है अर्थात् अनुकम्पा दान देनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूलपाठमें उसका कुछ कथन नहीं है यहां तो नन्दन मनिहार का चरित्र बता कर यह उपदेश दिया है कि भव्य जीवोंको सांसारिक पदार्थों में आसक्त न होना चाहिये और भूल कर भी कुसङ्गतिमें न पड़ना चाहिये क्योंकि नन्दन मनिहार कुसङ्गतिमें पड़ कर बारह व्रतधारी श्रावक से फिर मिथ्यादृष्टि हो गया था और नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होकर मेंढक योनिमें जन्म लिया था। यही नन्दन मनिहारके उपाख्यानका सार है अतः नन्दन मनिहारके उदाहरण से अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना अज्ञान है।

कोई कोई कहते हैं कि "नन्दन मनिहार जब तक सम्यग्दृष्टि था तब तक उसने दानशाला आदि परोपकारक कार्य्य नहीं किया था किन्तु मिथ्यादृष्टि होने पर उसने दानशाला आदि परोपकारक कार्य्य किये थे इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकार के कार्य्य मिथ्यादृष्टि करते हैं सम्यग्दृष्टि नहीं" वे भोले जीव हैं। राजा प्रदेशी जब तक मिथ्यादृष्टि था तब तक दानशाला आदि परोपकारका कार्य्य नहीं करता था बल्कि हीन दीन जीवोंकी जीविकाका उच्छेद करता था परन्तु केशीकुमार मुनिके उपदेशसे जब वह बारह व्रतधारी श्रावक हुआ तब वह दानशाला बना कर हीन दीन जीवोंको दान देने लग गया था अतः अनुकम्पा दान देना मिथ्यादृष्टियोंका ही कार्य्य नहीं है सम्यग्दृष्टि भी यह कार्य्य करते हैं इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकारक कार्य्यसे जनता को विमुख करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल ९)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७६ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशका मूलपाठ लिख कर एक धर्मदानको छोड शेष नौ दानाको अधर्म दानमें कायम करनेके लिये यह लिखते हैं :—

"असयतिने सूझता असूझता असनादिक ४ दीधा एकान्त पाप भगवती शतक आठ उद्देशा ६ कह्यो ते माटे ए नौ दानामें धर्मपुण्य मिश्र नहीं छै कोइ कहे एक धर्म दान एक अधर्मदान बीजा आठामें मिश्र छै। कई एकलो पुण्य छै इम कहे तहनो उत्तर— जो वेश्यादिकनो दान अधर्ममें पाप विषयरो दोष बतायने तो बीजा आठ पिण तिणमें इज छै" (भ्र० पृ० ७६)

इसका समाधान ?

(प्ररूपक)

धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्मदानमें गिनना शास्त्रविरुद्ध है। शास्त्रकारने दश ही दानोको परस्पर विलक्षण और एकमें दूसरका समावेश न होना बतलाया है। यदि धर्मदानको छोड कर शेष नौ ही दान अधर्मदानके भेद होते तो शास्त्रकार यह लिखते कि "दुविहे दाणे पण्णत्ते तजहा—धम्म दाणे चेव अधम्मदाणे चेव" यह लिख कर पश्चात् अनुकम्पा आदि दानोंको अधर्मदानमें समावेश कर देते परन्तु ऐसा न कह कर जो दानके दश भेद शास्त्रकारने बतलाये हैं इससे अनुकम्पा आदि दानोंका अधर्म दानसे भेद होना स्पष्ट सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि इन दश दानोंके गुणानुसार नाम रक्खे गये हैं जिस दानका फल अनुकम्पा है उसका 'अनुकम्पा' नाम रक्खा है और जिसका फल संग्रह (दीन दुखीको सहायता देना) है उसका संग्रह नाम रक्खा है इसी तरह शेष आठ दानोंके भी गुणानुसार ही नाम रक्खे गये हैं और भीषणजीने भी यह बात मानी है जैसे कि उन्होंने लिखा है "दश दान भगवन्त भाषिया, सूत्र ठाणाग माय। गुण निष्पन्न नाम छै तेहनो, भोलान खबर न काय" (पद्य भीषणजी कृत)

इस प्रकार दश दानोका गुणानुसार नाम होना स्वयं भीषणजीने स्वीकार किया है ऐसी अवस्थामें धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ ही दानोंको अधर्मदानमें बताना जीतमलजीका अपने गुरुकी उक्तिसे ही विरुद्ध होना है। जब कि इन दानोंके नाम इनके गुणानुसार रक्खे गये हैं तब अनुकम्पादानका गुण अनुकम्पा कहना होगा अनुकम्पा अधर्ममें नहीं है, इसलिये अनुकम्पादान अधर्मदानमें नहीं हो सकता। इसी तरह संग्रह दानका फल संग्रह (दीन दुःखीको सहायता देना) करुणादानका फल करुणा और लज्जा आदि दानोंके फल लज्जा आदि हैं। दान दुःखीको सहायता देना आदि अधर्ममें नहीं है अत संग्रह

आदि दान अधमदानमें नहीं हो सकते ऐसी दशामें एक धर्मदानके सिवाय बाकीके नौ ही दानोंको अधर्मदानमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है।

जो लोग एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्म गिनते हैं उनसे कहना चाहिये कि जो दान, भक्ति भावसे प्रत्युपकारकी आशाके बिना पञ्च महाव्रतधारी साधुको दिया जाता है वही मुख्य रूपसे एकान्त धर्मदान है। परन्तु जो लज्जावश या अनुकम्पा करके साधुको दिया जाता है वह दान, दाताके परिणामानुसार मुख्यरूपसे लज्जादान और अनुकम्पादान है। यह दान, धर्मदानसे कथंचित् भिन्न है क्योंकि इसमें दाताका परिणाम लज्जा और अनुकम्पाका भी है अतः तुम्हारे हिसाबसे इस दानका फल अधर्म ही होना चाहिये यदि कहो कि "किसी भी परिणामसे साधुको दान देना एकान्त धर्मदान है इसलिये उक्त दानोंका फल अधर्म नहीं है" तो नागश्री ब्राह्मणीने मुनि को मारनेके परिणामसे कडुवा तुम्बा का शाक दिया था और साहूकारकी स्त्रीने विषय भोग करानेकी लालसासे कामोत्तेजक मुनिको मोदक दिये थे फिर इन दानोंका फल भी अधर्म न होना चाहिए यदि कहो कि नागश्रीने मुनिको मारनेके परिणामसे, और साहूकार की स्त्रीने मुनिको भ्रष्ट करनेके भावसे दान दिये थे इसलिये उनके दान उनके परिणामानुसार अधर्मदान थे धर्मदान नहीं, तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दान, लज्जावश या अनुकम्पा करके मुनिको दिया जाता है वह भी दाताके परिणामानुसार लज्जादान और अनुकम्पादान ही है। तुम्हारे सिद्धान्तानुसार इन दानोंमें भी अधर्म ही होना चाहिये परन्तु यह शास्त्र संमत नहीं है इन दानोंमें भी दाताके परिणामानुसार धर्म ही होता है। अतः धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्ममें कायम करना अज्ञान है। अनुकम्पा दान साधु भी देते हैं इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है।

"अणुकम्प पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता तजहा—तवस्सि पडिणीए, गिलाण पडिणीए, सेहपडिणीए"

(ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४)

अर्थात् तीन मनुष्य अनुकम्पा करने योग्य होते हैं। तपस्वी क्षपक, रोग आदिसे ग्लान और नवदीक्षित शिष्य, इनकी अनुकम्पा न कर और न कराय तो वह वैरी समझा जाता है।

इस पाठके अनुसार यदि कोढ़, रोग आदिसे ग्लान और तपस्वी क्षपक, तथा नवदीक्षित शिष्य पर अनुकम्पा करके दान देवे तो वह दान दाताका परिणामके अनुसार मुख्य रूपसे अनुकम्पादान है। इसमें भी जो लोग धर्मदानके सिवाय नौ दानोंको अधर्ममें मानते हैं उनके हिसाबसे अधर्म होना चाहिये। उवाई सूत्रमें लोकोपचार विनय के "कज्जहेतु" और "कयपडिकिरिया" नामक दो भेद कहे गये हैं। "यदि गुरुजीको आज

पानी आदि देकर मैं प्रसन्न रक्खूंगा तो यह गुणको शास्त्र ज्ञानकी कृपा करेंगे' इस भाव से गुरुकी सेवा भक्ति दान सम्मान आदि करना "कार्यहेतु विनय" कहलाता है। यह विनय "करिष्यतीति दान" में अन्तर्गत है क्योंकि जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसीको 'करिष्यतीति' दान कहते हैं। साधु भी अपने गुरुको यह दान देकर लोकोपचार विनय करता है। यह दान प्रत्युपकारकी आशासे किये जानेसे 'करिष्यतीति दान" है। जीतमलजीके हिसाबसे यह दान भी अधर्ममें ही ठहरता है क्योंकि प्रत्युपकार की आशासे किये जानेके कारण यह दान कथञ्चित् धर्मदानसे भिन्न है।

जो दान उपकारी पुरुषको उपकारके बदलेमें दिया जाता है वह "कृत दान" कहलाता है। साधु भी उपकारके बदलेमें अपने गुरुको यह दान देकर "कृत प्रति क्रिया" नामक विनय करता है। यह दान उपकारके बदलेमें दिया जाता है इसलिये कथञ्चित् धर्मदानसे भिन्न है अतः जीतमलजीके हिसाबसे इसमें भी पाप ही होना चाहिये। कई मनुष्य मुनिको गर्वसे भी दान देते हैं वह दान दाताके परिणामके अनुसार गर्वदान है उस मेंभी जीतमलजीकी प्ररूपणाके अनुसार पाप ही ठहरता है परन्तु शास्त्र प्रमाणसे यह प्ररूपणा मिथ्या सिद्ध होती है क्योंकि लोकोपचार विनय करनेके लिये अपने गुरु को "कृत दान" और "करिष्यतीति दान" करने वाले मुनिको और गर्वसे मुनिको दान देने वाले गृहस्थको धर्म होता है पाप नहीं होता। अतः एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको एकान्त अधर्ममें कायम करना अज्ञान है।

वास्तवमें ये दशविध दान, परस्पर एक दूसरेसे भिन्न और नामानुसार गुणवाले हैं अतएव ये अलग अलग कहे गये हैं यदि धर्मदानको छोड़ कर शेष नौं दान एकान्त रूपसे अधर्म में ही होते तो इन्हें अधर्म दानसे अलग लिखनेकी कुछ भी आवश्यकता न थी। भीषणजीने अपने पद्यमें स्पष्ट स्वीकार किया है कि इन दानोंके नाम गुणानु सार रक्खे गये हैं इस लिये जैसा इनका नाम है वैसा ही इनका गुण भी है अतः अनु कम्पा आदि नौ दानोंको एकांत अधर्ममें स्थापन करना अज्ञान है।

ठाणाङ्ग सूत्रकी मूलगाथा टीकाके साथ लिख कर इन दश दानोंकी व्याख्या की जाती है। वह गाथा यह है—

"दसविहे दाणे पण्णत्ते तंजहा—
"अणुकम्पा संगहे चेव भए कालुणि एति य
लज्जाए गारवेण य अधम्मे पुण सत्तमें
धम्मेत अट्ठमे वुत्ते काही तीत कतंति त"

(ठाणाङ्ग ठाणा १० उद्देशा ३)

कहा है कि कृपण, अनाथ, दरिद्र, दुखी और रोग शोकसे पीड़ित जीव को अनुकम्पा करके जो दान दिया जाता है उसे 'अनुकम्पा' या 'अनुकम्पादान' कहते हैं। दुखी जीव की सहायता देनेका नाम 'संग्रह' है उसके निमित्त जो दान दिया जाता है उसे संग्रह या संग्रहदान कहते हैं। पूज्यपाद उमा स्वातिने कहा है कि अभ्युदय (हानी) या संकट होने पर सहायताके लिये जो दान दिया जाता है उसे मुनि लोग संग्रहदान कहते हैं यह दान मोक्षके लिये नहीं होता। जो दान भयसे दिया जाता है वह 'भय' या भयदान कहा जाता है। राजा महाराजा कोटवाल आदिको भयके कारण दान देना 'भयदान' है। जो दान करुणा (शोक) से दिया जाता है वह कारुण्य या कारुण्यदान कहलाता है। पुत्र आदिके मरने पर उस पुत्रको परलोकमें सुखी होनेके भावसे उसके खाट आदिको दान देना कारुण्य-दान' समझना चाहिये। जो दान लज्जाके कारण दिया जाता है वह लज्जा दान कहलाता है। सभा आदिमें बैठे हुए पुरुषसे कोई वस्तु मांगने पर वह पुरुष लज्जावश परायेका चित्त भङ्ग न होनेके लिये जो दान देता है वह लज्जादान कहलाता है। नाचने गाने वाले मल्लयुद्ध करनेवाले और अपने सम्बन्धी बन्धु बान्धव, और मित्र आदिको कीर्ति के लिये जो दान दिया जाता है उसे गौरवदान कहते हैं यह दान गर्वसे दिया जाता है इस लिये इसका गौरवदान नाम रक्खा है। जो दान अधर्मके लिये दिया जाता है वह अधर्म दान कहलाता है। हिंसा झूठ चोरी और परस्त्री सेवन करनेवालोंको हिंसा झूठ चोरी और जारीकी सहायता देनेके लिये जो दान दिया जाता है वह 'अधर्मदान' है। धर्मके लिये दान देना धर्मदान है। तृण मणि और मुक्ताको समान समझने वाले सुपात्रको जो दान दिया जाता है वह धर्मदान है यह दान अक्षय अतुल्य और अनन्त होता है। जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसे 'करिष्यति इति दान' कहते हैं। जो उपकारका बदला चुकानेके लिये उपकारीको दान दिया जाता है वह कृत दान कहलाता है। इसने सैकड़ों बार उपकार किये हैं और हजारों बार मुझको दान दिये हैं अतः इसे मैं भी दूं यह समझ कर जो दान दिया जाता है वह कृतदान समझना चाहिये। यह ऊपर लिखी हुई टीकाका भावार्थ है।

यहां मूलपाठ और टीकामें हिंसा झूठ चोरी और जारीके लिये जो हिंसक चोर जार आदिको दान दिया जाता है उसीको अधर्मदान कहा है इससे भिन्न दानोंको नहीं इस लिये धर्मदानको छोड़ कर शेष दानोंको अधर्मदानमें बताना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये। जो लोग धर्मदानके सिवाय दूसरे दानोंको अधर्म तथा एकान्त पापमें बतलाते हैं उनके हिसाबसे उपकारीको उपकारका बदलेमें कृतदान करना अधर्म और एकान्त पाप ठहरता है और उपकारका बदला चुकानेवाला इनके मतसे पुरुष एकान्त पापी

कायम होता है इसके विपरीत उपकारीको उपकारका बदला न चुकाना धर्म और उपकार का बदला न चुकानेवाला कृतघ्न पुरुष धार्मिक सिद्ध होता है परन्तु यह बात लोक और शास्त्र दोनों ही से विरुद्ध है शास्त्र और शिष्ट पुरुष कृतघ्नको पापी और कृतज्ञको धार्मिक कदापि नहीं कह सकते यह तो भ्रमविध्वंसनकारकी ही अलौकिक प्रतिभा है जो कृतज्ञ को पापी और कृतघ्नको धार्मिक कायम करती है। वास्तवमें इन दश दानोंके गुणानुसार नाम रक्खे गये हैं इसलिये एक अधर्मदान ही अधर्म है उससे भिन्न दान अधर्मदान नहीं हैं किन्तु नामानुसार उनके गुण हैं भीषणजीने भी इन दानोंके नाम गुणनिष्पन्न कहे हैं अत धर्मदानको छोड़ कर शेष नौही दानोंको अधर्मदानमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल दसवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—

'एतले दान चार विसामा बाहिरे छै। धर्मदान विसामा माहि छै। एन्याय तो चतुर हुवे तो श्रोलखे इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवोंको सावद्य कर्मों का भार उतार कर विश्राम करनेके लिये चार स्थान कहे हैं। वे ये हैं—श्रावक व्रत ग्रहण, सामायक देशावकाशिक व्रत, पोषधोपवास और संथारा सल्लेखना द्वारा पण्डित मरण प्राप्त करना, इन विश्राम स्थानोंमें एक धर्मदान ही शामिल होता है शेष नौ दान नहीं होते अत वे अधर्मदान हैं। इसका समाधान क्या है ?

(प्ररूपक)

जो क्रिया विश्राम स्थानसे बाहर है उसे एकान्त पापमें बताना मूर्खता है क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंकी सभी क्रियाए विश्राम स्थानोंसे बाहर ही होती हैं तो भी वे अपनी क्रियाओंसे पुण्य संचय करके स्वर्गगामी होते हैं यदि विश्राम स्थानसे बाहर की सभी क्रियाए एकान्त पापमें होतीं तो मिथ्यादृष्टि विश्राम स्थानसे बाहरकी क्रिया करके उसके द्वारा स्वर्गगामी क्यों होता ? क्योंकि ऊपर कहे हुए चार विश्राम स्थान सम्यग्दृष्टियोंके हैं मिथ्यादृष्टियोंके नहीं यह बात निर्विवाद है ऐसी दशामें विश्राम स्थानोंसे बाहर की क्रियाओंको एकान्त पापमें कायम करना मूर्खताके सिवाय और कुछ नहीं है।

(बोल ग्यारहवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—'अठे दश धर्म दश स्थविर कह्या तिण सावद्य निरवद्य ओलखणा, अने दश दान कह्या ते पिण सावद्य निरवद्य पिछाणणा। धर्म अने स्थविर कह्या छै तिण लौकिक लोकोत्तर दोनूं छै जिम अनुकम्प

आचार व्यवहारकी व्यवस्थाको कुल धर्म कहते हैं, अथवा कुल नाम जैनोंके चान्द्रादिक गच्छका है उसकी समाचारीको कुल धर्म कहते हैं। मल्लयुद्ध आदिसे अपनी जीविका चलाने वाले मनुष्योंके आचार व्यवहारकी व्यवस्थाका नाम गण धर्म है। अथवा जैनोंके कुल समुदाय कौटिकादिका नाम गण है उसके समाचारको गणधर्म कहते हैं। सभा आदिके नियम और उपनियमोंको सङ्घधर्म कहते हैं अथवा जैनोंके साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके समूहका नाम सङ्घ है उसके धर्मको सङ्घधर्म कहते हैं। दुर्गतिमें पड़ते हुए जीवोंको बचाने वाले आचाराङ्गादि बारह अङ्गोंका नाम श्रुत धर्म है। कर्म समूहको विनाश करनेवाले धर्मको चारित्र धर्म कहते हैं। अस्ति नाम प्रदेशोंका है उनकी राशिको अस्तिकाय धर्म कहते हैं यह जीवोंको गति और पर्यायमें धारण करता है इसलिये इसे धर्म कहते हैं इसी तरह पञ्चास्ति कायका धर्म समझना चाहिए। यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है।

यहां मूलपाठ और टीकामें पहले पहल ग्राम धर्म कहा गया है यह ग्राम धर्म, ग्रामस्थ जनताको चोरी जारी हिंसा झूठ आदि बुराइयोंसे हटा कर सत्पथमें प्रवृत्त करता है ग्रामवासियोंकी स्थिति रक्षा और उन्नति इसी ग्राम धर्म पर अवलम्बित है। जिस ग्राममें ग्रामधर्मका पालन नहीं होता उसका शीघ्र ही अन्त हो जाता है इसलिये ग्रामधर्मको जो एकान्त पाप कहता है उसे प्रथम श्रेणिका मूर्ख समझना चाहिये। जिससे चोरी जारी झूठ हिंसा आदि पाप कर्म रुकें और जनता सदाचारिणी बने वह एकान्त पाप कैसे हो सकता है? इसी तरह नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी नगर तथा राष्ट्रमें रहने वाली जनताको चोरी जारी हिंसा आदि पाप कर्मोंसे रोक कर सुमार्गमें प्रवृत्त करते हैं। इनके बिना नगर और राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं रह सकते अतः इन धर्मोंको एकान्त पापमें कहना अज्ञानका परिणाम है। जिनसे चोरी जारी और हिंसा आदि एकान्त पापके कार्य्य रोक दिये जाते हैं वह एकान्त पाप कैसे हो सकता है यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिये।

यदि कोई कहे कि "ये ग्रामधर्म आदि जनताके हितसाधक अवश्य हैं परन्तु मोक्षके सहायक नहीं हैं इसलिए ये लौकिक धर्म हैं लोकोत्तरधर्म नहीं हैं और लोकोत्तरधर्मसे भिन्न सभी धर्म एकान्त पाप हैं तो यह मिथ्या है। ये ग्रामधर्मादि मोक्षके भी सहायक हैं क्योंकि श्रुत और चारित्रधर्मके पालनसे मोक्ष होता है और उनका पालन करनेवाले पुरुष ग्राम नगर तथा राष्ट्रमें ही रहते हैं वे अपने श्रुत और चारित्र धर्मका पालन तभी कर सकते हैं जब ग्राम नगर और राष्ट्रोंमें ग्रामधर्म नगरधर्म और राष्ट्रधर्मका पालन होता

हो। जहां उक्त धर्मों का पालन न होकर चोरी जारी हिंसा आदिका साम्राज्य हो उस स्थान पर चारित्री पुरुषका चारित्र नहीं पल सकता। अतएव श्रुत तथा चारित्रके पालन करने वाले पुरुषके ठाणाङ्ग सूत्रमें पांच सहायक बताए हैं वह पाठ—

"धम्मं चरमाणस्स पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता तंजहा—छक्काए, गणे, राया, गिहपती, सरीरं"

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थात् श्रुत और चारित्र धर्मका पालन करने वाले पुरुषोंके पांच सहायक होते हैं वे ये हैं—छः काया, गण, राजा, गृहपति और शरीर।

यहां छः काय आदिके समान ही राजा भी श्रुत और चारित्र धर्मके पालनमें सहायक माना गया है। यदि राजा न हो तो राष्ट्रमें शान्ति और सुव्यवस्था नहीं रह सकती और शान्ति तथा सुव्यवस्थाके बिना श्रुत और चारित्र धर्मका पालन नहीं हो सकता इसलिये ठाणाङ्गसूत्रमें श्रुत और चारित्रधर्मके पालनमें राजा भी सहायक माना गया है। जिस प्रकार राज्यमें शांति और सुव्यवस्थाके विधान करनेसे राजा, श्रुत और चारित्र धर्मके पालनमें सहायक होता है उसी तरह ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी ग्राम आदिकी सुव्यवस्था करके श्रुत और चारित्र धर्मके पालनमें सहायक होते हैं अतः ये लौकिकधर्म होने पर भी परम्परासे मोक्षके साधक हैं इसलिये इन्हें एकान्त पापमें कहना अज्ञानियों का कार्य्य है।

पाखण्ड धर्म भी एकान्त पापमें नहीं है क्योंकि पाखण्ड नाम व्रतका है और व्रत धारियोंके धर्मका नाम पाखण्ड धर्म है इसलिए यह भी एकान्त पापमें नहीं हो सकता। पर पाखण्डियोंके धर्ममें भी कई उत्तम गुण होते हैं और उन उत्तम गुणोंके प्रभावसे पाखण्डी भी स्वर्गगामी होते हैं इसलिए पर पाखण्डियोंके धर्मको भी एकान्त पापमें नहीं कह सकते इसी प्रकार कुल, गण और सङ्घधर्म भी एकान्त पापमें नहीं हैं। उक्त दश ही धर्म अपने अपने कार्य्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भी बुरा नहीं है इसलिये इन दशविध धर्मों में से कई धर्मोंको एकान्त पापमें कायम करना अज्ञानका कार्य्य समझना चाहिये।

इन दश विध धर्मों की व्यवस्था करनेवाले स्थविर भी दश प्रकारके कहे गये हैं वे सभी अपने अपने कार्य्य क्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भी एकान्त पापी नहीं है अतः कई स्थविरों को एकान्त पापी कहना भी अज्ञान है। इन स्थविरोंका स्वरूप ठाणाङ्ग सूत्रके मूल पाठमें लिखा है। वह पाठ—

"नवविहे पुण्णे पण्णत्ते तंजहा—

अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, वत्थपुण्णे, मन पुण्णे, वय पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे"

(ठाणांग ठाणा ९)

अर्थ —

पुण्य नौ प्रकारके होते हैं अन्न दान देना, जल दान देना, घर मकान देना, शय्या संथारा देना वस्त्र दान देना, गुणवान् पुरुष पर हर्षित रहना, वचनसे गुणवानोंकी प्रशंसा करना और गुणवानोंको नमस्कार करना।

यहां मूल पाठमें किसीका नाम निर्देश न करके साधारण रूपसे अन्न जल आदि के दान देनेसे पुण्य बन्ध होना कहा गया है इसलिये हीन दीन जीवोंको दया लाकर दान देनेसे एकान्त पाप कहना मूर्खोंका कार्य है। कोई कहते हैं कि "साधुसे भिन्नको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधुसे भिन्नको नमस्कार करने और उसकी प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होना चाहिए परन्तु साधुसे भिन्नको नमस्कार और प्रशंसा करनेसे पुण्य नहीं होता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे भी पुण्य नहीं होता है" उनसे कहना चाहिए कि तुम्हारी यह कल्पना मिथ्या है साधुसे इतरको वन्दन नमस्कार करने और प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होता है परन्तु जिसको वन्दन नमस्कार तथा प्रशंसा की जाय वह पुरुष गुणवान् होना चाहिए जैसे कि टीकाकारने लिखा है —"मनसा गुणिषु तोषाद्वाचा प्रशंसनात्कायेन पर्युपासनान्नमस्काराच्च यत्पुण्यन्तन्मन: पुण्यादीनि" अर्थात् गुणवान पुरुषोंपर मनसे प्रसन्नता लाने और वचनसे उनकी प्रशंसा करने और शरीरसे उनकी सेवाशुश्रूषा करने तथा उनको नमस्कार करनेसे जो पुण्य होता है उसे क्रमसे मनपुण्य वचन पुण्य कायपुण्य और नमस्कार पुण्य कहते हैं।

यहां टीकाकारने गुणवान् पुरुषसे प्रसन्नता लाने उनकी प्रशंसा आदि करनेसे पुण्य बन्ध होना कहा है केवल साधुको ही नमस्कार आदि करनेसे पुण्यबंध होना नहीं कहा इसलिये साधुसे इतर सभीको वन्दन नमस्कार आदि करनेसे पाप बतलाना मिथ्या है। जिस प्रकार साधुसे इतर गुणवान् पुरुषको वन्दन नमस्कार और सेवा शुश्रूषा आदि करनेसे पुण्य होता है उसी तरह साधुसे इतर हीन दीन जीवोंपर अनुकम्पा करके दान देनेसे भी पुण्य होता है अतः हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे जो एकान्त पाप बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं।

यदि कोई कहे कि "ऊपर लिखी हुई टीकामें जो 'गुणिषु' यह पद आया है उस का साधु अर्थ है क्योंकि गुणवान साधु ही होते हैं इसलिये इस टीकासे साधुको ही

छोटे साधु बड़े साधुको छोटे श्रावक बड़े श्रावकको छोटा भाई बड़े भाईको पुत्र अपने माता पिता आदि गुरु जनोंको जो वन्दन नमस्कार करते हैं उससे पुण्य ही होता है एकान्त पाप नहीं होता कदाई कोई कहते हैं कि हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो उनको नमस्कार करनेसे भी पुण्य होना चाहिए, उनसे कहना चाहिए कि अनुकम्पा, छोटे बड़े सब पर की जाती है पर वन्दन नमस्कार अपनेसे श्रेष्ठको ही किया जाता है। सबको नहीं। हीन दीन दुःखी अनुकम्पा करनेके पात्र हैं पर श्रेष्ठ न होनेके कारण नमस्कार करनेके पात्र नहीं हैं इसलिए उनको अनुकम्पा दान देनेसे पुण्य होता है पर नमस्कार करनेसे नहीं इस प्रकार वास्तव स्पष्ट होनेपर भी हठसे पुण्यको सत्यतासे अनुकम्पा दान देने और साधुसे इतर माता पिता श्रेष्ठ श्रावक आदिको नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य है।

कोई कोई कहते हैं कि "साधुसे इतरको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो कसाईको बकरा मारनेके लिए, चोरको चोरी करनेके लिए, वेश्याको व्यभिचार सेवन करनेके लिए दान देनेसे भी पुण्य होना चाहिये" उनसे कहना चाहिए कि चोरी हिंसा और व्यभिचार सेवनार्थ चोर, हिंसक और वेश्या आदिको दान देना अधर्म दान है और दाता भी यह दान एकान्त पापके भावसे देता है अतः इससे एकान्त पाप ही होता है पुण्य नहीं होता जो दान पुण्यार्थ दिया जाता है उसीसे पुण्य बन्ध होता है और उसी दानका ठाणाङ्ग सूत्रके नवमे ठाणेमें कथन हुआ है अतः जो दान पुण्यके अर्थ हीन दीन दुःखी जीवों पर दया लाकर दिया जाता है उससे पुण्य होता है चोर, हिंसक, वेश्या आदिको चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ दिया जानेवाला दानसे नहीं अतः चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ चोर हिंसक और वेश्याको दिये जानेवाले दानके समान ही अनुकम्पा दानको भी एकान्त पापमें ठहराना अज्ञानियोंका कार्य है।

[बोल १३ वां समाप्त]

(प्रेरक)

आपके कथनसे ज्ञात हुआ कि ठाणाङ्ग सूत्रोक्त नवविध पुण्य केवल साधुको ही दान देनेसे नहीं साधुसे इतरको देनेसे भी होता है परन्तु ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त पाठके नीचे जीतमलजीने टब्बा अर्थ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखा है कि "अन्न जे टब्बामें कह्या पात्र विषे जे अन्नादिकनो देवो ते हयथी तीर्थंकरादिक पुण्य प्रकृति नो बन्ध तो आदि शब्दमें तो बयाली सर्व पुण्य प्रकृति आई" फिर आगे चल कर लिखा है "वलीश्रई पुण्य नी प्रकृति बाकी रही नहीं अनेराने दीधा अनेरा प्रकृतिनो बन्ध ते अनेरी प्रकृति पाप नीछे" (भ्र० पृ० ७९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारने जो टब्बा अर्थ लिखा है वह अपूर्ण है। भीखणजीके जन्म पहलेके बने हुए टब्बा अर्थमें उक्त मूल पाठका अर्थ इस प्रकार किया है "पात्र विशे अन्नादिक दीजे तथकी तीर्थंकर नामादिक पुण्य प्रकृतिनो बन्ध तहथका अनेराने दीधु ते अनेरी पुण्य प्रकृतिनो बंध" इस टब्बा अर्थमें साधुसे इतर जीवको दान देनेसे पुण्य प्रकृतिका बंध होना स्पष्ट लिखा है इसलिए भ्रमविध्वंसनकारने इस टब्बा अर्थको छोड़ कर दूसरा अपूर्ण टब्बा अर्थ दिया है। वह टब्बा अर्थ भी साधुसे भिन्नको दान देनेसे पाप होना नहीं बतलाता तथापि खींचातानी करके जीतमलजीने साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप सिद्ध करनेकी चेष्टा की है इनके लिखे हुए टब्बा अर्थमें लिखा है "अनेरा न देवु ते अनेरी प्रकृतिनो बंध" इसमें "अनेरी प्रकृतिनो बंध" यह लिखा है "पाप प्रकृतिनो बन्ध" यह नहीं लिखा है और अनेरी प्रकृति, तीर्थंकर नामादि पुण्य प्रकृतिसे भिन्न पुण्य भी हो सकता है इसलिए अनेरी प्रकृतिका तात्पर्य पापकी प्रकृति बतलाना दुराग्रहका परिणाम है। अनेरी प्रकृतिको पापकी प्रकृति सिद्ध करनेके लिए भ्रमविध्वंसनकार जो यह लिखते हैं कि "जिम ऋषभादिक कहिये चौवीसुई तीर्थंकर आया, प्राणातिपातादिक कहिए अठारह पाप आया, मिथ्यात्वादिक आस्रव कहिए पंच आस्रव आया तिम तीर्थंकरादिक पुण्य प्रकृति कहिए सर्व पुण्यनी प्रकृति आई बाकी काई पुण्यनी प्रकृति बाकी रही नथी" यह इनका कथन भी अयुक्त है। क्योंकि ऋषभदेव सब तीर्थंकरोंमें प्रथम हैं, गौतम स्वामी महावीर स्वामीके सभी साधुओंमें आदि हैं, अठारह पापोंमें सबसे प्रथम प्राणातिपात है, आस्रवोंमें मिथ्यात्व ही प्रथम आस्रव है इसलिए ऋषभादि तीर्थंकर कहनेसे चौवीस ही तीर्थंकर, गौतमादि साधु कहनेसे सभी साधुओंका, प्राणातिपातादि पाप कहनेसे सभी पापोंका और मिथ्यात्व आस्रव कहनेसे सभी आस्रवोंका ग्रहण होना ठीक है परन्तु तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति बयालीस पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें है आदिमें नहीं है इसलिये तीर्थंकर नाम कर्मके अन्तमें होनेसे कारण महावीरादि तीर्थंकर कहनेसे सभी तीर्थंकरोंका ग्रहण हो सकता है परन्तु सभी पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें होनेसे तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति कहनेसे बयालीस ही पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति सबके अन्तमें है आदिमें नहीं है इसलिए यहाँ —

"साय १ उचागोय २ नर ३ तिरि ४ देवाउ ५ नाम पयाउ ६ मनुपदुग ७ देव दुग ९ पञ्चेन्दिय जाइ १० तणुपणग १५ अङ्गो वग तिरपिय १८ सपयग वज्ररिसहनाराय १० पढम चिय संठाण वन्नाइ चउवा सुपसत्य । अगुरुलघु २५ पराघाय २६ उस्सास २७ आयवच २८ उज्जोय २९ सुपसत्था विहगइ ३० तसाइ सद गाथ ४० णिम्माण तित्थयरेण सहिया वयाला पुण्ण पगइओ "

(ठाणाङ्ग टीका)

इस गाथामें बेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका क्रमशः वर्णन करते हुए सबसे पहले साताबेदनीय पुण्य प्रकृतिका नाम आया है और सभीके अन्तमें तीर्थ कर नाम पुण्यप्रकृति कही गइ है अत साताबेदनीयादि पुण्य प्रकृति कहनेस बेयालीस ही पुण्य प्रकृतिका ग्रहण हो सकता है किन्तु तीर्थ करादि पुण्य प्रकृति कहनेसे नहीं । ऊपर लिखी हुई गाथामें पुण्य प्रकृतियोंका जो क्रम बतलाया है वही क्रम भीषणजीने भी स्वीकार किया है "नव सद्भाव पदार्थ निर्णय" नामक पुस्तकमें पुण्यकी ढालमें भीषणजीने बेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका इसी क्रमस वर्णन किया है। सर्वप्रथम सीताबेदनीयको, और सबसे अन्तमें तीर्थ कर नाम की पुण्य प्रकृतिको भीषणजीने माना है अत उपरोक्त टीकामें जो बेयालीस पुण्य प्रकृ तियोंका क्रम बतलाया है वह जीतमलजीको भी मान्य है। जब कि तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृति सबसे अन्तमें मानी जाती है तब तीय करादि पुण्य प्रकृति कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण कैसे हो सकता है ? अत तीर्थ करादि पुण्य प्रकृतिसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण बतलाना मिथ्या है। यदि कोइ पूछे कि तीथ कर नामकी पुण्य प्रकृति जब कि बयालीसवी पुण्य प्रकृतिके अन्तर्गत है तब फिर तीर्थ करादि पुण्य प्रकृति कहनेका यहा क्या तात्पर्य है ? तो उससे कहना चाहिये कि तीर्थ करादि शब्दके आदि शब्दका यहा सादृश्य अथ है प्राथम्य अथ नहीं इसलिये तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृतिके सदृश विशिष्ट पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण करनेके लिये यहा आदि शब्द टीका और टब्बामें आया है। आदि शब्दका सादृश्य अथ भी पूर्वाचार्यों न कहा है जैसे कि —

"सामीप्येथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदि शब्दंतु लक्षयेत्।

अर्थात् आदि शब्दके चार अथ पण्डितोंको जानने चाहिये, [१] सामीप्य [२] व्यवस्था [३] प्रकार (सादृश्य) [४] और अवयव।

चीजोंसे भिन्न वस्तु यदि पुण्य र्थ दी जाय तो उससे पुण्य नहीं होता क्योंकि पड़ीहारी सुई कतरनी आदि देनेसे पुण्य होना इस पाठमें नहीं कहा है पर उनके दानसे भी पुण्य ही होता है तथापि इस पाठमें पुण्यके मुख्य २ कारण कहे गये हैं। गौण रूप पुण्यका कथन यहां नहीं है इसलिये अन्न दानादिसे भिन्न वस्तुओंका दान भी यदि धर्मानुकूल हो तो वह एकान्त पापमें नहीं है। जैसे इस पाठमें नहीं लिखी हुई सुई कतरनी अचित्त मिट्टीके ढेले औषधादि चीजोंके दानसे पाप नहीं होता उसी तरह साधुसे इतरको पुण्यार्थ यदि धर्मानुकूल वस्तु दी जाय तो उससे भी एकान्त पाप नहीं होता। अतः 'अनेराने दिया पुण्य हुवे तो गाय पुण्ये' इत्यादि भ्रमविध्वंसनकारका तर्क अयुक्त समझना चाहिये।

(बोल १५)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार साधुसे इतर सभीको कुपात्र मानते हैं। माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरुजन भी इनके मतमें कुपात्र हैं उनको यदि धर्मानुकूल कोई वस्तु दी जाय तो भ्रमविध्वंसनकार कुपात्र दान ठहरा कर उसे एकान्त पाप कहते हैं। इनका सिद्धान्त है कि वश्या हिंसक चोर आदिको व्यभिचार, हिंसा और चोरीके लिये दान देना जैसे एकान्त पाप है उसी तरह साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप है। भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर जीतमलजीने लिखा है कि "साधुथी अनेरो तो कुपात्र छे तेहने दीधा अनेरी प्रकृतिनो बन्ध ते अनेरी प्रकृति पापनी छे' अर्थात् साधुसे इतर सभी कुपात्र हैं उनको दान देना कुपात्र दान है। कुपात्र दानका फल जीतमलजीके सिद्धान्तानुसार बतलाते हुए संशोधक महाशयने भ्र० पृ० ८२ पर यह लिखा है —

"कुपात्रदान, मांसादिसेवन व्यसन कुशीलादिक ये तीनों एक ही मार्गके पथिक हैं। जैसे चोर, जार, ठग ये समान व्यवसायी हैं उसी तरह जयाचार्य्य सिद्धान्तानुसार कुपात्र दान भी मांसादि सेवन व्यसन कुशीलादिका श्रेणीमें ही गिनने योग्य हैं।'

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

साधुसे इतर सभीको कुपात्र कहना शास्त्र विरुद्ध है। कहीं भी साधुसे इतरको कुपात्र नहीं कहा है। श्रावक साधुसे इतर होता हुआ भी गुणरत्नका पात्र और तीर्थमें कहा गया है। भगवती सूत्र शतक २० उद्देशा ८ में यह पाठ आया है —

चौदहोंसे भिन्न वस्तु यदि पुण्यार्थ दी जाय तो उससे पुण्य नहीं होता क्योंकि पडिहारी सुई कतरनी आदि देनेसे पुण्य होना इस पाठमें नहीं कहा है पर उनके दानसे भी पुण्य ही होता है तथापि इस पाठमें पुण्यके मुख्य ९ कारण कहे गये हैं। गौण रूप पुण्यका कथन यहां नहीं है इसलिये अन्न दानादिसे भिन्न वस्तुओंका दान भी यदि धर्मानुकूल हो तो वह एकान्त पापमें नहीं है। जैसे इस पाठमें नहीं लिखी हुई सुई, कतरनी अचित्त मिट्टी हर्रे औषधादि चीजोंके दानसे पाप नहीं होता उसी तरह साधुसे इतरको पुण्यार्थ यदि धर्मानुकूल वस्तु दी जाय तो उससे भी एकान्त पाप नहीं होता। अतः 'अनेराने दियां पुण्य हुवे तो नाव पुण्य' इत्यादि भ्रमविध्वंसनकारका तर्क अशुद्ध समझना चाहिये।

(बोल १५)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार साधुसे इतर सभीको कुपात्र मानते हैं। माता पिता श्रद्धेय बन्धु आदि गुरुजन भी इनके मतमें कुपात्र हैं उनको यदि धर्मानुकूल कोई वस्तु दी जाय तो भ्रमविध्वंसनकार कुपात्र दान बता कर उसे एकान्त पाप कहते हैं। इनका सिद्धान्त है कि वेश्या हिंसक चोर आदिको व्यभिचार, हिंसा और चोरीके लिये दान देना जैसे एकान्त पाप है उसी तरह साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप है। भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर जीतमलजीने लिखा है कि "साधुथी अनेरो तो कुपात्र छै तेहने दीधां अनेरी प्रकृतिरो बंध ते अनेरी प्रकृति पापनी छै" अर्थात् साधुसे इतर सभी कुपात्र हैं उनको दान देना कुपात्र दान है। कुपात्र दानका फल जीतमलजीके सिद्धान्तानुसार बतलाते हुए संशोधक महाशयने भ्र० पृ० ८२ पर यह लिखा है —

"कुपात्रदान, मांसादिसेवन व्यसन कुशील इत्यादि ये तीनों एक ही मार्गके पथिक हैं। जैसे चोर, जार, ठग ये समान व्यवसायी हैं उसी तरह जीतमलजीके सिद्धान्तानुसार कुपात्र दान भी मांसादि सेवन व्यसन कुशील आदि की श्रेणीमें ही गिनने योग्य हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

साधुसे इतर सभीको कुपात्र कहना शास्त्र विरुद्ध है। कहीं भी साधुसे इतरको कुपात्र नहीं कहा है। श्रावक साधुसे इतर होता हुआ भी गुणरत्नोंका पात्र और तीर्थ कहा गया है। भगवती सूत्र शतक २० उद्देशा ८ में यह पाठ आया है —

एकान्त पापका कार्य होता तो शास्त्रकार राजा प्रदेशीके दानकी अवश्य निन्दा करते और राजा प्रदेशी भी बारह व्रत धारण करके एक नवीन एकान्त पापका कार्य क्यों आरम्भ करता ? पहले उसने दानशाला नहीं बनाई थी अब वह ऐसा निन्दित कार्य क्यों करता ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुसे इतरको दान देना एकान्त पापका कार्य नहीं है तथा साधुसे इतर सभी कुपात्र भी नहीं हैं । हीन दीन प्राणी भी अनुकम्पा दानके पात्र हैं अतः हीन दीन जीवों पर दया लाकर दान देना भी पुण्य कार्य्य है एकान्त पाप नहीं है इस लिये साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पापकी स्थापना करना शास्त्र विरुद्ध कार्य्य है ।

(बोल १६)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८० के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ इहां पिण कुपात्र दान कुक्षेत्र कह्या कुपात्ररूप कुक्षेत्रमें पुण्य रूप बीज किम उगे ? इनके कहनेका भाव यह है कि साधुसे इतर सभी कुपात्र हैं और कुपात्रोंको इस पाठमें कुक्षेत्र कहा है अतः जैसे कुक्षेत्रमें गेहूं चने आदिक बीज नहीं उगते उसी तरह साधुसे इतर मनुष्यको दिया हुआ दान भी पुण्य रूप अंकुरको नहीं उत्पन्न करता ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ यह है —

"चत्तारि मेहा पण्णत्ता तंजहा खेत्तवासी नाम मेगे णो अखेत्तवासी एवामेव चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता तंजहा खेत्तवासी नाम मेगे णो अखेत्तवासी" (ठाणाङ्ग ठाणा ४)
अर्थात् मेघ चार प्रकारके होते हैं एक तो वह है जो क्षेत्रमें ही बरसता है अक्षेत्रमें नहीं । दूसरा अक्षेत्रमें बरसता है क्षेत्रमें नहीं बरसता । तीसरा—क्षेत्र और अक्षेत्र दोनोंमें बरसता है । चौथा—क्षेत्र अक्षेत्र किसीमें नहीं बरसता । इसी तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं । एक तो वह है जो पात्रको दान देता है अपात्रको नहीं देता । दूसरा अपात्र को दान देता है पात्रको नहीं देता । तीसरा—पात्र और अपात्र दोनों ही को दान देता है । चौथा—पात्र और अपात्र किसीको भी नहीं देता । यह उक्त मूलका अर्थ है ।

इस पाठमें आये हुए क्षेत्र और अक्षेत्र शब्दका अर्थ टीकाकारने यह किया है—"क्षेत्रं धान्याद्युत्पत्ति स्थानम्" अर्थात् 'जिस पृथ्वीमें बोये हुए गेहूं चने आदिक बीज अंकुर उत्पन्न करें उसे क्षेत्र समझना चाहिये और इससे जो भिन्न है वह अक्षेत्र है। मेघ पक्षमें क्षेत्र और अक्षेत्रमें पृथ्वी विशेषका ग्रहण होता है और मनुष्य पक्षमें दान देने योग्य जीव क्षेत्र और दान न देने योग्य अक्षेत्र है। यहां मूलपाठ और टीकामें सामान्य रूपसे क्षेत्र और अक्षेत्रका वर्णन है परन्तु यह नहीं कहा है कि एक मात्र साधु ही क्षेत्र है और साधुसे इतर सभी अक्षेत्र हैं। अतः इस पाठका आश्रय लेकर साधुसे इतर सभी जीवोंको अक्षेत्र या कुक्षेत्र कायम करके उनको दान देनेसे एकान्त पाप कहना मिथ्या है। शास्त्रमें साधुको दान देनेसे निर्जरा लिखी है और हीन दीन जीवोंको दान देनेसे पुण्यबन्ध कहा है—इस लिये मुख्यतया मोक्षार्थ दानका क्षेत्र साधु है और अनुकम्पा दानके क्षेत्र हीन दीन दुःखी प्राणी हैं तथा साधुसे इतर पुरुष मुख्यतया मोक्षार्थ दानके और हीन दीन दुःखियोंसे अतिरिक्त पुरुष अनुकम्पा दानके प्रायः अक्षेत्र हैं। जो पुरुष हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान देते हैं वे अक्षेत्र वर्षी नहीं किन्तु क्षेत्र वर्षी हैं क्योंकि हीन दीन दुःखी जीव अनुकम्पा दानके क्षेत्र हैं अतः हीन दीन दुःखी प्राणीको अनुकम्पा दान देने वाला पुरुष इस चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका स्वामी क्षेत्रवर्षी है। जो पुरुष हीन, दीन दुःखीको अनुकम्पा दान नहीं देता और पंच महाव्रतधारी साधुको मोक्षार्थ दान नहीं देता किन्तु जिनको दान देनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है अथवा जिनको दान देनेसे उनके द्वारा हिंसादिक महारम्भका कार्य किया जाता है उनको दान देता है वह दूसरे भङ्गका स्वामी अक्षेत्र वर्षी पुरुष है। जिस पुरुषको यह ज्ञान नहीं है कि अमुक पुरुष दान देने योग्य है और अमुक नहीं है किन्तु पात्र अपात्र सभीको दान देता है वह विवेक रहित पुरुष तृतीय भङ्गका स्वामी उभयवर्षी है। अथवा जो विशाल उदारताके कारण या उदारताका प्रदर्शन करनेके लिये सबको दान देता है वह तीसरे भङ्गका स्वामी उभयवर्षी है। जो कृपण अन्य किसीको भी कुछ नहीं देता वह चरम भङ्गका अनुभय वर्षी है।

इस चतुर्भङ्गीके तीसरे भङ्गका स्वामी, जो विवेक रहित है उसका दान करना [illegible] नहीं है क्योंकि अपात्रके साथ [illegible] [illegible] है [illegible] सबको दान देता है वह भी [illegible] [illegible] है और जो [illegible] उसका दान [illegible] [illegible] करता है। [illegible] यह है—

" इमेहिं पण पोसाएहिं कारणेहिं अविसेसिय बहुली कएहिं तित्थयर नाम कम्म निवत्तिसु तजहा—अरिहन्त सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सिसु वच्छल्लयाय तेसिं अभीक्ख णाणोवयोगे य दसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयार खणलवतवचियाए समाही य अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणपभावणया एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो "

(ज्ञाता सूत्र)

इस पाठमे प्रवचन प्रभावनासे तीर्थङ्कर नाम गोत्रका बन्ध होना कहा है इसलिए जो पुरुष प्रवचन प्रभावनाके लिये सभीको दान देता है वह उत्तम पुण्यका उपार्जन करता है एकान्त पाप नहीं करता अत साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप कहना मूर्खोंका काम है।

प्रवचन प्रभावनाके लिए साधुसे इतरको भी दान देने वाला पुरुष शास्त्रानुसार पुण्यका बन्ध करता है परन्तु जीतमलजीके हिसाबसे वह एकान्त पापी ठहरता है अत शास्त्र विरुद्ध जीतमलजीकी प्ररूपणा सर्वथा त्यागने योग्य और मिथ्या है।

यदि कोई कहे कि प्रवचनकी प्रभावनाके लिये सभीको दान देनेसे जब कि पुण्य ही होता है तो सभी जीव दान देने योग्य क्षेत्र ही कायम होते हैं कोई भी अक्षेत्र या कुक्षेत्र नहीं ठहरता फिर ठाणाङ्ग सूत्र मूल पाठमें क्षेत्र और अक्षेत्रको लेकर उक्त चतुर्भङ्गी कैसे लिया गया है ? तो उसका कहना चाहिए कि प्रवचन प्रभावना रूप पुण्यके हिसाबसे वहां क्षेत्र और अक्षेत्रका विचार नहीं रक्खा गया है क्योंकि प्रवचन प्रभावना के निमित्त दिया जाने वाला दानका सभी क्षेत्र हो है कोई भी अक्षेत्र नहीं है। वेश्या चोर जार आदिको भी उनका सुधार हुआ पर सुमार्ग स्थापित करनेके लिए दान देना भी प्रवचनकी प्रभावना है अत जो जिस दानके लायक नहीं है वह उस दानका यहां अक्षेत्र समझा जाता है। जैसे मोक्षार्थ दानका साधुसे भिन्न जीव अक्षेत्र हैं और अनुकम्पा दानका दीन हीन दुःखी जीवसे भिन्न अक्षेत्र हैं इसी तरह यहां क्षेत्र और अक्षेत्रका विभाग समझना चाहिये यह नहीं कि साधुसे भिन्न सभी जीव अक्षेत्र या कुक्षेत्र हों अत साधुसे भिन्न सभी जीवको अक्षेत्र कायम करके उनको दान देनेसे एकान्त पाप बताना मूर्खोंका काम है।

(बोल १७ वा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८० के ऊपर लिखते हैं कि "अथ अठे पिण गोशालाने पीठ फलक शय्या संथारा शकडाल पुत्र दिया तिहां धर्म तप नहीं इमि कह्यो सो गोशाला वो तीर्थङ्कर वाजतोथो तिणने दिया ही धर्म तप नहीं तो असंयतिने दिया धर्म तप किम कहिए पुण्य पिण न श्रद्धवो पुण्य तो धर्म लार बंधे छे शुभ योग छै ते निर्जरा विना पुण्य निपजे नहीं ते मांटे असंयतिने दिया धम पुण्य नहीं" (भ्र० पृ० ८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतमें पञ्च महाव्रतधारी साधुके सिवाय संसारके सभी जीव कुपात्र हैं, उनको दान देना या किसी प्रकारसे उनकी सहायता करना इनके मतमें मास भोजन व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य है। भ्रमविध्वंसनका मूल लेख और उसकी टीप्पणी लिख कर यह कहा जा चुका है। इनका यह सिद्धान्त यदि शास्त्रानुकूल होता और शकडाल पुत्र श्रावक भी इसे मानता तो वह गोशालक जैसे असयति और अन्य तीर्थियोंके शिरोमणिको शय्या संथारा देकर मास भोजन और व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य क्यों करता ? क्योंकि इसके बिना शकडाल पुत्रका कोई आवश्यक कार्य्य नहीं रुका था। शकडाल पुत्र भी आनन्द श्रावक की तरह अभिग्रहधारी बारह व्रतधारी श्रावक था यदि अन्य तीर्थीको दान देनेसे श्रावकका अभिग्रह नष्ट हो जाता है और उसको मास भोजनादिकी तरह एकान्त पाप होता है तो फिर शकडाल पुत्रका अभिग्रह गोशालकको दान देनेसे अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये था और उसे एकातपाप होना चाहिये था परन्तु शास्त्र में, गोशालकको दान देनेसे शकडाल पुत्रको एकान्त पाप होना या उसका अभिग्रह टूट जाना नहीं लिखा है अत अन्य तीर्थीको दान देनेसे एकान्त पाप और अभिग्रह भङ्गकी स्थापना करना मिथ्या है। अन्य तीर्थीको गुरुबुद्धिसे मोक्षार्थ दान न देनेका ही श्रावक को अभिग्रह होता है अनुकम्पा लाकर हीन दीन दुःखीको दान देनेका नहीं होता तथा प्रवचन प्रभावनाके अर्थ भी दान न देनेका अभिग्रह नहीं होता है। अतएव शकडाल पुत्र ने गोशालकको शय्या संथारा दिया था और इस कार्य्यसे उसको एकान्त पाप होना शास्त्रकारने भी नहीं कहा है किन्तु इस दानसे धर्म और तप न होनेका मूलपाठमें वर्णन है एकान्त पाप होनेका या, पुण्य न होनेका कथन नहीं है। वह मूलपाठ यह है —

तएण से सद्दाल पुत्ते समणो वासए गोसाल मखलि पुत्त एव वयासी जम्हाण देवणुप्पिया ? तुम्हेमम धम्मा यरियस्स जाव

लेकर साधुसे इतरको दानमें मांसाहार व्यसन कुशीलादि की तरह एकान्त पाप बताना अज्ञानका परिणाम है।

[बोल १८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८२ के ऊपर विपाक सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी साक्षीसे साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप बतलाते हुए यह लिखते हैं कि "अथ इहां गोतम भगवन्तने पूछ्यो इण मृगा लोढे पूर्वे कांई कुकर्म कीधा कुपात्र दान दीधा तेहना फल ए नरक समान दुःख भोगवे छै। तो जो योनी कुपात्र दानना चौड़े भारी कुकर्म कह्यो छ कायारा शस्त्रने कुपात्र तहने पोष्यां धर्म पुण्य किम निपजे"

(भ्र० वि० ८२—८३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

विपाक सूत्रके मूल पाठकी साक्षीसे हीन दीन दुःखी जीवपर दया लाकर दान देनेमें एकान्त पाप बताना मिथ्या है। वहां गोतम स्वामीने महावीर स्वामीसे पूछा है कि "हे भगवन् यह "मृगालोढ" (क्रिया दशा) क्या देकर ऐसा नरकके समान दुःख भोगता है" इसका तात्पर्य्य यह है कि यह मृगा लोढ, किस चोर जार हिंसक आदि महारम्भी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देकर ऐसा दुःख भोग कर रहा है हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे दुःख भोग पूछनेका तात्पर्य्य यहां नहीं है क्योंकि जो दान मोक्षार्थ संयति पुरुषको दिया जाता है और जो अनुकम्पा लाकर हीन दीन जीवोंको दिया जाता है उनसे दुःख भोग नहीं होता क्योंकि ये दान पापके कारण नहीं हैं अतः विपाक सूत्रकी साक्षीसे हीन दीन दुःखी जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे एकान्त पाप बताना मिथ्या है। विपाक सूत्रका पूरा पाठ देकर इसका खुलासा किया जाता है वहपाठ यह है —

"सेणं भन्ते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसिं किं णामए वा किं गोएवा कायरंसि गामसिवा नयर सिवाकिंवादच्चा किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता केसिंवा पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं असुभाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्ति विसेसं पच्चणुभवमाणे जाव विहरइ"

(विपाक सूत्र अ० १)

अर्थात् हे भगवन् ! यह पुरुष पूर्व जन्ममें कौन था इसका क्या नाम था और गोत्र क्या था किस ग्राम या नगरमें यह रहता था। क्या देकर, क्या खाकर, क्या आचरण करके और प्रायश्चित्त नहीं धारण कर किन निन्दित पुरान अशुभ कर्मोके पाप स्वरूप फल विपाकको यह भोग रहा है ?

इस पाठमें जैसे " किञ्चा भोचा " और ' किञ्चा समायरित्ता" ये दो पाठ अभक्ष्य मांसादि भक्षण और हिंसादि आचरण अर्थमें आये हैं, दाल रोटी आदिका भोजन और न्याय वृत्तिसे कुटुम्ब पालनादिके अर्थमें नहीं उसी तरह "किञ्चा दच्चा ' यह पाठ भी चोर जार हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देने अर्थमें ही आया है अनुकम्पा लाकर हीन दीन जीवोंको दान देने अर्थमें नहीं इसलिए इस पाठके आश्रय से अनुकम्पा दानका खण्डन करना अज्ञान है। यदि कोई "किञ्चा दच्चा " इस पाठसे अनुकम्पा दानका ग्रहण करके अनुकम्पा दानमें भी पाप बतावे तो फिर वह "किञ्चा दच्चा " इस पदसे साधु दानका ग्रहण करके उसे भी पाप क्यों नहीं बतलाता ?

यदि कहो कि पञ्च महाव्रतधारी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता इस लिए उसका इस पाठमें ग्रहण नहीं है तो हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देने से भी एकान्त पाप नहीं होता इसलिए उसका भी इस पाठमें ग्रहण नहीं है किन्तु जैसे पञ्च महाव्रतधारीको मोक्षार्थ दान देना प्रशस्त है उसी तरह हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देना भी अनुकम्पा रूप गुणका हेतु है अतः अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना मूर्खता है।

टब्बाकारने "किञ्चा दच्चा " इस पाठका कुपात्र दान अर्थ किया है कुपात्र दानका अर्थ, चोर जार हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिके लिये दान देना है अनुकम्पा लाकर हीन दीनको दान देना नहीं क्योंकि चोर जार हिंसक आदि जीव ही कुपात्र हैं भ्रमविध्वंसनकारकी कपोल कल्पित परिभाषानुसार साधुसे इतर सभी कुपात्र नहीं हैं इसलिए उक्त टब्बाकारके मतानुसार भी हीनदीन जीवोंको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप नहीं सिद्ध होता अतः उक्त टब्बा अर्थका आश्रय लेकर भी अनुकम्पा दानमें पाप बताना मिथ्या है।

विपाक सूत्रका यह पाठ जो अभी लिखा गया है भ्रमविध्वंसनकी पुरानी प्रतिमें अपूर्ण छपा हुआ है उसमें " किञ्चा भोचा किञ्चा समायरित्ता " यह पाठ ही रखी है और ईश्वरचन्द चोपड़ाकी छपाई हुई नयी प्रतिमें भी यह पाठ अपूर्ण रख लिया है। विपाक सूत्रकी शुद्ध प्रतियोंमें सर्वत्र ' किञ्चा दच्चा किञ्चा भोचा किञ्चा समायरित्ता " ये पाठ साथ

ही मिलते हैं और होना भी ऐसा ही चाहिए परन्तु भ्रमविध्वंसनकी नई प्रतिमें "किच्चा मोच्चा किच्चा समायरित्ता" यह पाठ "किच्चा इच्चा" के अनन्तर न होकर "एवमुभय मग्गे" इस शब्दके अनन्तर आया है इस प्रकार क्रम विरुद्ध पाठ देनेका तात्पर्य क्या है यह भ्रमविध्वंसनकारक मतानुयायी साधु जानें परन्तु प्रत्युत्तर दीपिकामें जो पुराने भ्रमविध्वंसनमें लिखे हुए पाठके सम्बन्धमें बात कही हुई है वह अक्षरशः सत्य है। यहां तक प्रतीत होता है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी सच्ची बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए ही नए भ्र० वि० में "किच्चा मोच्चा किच्चा समायरित्ता" यह पाठ यथास्थान न रखकर व्युत्क्रमसे दिया गया है। पुराने भ्रमविध्वंसनमें छपे हुए पाठको देखनेसे पाठकोंको अपने आप ज्ञान हो सकता है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी बात सत्य है या भ्र० वि० के संशोधक महाशय की।

(बोल १९ वां)(समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८३ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ की चौदहवीं गाथाको लिख कर बतलाते हैं कि "इस गाथामें ब्राह्मणोंको पापकारी क्षेत्र कहा है। जब ब्राह्मण भी पापकारी क्षेत्र हैं तो दूसरे लोगोंकी तो बात ही क्या है। साधुसे इतर सभी जीव कुपात्र हैं उनको दान देनेसे धर्म पुण्य कैसे हो सकता है?" जैसे कि उन्होंने लिखा है—

"अथ अठे ब्राह्मणान पापकारी क्षेत्र कह्या तो बीजानो स्यूं कहिवो" (भ्र० वि० पृ० ८३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है। गाथा यह है —

"कोहो य माणो य वहो य जेसिं मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइ विज्जा विहीणा ताइं तु खेत्ताइं सुपावगाइं"

(उत्तराध्ययन अ० १२ गाथा १४)

टीकानुसार इस गाथाका अर्थ किया जाता है।

जो क्रोध मान, माया लोभ और मोह हैं जो हिंसा झूठ चोरी और परिग्रह सेवी हैं वे ब्राह्मण जाति और विद्यासे विहीन पापकारी क्षेत्र हैं। गुण और कर्मके अनुसार भी ब्राह्मण नहीं हैं। क्या कहें —

प विगापन और मान आदि क्या हैं ? किन्तु उक्त विशेषण न लगा कर माता भी ब्राह्मण मात्रको पापकारी क्षेत्र कहते परन्तु शास्त्रकारने माता माता हिंसक आदि ब्राह्मणोंको ही पापकारी क्षेत्र कहा है और मनुजीने भी क्रोधी मानी हिंसक ब्राह्मणोंको पापी नरक गामी और कुपात्र कहा है अत ब्राह्मण मात्रको कुपात्र कहना उत्सूत्र भाषण समझना चाहिये ।

वास्तवमें चाहे ब्राह्मण हो या और कोई हो जो चोरी जारी हिंसा आदि कुत्सित कर्म करता है वह कुपात्र तथा पापकारी क्षेत्र है उसको चोरी जारी आदि असत्कर्म करनेके लिये दान देना कुपात्र दान और एकान्त पाप है परन्तु जो उक्त दोषोंसे रहित है उसको सत्कर्म करनेके लिये दान देना और हीन दीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है अत उक्त गाथाका नाम लेकर अनुकम्पा दानका खण्डन करना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए ।

(बोल २० वां) समाप्त ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८४ पर उपासक दशाङ्ग सूत्रका मूल पाठ लिख कर साधुसे इतरको दान देने वाले श्रावकको पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन रूप पाप होना बतलाते हैं जैसे कि उन्होंने लिखा है " तिवारे कोई कहे इहां असं यति पोष व्यापार कह्यो छै तो तुमे अनुकम्पारे अर्थे असंयतिने पोष्या पाप किम कहो छो तेहने उत्तर—ते असंयतिने पोषी पोषीने आजीविका करे ते असंयति पोष व्यापार छै अने दाम लिया बिना असंयतिने पोषे ते व्यापार नथी कहिए पर पाप किम न कहिए जिम कोयला करी वेंचे तो अङ्गाल कर्म व्यापार अने दाम लिया बिना आगलाने कोयला करी आपे ते व्यापार नथी पर पाप किम न कहिए (भ्र० पृ० ८५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पन्द्रहवें कर्मादानका नाम मूल पाठमें "असई जण पोषणया" यह लिखा है इस नामके अनुसार असती यानी व्यभिचारिणी स्त्रियोंको पोष कर उनसे भाड़ेपर व्यभिचार कराने रूप व्यापार करना पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ है साधुसे भिन्न जीवोंको पोषण करना अर्थ नहीं है अत भ्रमविध्वंसनकारने जो पन्द्रहवें कर्मादानका "असयति पोष णता" यह नाम रच कर साधुसे भिन्न जीवोंके पोषण करनेसे कर्मादानका पाप होना बतलाया है यह एकान्त मिथ्या है ।

भ्रमविध्वंसनकारने उपासक दशांग सूत्रका जो मूल पाठ, भ्र० वि० में उद्धृत किया है उसमें भी पन्द्रहवें कर्मादानका नाम " असइ जण पोसणया " यही लिखा है और इस पाठकी टीका बालमें भी साधु से भिन्न को दान देनेसे उक्त कर्मादानका सेवन न कह कर वेश्या आदिक पोषण करने रूप व्यापारको ही कर्मादानका सेवन कहा है। देखिए इस पाठकी टीका जय भ्रमविध्वंसनकारका दिया हुआ यह है —

वेश्या आदिकना पोषण आदिक व्यापार कर्म इसमें साधुसे भिन्नको पोषण रूप व्यापार न कह कर वेश्या आदिक पोषण रूप व्यापारको कर्मादानका सेवन बतलाया है तथापि अज्ञानियोंमें भ्रम फैलानेके लिए जीतमलजीने अपने प्रश्नोत्तर १५ वें कर्मादानका " असंयति पोषणता " यह नाम रक्खा है। उसपर भी पहले प्रश्न रूपमें दूसरेसे स्वीकार कराकर तब पीछे खुदने स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि —

' किणरे ऐमेंई इम कहे इहां असंयति पोष व्यापार कह्यो छै तो तुम्हे अनुकम्पारे अर्थे असंयतिने देवा पण किम कहो छो इत्यादि। बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये कि पन्द्रहवें कर्मादानका जबकि असंयति पोषणता ' यह नाम ही नहीं है तो इसके सम्बन्धमें भ्रमविध्वंसनकारसे कोई प्रश्न ही कैसे कर सकता है ? परन्तु अपने मनसे एक ऐसा प्रश्न बना कर जीतमलजीने अज्ञानमें यह भ्रम फैलानेकी चेष्टा की है कि अनु-कम्पाका समर्थन करनेवाले भी १५ वें कर्मादानका नाम " असंयति पोषणता " मानते हैं। परन्तु जो लोग मूल पाठ न देख कर पक्षके हाथोंके आधारपर शास्त्रकी बात जानना चाहते हैं उन्हींपर यह कपट चल सकता है जो मूल पाठ देख कर पदार्थका निर्णय करना चाहते हैं वे इस धोखेमें नहीं आ सकते। पन्द्रहवें कर्मादानका असंयति पोषणता यह नाम ही नहीं है इस लिए हीन दीन दुःखी जीवोंपर दया लाकर दान देने वाले श्रावकोंपर १५ वें कर्मादानका आरोप करना एकान्त मिथ्या है।

आगे चल कर जीतमलजी लिखते हैं कि " आदिक शब्दमें सो सर्व असंयतिने पोषणहार अर्थे राखे ते असंयति व्यापार कहिए " यहां बुद्धिमानोंको विचारना चाहिए कि जब पन्द्रहवें कर्मादानका नाम ही " असंयति पोषणता ' है तब आदि शब्दसे असंयतियोंके ग्रहणकी क्या आवश्यकता है क्योंकि "असंयति पोषणता " इस नामसे ही सभी असंयतियोंका ग्रहण हो सकता है अतः निश्चय होता है कि जीतमलजीको भी पन्द्रहवें कर्मादानका नाम " असंयति पोषणता " यह स्वीकृत नहीं है इसीलिए वह आदि शब्दसे सभी असंयतियोंका ग्रहण होना बतलाते हैं। परं आदि शब्द भी न तो

मूल पाठमें है और न उसकी टीकामें ही है इसलिए आदि शब्दसे सभी असंयतियोंका ग्रहण बतलाना भी इनका मूर्ख जनताको धोखा देना है।

साधुके सिवाय दूसरेको पोषण करनेसे यदि पन्द्रहवें कर्मादानका पाप लगे तो कोई भी व्यापारी श्रावक, निरतिचार अपने बारह व्रतका पालन नहीं कर सकता क्योंकि व्यापारी श्रावकको अपने व्यापारकी सिद्धिके लिए गाय, भैंस, ऊंट घोड़े नौकर आदि असंयति प्राणियोंके पोषणकी आवश्यकता होती है इनका पालन किये बिना व्यापार सम्बन्धी कार्य्य नहीं चल सकता कदाचित् कोई इनके बिना भी अपना काम चला लेवे तो भी उसे अपने माता पिता पुत्र पौत्र आदि परिवार वर्गका पालन करना ही पड़ता है और इनके पालन करनेसे भी तरह पन्थियोंके मतसे अतिचार लग सकता है क्योंकि ये लोग भी असंयति हैं और व्यापारमें सहायता देते हैं इनका पोषण भी व्यापारार्थ कहा जा सकता है इसलिये अपने माता पिता पुत्र पौत्र आदिका पालन करने वाला श्रावक भी तेरह पन्थियोंके हिसाबसे कर्मादानके पापसे नहीं बच सकता है किन्तु व्यापारी श्रावक मात्र ही कर्मादानके पापसे युक्त हो जाते हैं परन्तु यह बिल्कुल मिथ्या है व्यापारी श्रावक अपने बारह व्रतका निरतिचार भी पालन कर सकता है वह जो गाय भैंस घोड़े ऊंट नौकर चाकर आदिका व्यापारार्थ पालन करता है इससे उसके बारह व्रतमें कोई अतिचार नहीं आता है क्योंकि पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असयति पोषणता" है ही नहीं। जो वेश्या आदिका पोषण करके उनसे भाड़ेपर व्यभिचार कराने रूप व्यापार करता है वह पुरुष पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन करता है क्योंकि १५ वें कर्मादानका नाम "असतीजन पोषणता" है। अतः साधुसे भिन्न प्राणीके पोषण करनेसे कर्मादानका सेवन बतलाना मिथ्या है।

अपने आश्रित प्राणीको आहार न देनेसे श्रावकके प्रथम व्रतमें अतिचार आता है इसलिए अपने पहले व्रतको निरतिचार पालनार्थ श्रावकको अपने आश्रित प्राणीके लिए अवश्य आहार देना पड़ता है परन्तु जीतमलजीके हिसाबसे इस कार्य्यसे श्रावकके ७ वें व्रतमें अतिचार आता है क्योंकि साधुके सिवाय दूसरेको आहार देना वे कर्मादानका सेवन करना बतलाते हैं ऐसी दशामें बारह व्रतधारी श्रावक अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देकर अपने व्रतका अतिचार टाले या न देकर सातवें व्रतका अतिचार टाले ? यदि वह देवे तो कर्मादानका सेवन हो जाय और न देवे तो उसके पहले व्रतमें अतिचार आवे इसलिए वह देकर और न देकर किसी भी हालतमें अपने व्रतका निरतिचार पालन नहीं कर सकता। अतः साधुके सिवाय दूसरेके पालन करनेसे १५ वें कर्मादानका पाप बतलाना जीतमलजीका अज्ञान है।

इसी तरह भीषणजीने साधुसे इतर प्राणीको पोषण करनेसे पन्द्रहवें कर्मादानका पाप लगना बता कर मर्य्यादा कायम करके परिहार करनेका उपदेश दिया है जैसे कि भीषणजीने लिखा है —

" साधु बिना सघला पोषोस पाप्रमू असंयतिपोष कही जे। रोजगार ले त्या ऊपर रहूँ राखू पीवू असयतिने देवे। ए पन्द्रह कर्मादान विस्तार मर्य्यादा बाधि करे परिहार " परन्तु यह भीषणजीकी प्ररूपणा सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। भगवती शतक ५ में कर्मादानोंको सर्वथा छोड़ने योग्य कहा है आगार रख कर परिहार करना नहीं लिखा है वह पाठ यह है —

"जे इमे समणोवासगा भवन्ति तेसिं नो कप्प ति इमाइ पण्णरस कम्मा दाणाइ सय करेत्तएवा कारवेत्तरा करेत वा अण्ण समणुजाणेत्तएवा "

अर्थात् श्रमणोपासकोंको इन कर्मादानोंका स्वय सेवन करना या दूसरेसे कराना अथवा करते हुएको अच्छा जानना नहीं कल्पता। इसी तरह उपासक दशाङ्ग सूत्र मूल पाठमें भी कर्मादानोंको सर्वथा त्यागने योग्य ही बतलाया है। वह पाठ —

" समणोवासएण पण्णरस कम्मादाणाइ जाणियव्वाइ न समायरियव्वाइ "

अर्थात् श्रमणोपासकको पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिये और उनका आचरण न करना चाहिए।

यहां भगवती सूत्र और उपासक दशाङ्ग सूत्र दोनोंमें १५ कर्मादानोंको सर्वथा छोड़ने योग्य ही कहा है परन्तु आगार रख कर त्यागने योग्य नहीं कहा है। अत आगार रख कर कर्मादानोंके त्यागका उपदेश देना शास्त्र विरुद्ध है। आगार रख कर कर्मादानोंको छोड़नेकी आज्ञा देना एक प्रकारसे कर्मादानोंके सेवन करनेकी अनुमति देना है इस प्रकार यदि आगार रख कर अतिचारोंका सेवन करना शास्त्र सम्मत माना जाय तो फिर मर्य्यादा बाध कर पर स्त्री, चोरी, झूठ आदिका सेवन भी शास्त्र सम्मत मानना पड़ेगा अत शास्त्रमें अतिचारोंके सम्बन्धमें कहीं भी आगार रखनेकी आज्ञा नहीं है किन्तु सर्वथा इनका त्याग करना ही शास्त्र सम्मत है परन्तु भीषणजीने आगार रखके बिना काम चलता नहीं देख कर अतिचारोंमें आगारकी सृष्टि की है। यदि भीषण मता-नुयायी, शास्त्रानुसार पन्द्रहवें कर्मादानका नाम असंयति पोषणता न मान कर असती

पोषणता मानें तो पन्द्रहवें कर्मादानमें आगार रखनेकी आवश्यकता न थी क्योंकि पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ व्यभिचारिणी स्त्रियोंको रख कर भाड़ेपर उनसे व्यभिचार कराने रूप व्यापार कराना है। श्रावक लोग सहजमें इस कार्यको छोड़ कर भी प्रकारान्तरसे अपना कार्य चला सकते हैं फिर आगार रख कर इस निन्दित कार्यमें करने की क्या आवश्यकता है? अतः पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असयति पोषणता" रख कर साधुसे भिन्न जीवोंको पोषण करनेसे कर्मादानका पाप बताना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल २१) समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८९ पर उपासकदशाङ्ग सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि "इहां मारवाने अर्थे गाढ़े बन्धन बांधे तो अतिचार कह्यो अने थोड़े बन्धन बांधे नो अतिचार नहीं पिण धर्म किम कहिये" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं कि "तिम मारवाने अर्थे भात पानीगो विच्छेद पाड्या तो अतिचार अने त्रस जीवने भात पाणी थी पोषे ते अतिचार नहीं पिण धर्म किम कहिए"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

त्रस प्राणीका वध करनेके अभिप्रायसे वध, बन्धन करना या छविच्छेद अतिभार तथा भात पानी का विच्छेद करना श्रावक अपने व्रतका त्याग करना है इस शास्त्रकार ने अनाचार कहा है अतिचार नहीं। अतिचार वहींतक होता है जब तक, व्रतकी अपेक्षा रख कर कार्य्य किया जाय, परन्तु व्रतकी अपेक्षा छोड़ कर अनुचित कार्य्य करनेसे समूल व्रत ही नष्ट होकर अनाचार हो जाता है। अतः जो पुरुष किसी प्राणीका प्राण वियोग करनेके लिए उसे मारता पीटता है या भात पानी बन्द करता है वह अपने व्रतको समूल नष्ट कर रहा है वह अतिचारी नहीं किन्तु अनाचारी है और उसका यह कार्य्य अनाचारमें शामिल है अतिचारमें नहीं इसलिए उपासक दशाङ्ग सूत्रके मूल पाठ में इस कार्य्यका कथन न होकर जो वध बन्धनादि क्रोध आदिके वश किये जाते हैं उन्हींका कथन है प्राण वियोगके आशयसे किये जानेवाले वध बन्धनादिका नहीं अतः भ्रमविध्वंसनकार जो प्राण वियोग करनेकी भावनासे त्रस जीवका वध बन्धन आदि

लगता है परन्तु जीतमलजीके हिसाबसे उसे अतिचार न होना चाहिए क्योंकि वह मारनेके अभिप्रायसे भात पानी नहीं बन्द करता है असयतिको भात पानी देनेसे पाप होना जान कर बन्द करता है अतः उस मनुष्यका व्रत इस कारणसे और अधिक निर्मल होना चाहिए परन्तु शास्त्र इसे अतिचार होना बतलाता है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने आश्रित प्राणीपर भात पानी आदिके द्वारा अनुकम्पा करना पुण्यका कार्य है एकान्त पापका नहीं।

भ्रमविध्वंसनकार भोले जनताको भ्रमम डालनेके लिए जो यह कहते हैं कि "अपने आश्रित प्राणीको थोडा बन्धनसे बांधे या लकडी आदिसे हल्का प्रहार करे तो उसे अतिचार नहीं आता परन्तु पाप होता है उसी तरह अपने आश्रित प्राणीको भात पानीसे पोषण करना अतिचार नहीं है परन्तु पाप तो होता ही है" यह इनका कथन भी असगत है अपने आश्रित प्राणीको थोडा भी न मारना और थोडा भी मार नहीं डालना जैसे पाप नहीं है उसी तरह उसका थोड़ाभी भातपानी नहीं बन्द करना पाप नहीं है इस प्रकार बातके स्पष्ट होनेपर भी साधारण जनताको चक्करमें डालनेके लिए जो भ्रमविध्वंसन कारने पूर्वोक्त बात कही है वह एकान्त अयुक्त समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो जीवोंकी विराधना होती है उससे पुण्य कैसे हो सकता है ? क्योंकि हिंसासे पुण्य नहीं होता पुण्य तो अहिंसासे होता है तो इसका उत्तर यह है कि जैसे श्रावक लोग नाना प्रकारके वाहनोंमें बैठ कर साधु दर्शनार्थ दूर दूर स्थानोंमें जाते हैं और उनसे अनेक जीवोंकी विराधना भी होती है तथापि उन्हें जो साधु दर्शनका लाभ होता है वह बहुत ही उत्तम और पुण्यका कार्य है उसी तरह अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो उस प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) होती है वह बहुत ही प्रशस्त है यदि भात पानी न देवे तो उस स्थूल प्राणीकी प्राण हिंसा होनेसे श्रावकका स्थूल प्राणातिपात नामक व्रत ही कायम न रहे। भात पानी देते समय जो आरम्भजा हिंसा होती है उसका तो श्रावकको त्याग नहीं है अतएव अपने आश्रित प्राणीको भात पानी न देनेसे अतिचार होना कहा है। अतः अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल २२ वां) समाप्त

तो देशसे व्रतधारी है फिर उसको अव्रतकी क्रिया कैसे लग सकती है? जब कि श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगती तब श्रावकको अन्न पानी आदिकी सहायता देने से अव्रतका सेवन कराना कैसे हो सकता है? अतः श्रावकको अव्रतकी क्रिया लगानी बात मिथ्या है। पन्नावणा सूत्र २२ वें पदमें श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगनेका स्पष्ट उल्लेख है वह पाठ नीचे दिया जाता है —

"कतिणं भन्ते! किरिआओ पण्णत्ताओ? गोयमा! पञ्च किरिआओ पण्णत्ताओ तंजहा—आरम्भिया परिग्गहिया मायावत्ति आ अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया। आरम्भियाणं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सवि पमत्तसंजयस्स, परिग्गहियाण भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सवि संजयासंजयस्स, मायावत्तियाणं किरिया कस्स कज्जइ? अण्णयरस्सवि पमत्त संजयस्स अपच्चक्खाण किरियाण भन्ते! कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सवि अपच्चक्खाणिस्स, मिच्छादंसण वत्तियाणं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सवि मिच्छादंसणिस्स"

(पन्नावणा पद २२)

इस पाठकी टीका निम्न लिखित है —

"कतिणं भन्ते! इत्यादि आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः उक्तञ्च "संरम्भो संकप्पो परितावकरो भवे समारम्भो आरम्भो उद्दवओ सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं"

आरम्भः प्रयोजनं कारणं यस्याः सा आरम्भिकी। परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज वस्तुस्वीकारः धर्मोपकरणमूर्छा च परिग्रह एव पारिग्रहिकी परिग्रहनिर्वृत्तत्वात् [illegible]।

"माया शाठ्यम्" इति माया, अनन्तानुबन्ध्यादि [illegible] क्रोधादि [illegible] प्रत्ययं कारणं यस्याः सा क्रिया तथा प्रत्यया "मायाप्रत्यया क्रिया" इति अप्रत्याख्यानं किञ्चिदपि विरतिपरिणामाभावः, तदेव क्रिया अप्रत्याख्यानक्रिया। "मिथ्यादर्शनप्रत्यया" इति मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो कारणं यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया। [illegible] कस्य भवति [illegible] "आरम्भिकी भन्ते" इत्यादि

"अण्णयरस्सवि पमत्त संजयस्स " इति अत्रापि शब्दो भिन्न क्रम प्रमत्त संयतस्यान्य न्यतरस्य एकतरस्य कस्यचित् प्रमाद सति काय दुष्प्रयोग भावत पृथिव्यादयुपमर्द सम्भवात्। अपि शब्दोऽन्येषा मधस्तन गुण स्थान वर्तिना नियम प्रदर्शनार्थ । प्रमत्त संयतस्या प्यार म्भिकी क्रिया भवति किं पुन शेषाणा देश विरति प्रभृतीनामिति एव यथा योग मपि शब्द भावना कर्त्तव्या। पारिग्रहिकी संयतासंयतस्यापि देश विरतस्या पीत्यर्थ तस्यापि परिग्रह धारणात् माया प्रत्यया अप्रमत्त संयतस्यापि कथंचित् दुष्प्र तप्रवचनोड्डाह प्रच्छादनार्थ वल्लीकरणमयुक्त्वा दिपु। अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतर स्यापि प्रत्याख्यानिन अन्यतरदपि न किंचिदित्यर्थ योन प्रत्याख्यानि तस्यत्यर्थ मिथ्यादर्शनक्रिया, अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमक्षरमप्यरोचयमानस्येत्यर्थ मिथ्या दृष्टेर्भवति "

अर्थ —

पृथ्वी आदि कायके प्राणियोंको सन्ताप देनेका नाम "आरम्भ" है। कहा भी है प्राणियोंको सन्ताप देनेका इरादा करनेका नाम 'संरम्भ' है और उनको परिताप देना "समारम्भ" कहलाता है और प्राणियोंको उपद्रव पहुंचाना "आरम्भ" है इस आरंभ के लिये जो क्रिया की जाती है उसे आरम्भिकी क्रिया कहते हैं।

(पारिग्रहिकी)

धर्मोपकरणसे भिन्न वस्तुको अङ्गीकार करना, और धर्मके उपकरणमें मूर्च्छा रखना परिग्रह कहलाता है। उसीको पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं अथवा परिग्रहसे उत्पन्न हुई क्रियाको "पारिग्रहिकी क्रिया " कहते हैं।

(माया प्रत्यया)

माया नाम कुटिलताका है यहां माया शब्दको उपलक्षण मान कर क्रोध आदि भी लिए जाते हैं इसलिये जो क्रिया माया आदिसे की जाती है उसे माया प्रत्यया क्रिया कहते हैं।

(अप्रत्याख्यान क्रिया)

विरतिका परिणाम थोड़ा भी न होना 'अप्रत्याख्यान" कहलाता है उसीको 'अप्रत्याख्यान क्रिया' कहते हैं।

(मिथ्यादर्शन प्रत्यया)

मिथ्यादर्शनके कारण जो क्रिया की जाती है उसे 'मिथ्यादर्शन प्रत्यया' कहते हैं। इनमेंसे कौनसी क्रिया किसको लगती है यह बतलाया जाता है —

(प्रश्न) हे भगवन् ! आरम्भिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! किसी किसी प्रमत्त संयत पुरुषको भी आरम्भिकी क्रिया लगती है प्रमत्त संयत पुरुष जब कभी प्रमादवश अपने शरीर आदिका दुष्प्रयोग करता है तब उससे पृथिवी आदि कायोंके जीवकी विराधना होनेसे उसको आरम्भिकी क्रिया लगती है यहां जो अपि शब्द आया है उससे यह बतलाया गया है कि आरम्भिकी क्रिया जब किसी किसी प्रमत्त संयतको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानोंमें तो कहना ही क्या है ? उनमें तो अवश्य ही आरम्भिकी क्रिया लगती है। इसी तरह इस पाठमें दूसरे अपि शब्दोंका भी यथा योग्य समन्वय करना चाहिये।

(प्रश्न) हे भगवन् ! पारिग्रहिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! देश विरत श्रावकको भी पारिग्रहिकी क्रिया लगती है। यहां भी पूर्ववत् अपि शब्दसे यह बतलाया गया है कि पारिग्रहिकी क्रिया जबकि देशविरत श्रावकको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है ? उनको तो अवश्य ही पारिग्रहिकी क्रिया लगती है।

(प्रश्न) हे भगवन् ! माया प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! माया प्रत्यया क्रिया किसी किसी अप्रमत्त संयतको भी लगती है क्योंकि वे भी अपने प्रवचनकी बदनामीको मिटानेके लिए बल्ली करण और समुद्देश आदिमें मायाकी क्रिया करते हैं। यहां भी अपि शब्दसे यह बतलाया गया है कि जब सप्तम गुण स्थानवाले अप्रमत्त संयतको भी माया प्रत्यया क्रिया लगती है तब फिर उससे नीचे के गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है उन्हें तो अवश्य ही माया प्रत्यया क्रिया लगती है।

(प्रश्न) हे भगवन् अप्रत्याख्यानिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो जरा भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है।

(प्रश्न) हे भगवन ! मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो पुरुष सूत्रमें कही हुई बातोंमेंसे एक भी अक्षरपर श्रद्धा नहीं करता है उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया लगती है। यह उक्त मूल पाठ और उसकी टीकाका अर्थ है।

यहां मूल पाठ और उसकी टीकामें कहा है कि "जो पुरुष किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसीको अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है" श्रावक प्रत्याख्यान करता है अतः उस अव्रतकी क्रिया नहीं लग सकती इसलिए श्रावकके हाथसे जो धर्म प्रवृत्त

आदिको अव्रतमें ठहरा कर उसको दान देनेसे एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध है। यदि कोई कहे कि "श्रावकके अन्न, जल, वस्त्र मकान आदि अव्रतमें नहीं तो क्या व्रतमें है ? तो उससे कहना चाहिये कि श्रावकके अन्न वस्त्रादि न तो व्रतमें है और न अव्रतमें ही, किन्तु परिग्रहमें है। भगवान्ने व्रत और अव्रतको आत्माका परिणाम बतलाया है और तरह पन्थके प्रवर्तक भीषणजीने भी व्रत और अव्रतको जीव तथा अरूपी कहा है अतः श्रावकके अन्न वस्त्रादि जो कि रूपी और प्रत्यक्ष अजीव पदार्थ हैं वे व्रत और अव्रतमें नहीं हो सकते भीषणजीने तेरह द्वारमें छट्ठा रूपी और अरूपी द्वारके अन्दर यह लिखा है "अव्रत आस्रवने अरूपी किण न्याय कह्यो जे अत्यागभाव परिणाम जीवरा अरूपी कह्या छे" अतः श्रावकके अन्न वस्त्र आदिको अव्रतमें कायम करके श्रावकको अव्रत की क्रिया लगनेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है।

श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगना पन्नावणा सूत्रके मूल पाठसे भी सिद्ध होता होता है वह पाठ नीचे लिखा जाता है:—

"जस्सणं भन्ते! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स परिग्गहिया किं कज्जइ ? जस्स परिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जइ ? गोयमा ? जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स परिग्गहिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ जस्स पुण परिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ। जस्सणं भन्ते! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स माया वत्तिया किरिया कज्जइ ? पुच्छा गोयमा! जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स माया वत्तिया किरिया नियमा कज्जइ जस्स पुण माया वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ। जस्सणं भन्ते! जीवस्स आरम्भिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया पुच्छा ? गोयमा! जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया सिय कज्जइ सियनो कज्जइ जस्स पुण अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स आरम्भिया किरिया नियमा। एवं मिच्छादसणवत्तिया एवि समं एवं परिग्गहियावि तीहिं उवरिल्लाहिं समं संचारे-

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको आरंभिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका भाव यह है कि आरंभिकी क्रिया षष्ठ गुण स्थान पर्य्यन्त होती है परन्तु पञ्चम और षष्ठ गुण स्थानमें प्रत्याख्यान होनेसे अप्रत्यानिकी क्रिया नहीं होती इसलिये यहां आरंभिकीके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है । चतुर्थ गुण स्थान तकके जीवोंको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें आरंभिकी क्रियाका भी सद्भाव होता है इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ आरंभिकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको आरंभिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका अभिप्राय यह है कि आरंभिकी क्रिया चौथे पाचवें और छठे गुण स्थानमें भी होती है परन्तु वहां मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि इन गुण स्थानोंके जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः आरंभिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रियाकी भजना कही है । मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया मिथ्यादृष्टिको होती है और उसमें आरंभिकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाके साथ आरंभिकी क्रियाका नियम कहा गया है) ।

आरंभिकी क्रियाके साथ शेष चार क्रियाओंकी भजना और नियमका विचार कर दिया गया अब पारिग्रहिकी क्रियाके साथ उसके आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियमका विचार किया जाता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको माया प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है परन्तु जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है ।

(इसका भाव यह है कि पारिग्रहिकी क्रिया पञ्चम गुणस्थान तकके जीवोंमें होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी मौजूद है अतः पारिग्रहिकी क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाका नियम कहा है परन्तु माया प्रत्यया क्रिया छठे आदि गुण स्थानों में भी होती है वहां पारिग्रहिकी क्रिया नहीं होती क्योंकि षष्ठादि गुण स्थान वाले जीव परिग्रह रहित होते हैं इस लिये मायाप्रत्यया क्रियाके साथ पारिग्रहिकी क्रियाकी भजना कही है।)

(प्रश्न) हे भगवन्! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है?

(उत्तर) हे गोतम! जिसको पारिग्रहिकी होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया अवश्य होती है।

(इसका भाव यह है कि पारिग्रहिकी क्रिया पञ्चम गुण स्थानमें भी होता है क्योंकि श्रावक भी परिग्रह धारी होते हैं परन्तु उनमें अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती कारण यह कि श्रावक प्रत्याख्यानी होते हैं अतः पारिग्रहिकी क्रियाके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही है। चतुर्थ गुण स्थान पर्य्यन्त अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और वहां परिग्रह भी मौजूद होता है इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ परिग्रहकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन्! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है?

(उत्तर) हे गोतम! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया अवश्य होता है।

(इसका भाव यह है पारिग्रहिकी क्रिया चतुर्थ और पञ्चम गुण स्थानमें भी होती है परन्तु वहां मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि चतुर्थ और पञ्चम गुण स्थान वाले जीव, सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः पारिग्रहिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया की भजना कही गई है। मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया, मिथ्या दृष्टिमें होती है और उनमें परिग्रहकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाके साथ पारिग्रहिकी क्रियाकी नियमा कही गई है)

...दृष्टिकी क्रियाके साथ आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियमा कही गई है अब प्रत्यय क्रियाके साथ उसके आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियम कहे जाते हैं —

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यानकी क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गौतम ! जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको अप्रत्याख्यानकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है।

(इसका तात्पर्य यह है—माया प्रत्यया क्रिया प्रमत्तादि गुण स्थानोंमें भी होती है परन्तु वहां अप्रत्याख्यानकी क्रिया नहीं होती क्योंकि प्रमत्तादि गुण स्थानोंमें प्रत्याख्यानी पुरुष होते हैं इस लिये माया प्रत्यया क्रियाके साथ अप्रत्याख्यानकी क्रिया की भजना कही है। चतुर्थ गुण स्थान पर्यन्त जीवोंमें अप्रत्याख्यानकी क्रिया होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी मौजूद है इस लिये अप्रत्याख्यानकी क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाकी नियमा कही गई है)।

प्रश्न—हे भगवन् ! जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है क्या उसको मिथ्या-दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गौतम ! जिसको माया प्रत्यया होती है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है।

(इसका भाव यह है—माया प्रत्यया क्रिया चतुर्थादि गुण स्थान वालोंमें भी होती है परन्तु उनमें मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि होते हैं अत माया प्रत्यया क्रियाके साथ मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाकी भजना कही है मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया मिथ्या दृष्टियोंमें होता है और उसमें माया प्रत्यया क्रिया होता है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाकी नियमा कही गई है।)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको अप्रत्याख्यानकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८१ के ऊपर सुयगडांग और उववाई सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे श्रावकना व्रत अव्रत जुदा जुदा कह्या मोटा जीव हणवारा मोटा झूठ बोलवारा चोरी मिथुन परिग्रहना पञ्चखाण मर्यादा कीधी ते तो व्रत कह्यो अने पांच स्थावर हणवारा आगार राख्या झूठ बोलवा आदि मिथुन परिग्रहनी मर्यादा कीधी ते मांहिला उपरान्त वर्त्या ते आगार ते अव्रत छै ' इत्यादि इसका क्या उत्तर ?

(प्रत्युत्तर)

सुयगडांग सूत्र और उववाई सूत्रका नाम लेकर श्रावकको अव्रतकी क्रिया बताना मिथ्या है। उन सूत्रोंमें कहा है कि—"श्रावक अठारह पापोंसे अंशतः हटा है और अंशतः नहीं हटा है। जिस अंशसे नहीं हटा है वह उसका अव्रत है ऐसा नहीं लिखा है अतः उक्त सूत्रोंका नाम लेकर श्रावकको अव्रतकी क्रिया बताना अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि श्रावक जिस अंशसे हटा है वह जब कि उसका व्रतमें है तब जिससे वह नहीं हटा है वह अव्रतमें क्यों नहीं है ? तो उससे कहना चाहिये कि सुयगडांग सूत्र और उववाई सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको अठारह पापोंसे अंशतः हटना और अंशतः नहीं हटना कहा है इस लिये श्रावक मिथ्यादर्शन शल्यसे भी अंशतः हटा है और अंशतः नहीं हटा है। जिस अंशसे श्रावक नहीं हटा है उसके हिसाबसे श्रावकको मिथ्या दर्शनकी क्रिया क्यों नहीं लगती है ? यदि कहो कि श्रावक मिथ्यादर्शन शल्य रूप पाप से यद्यपि सर्वथा नहीं हटा है तथापि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे उसे मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती तो इसी तरह समझो कि १७ पापोंसे जिस जिस अंशसे श्रावक नहीं हटा है उसके सेवन करने पर भी प्रत्याख्यान होनेसे श्रावकको अप्रत्याख्यानकी क्रिया नहीं लगती। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ में स्पष्ट लिखा है कि श्रावकको आरम्भिकी पारिग्रहिकी और माया प्रत्यया ये तीन ही क्रियायें लगती हैं अप्रत्याख्यानकी और मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती। वह पाठ यह है —

"तत्थण जेते संजया संजया तेसिणं आदिआओ तीणि किरिआओ कज्जंति"

(भ० श० १ उ० २)

अर्थात् संयता संयत (श्रावक) को आदिकी तीन क्रियाएं लगती हैं और अप्रत्याख्यानकी और मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती। अतः श्रावकको अव्रतकी क्रिया

लगनेकी प्ररूपणा इस पाठसे विरुद्ध समझनी चाहिये। फिर भी कोई कहे कि "१७ पापों का जो अंश श्रावकको बाकी है उसके हिसाबसे श्रावकको अव्रतकी क्रिया भी होनी चाहिये" तो श्रावकमें मिथ्यात्वका जो अंश बाकी है उसके हिसाबसे मिथ्यात्वकी क्रिया भी उसे होनी चाहिये। यदि कहो कि मिथ्यात्वकी क्रिया श्रावकको वर्जित की गई है तो भगवतीके उक्त पाठमें अव्रतकी क्रिया भी श्रावकको स्पष्ट रूपसे वर्जित की गई है अतः श्रावकको अव्रतकी क्रिया मानना एकान्त मिथ्या है। श्रावकको अव्रतकी क्रिया सिद्ध करनेके लिये उववाइ सूत्र और सुयगडाङ्ग सूत्रका जो मूलपाठ जीतमलजीने लिखा है वह निम्न लिखित है —

"एगच्चाओ पाणाइवाओ पडिविरया जाव जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहाओ पडिविरया एगच्चाओ अपडिविरया। एगच्चाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुणाओ परपरिवायाओ अरति रतिओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जाव जीवा ए एगच्चाओ अपडिविरया जाव जीवाए।"

(उववाइ प्रश्न १२)

अर्थ—

श्रावक यावज्जीवन, प्राणातिपातसे लेकर परिग्रह पर्य्यन्त एक एकसे निवृत्त और एक एकसे निवृत्त नहीं है इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ राग द्वेष, कलह आख्यान पैशुन्य परपरीवाद अरति रति, माया मृषा और मिथ्यादर्शन शल्यके एक एक अंशसे हटे हुए और एक एक अंशसे नहीं हटे हैं।

इस पाठमें जैसे १७ पापोंसे श्रावकको अंशतः नहीं निवृत्त होना कहा है उसी तरह अठारहवां पाप मिथ्यादर्शन शल्यसे भी अंशतः नहीं हटना कहा है इस लिये जैसे मिथ्यादर्शन शल्यसे अंशतः नहीं हटने पर भी श्रावकको मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती उसी तरह १७ पापोंसे अंशतः नहीं हटने पर भी श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगती अतः उक्त मूलपाठकी साक्षी देकर श्रावकको अव्रतकी क्रिया लगना ठहरा कर उसको अन्न पानादिके द्वारा सहायता करनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगती यह मुझको ज्ञात हुआ परन्तु श्रावकको साता उत्पन्न करनेसे धर्म या पुण्य होता है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

श्रावकको साता उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्यकी उत्पत्ति होना भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशा १ के मूल पाठसे सिद्ध होता है वह पाठ अर्थके साथ लिखा जाता है —

"सण कुमारे देविन्दे देवराया बहुण समणाण बहुण समणीण बहुण सावयाण बहुण सावियाण हिय कामए सुह कामए पत्थकामए अनुकम्पिए निस्सेयसिए हिय सुह निस्सेयस कामए सेते णट्ठेण गोयमा सण कुमार भवसिद्धिए णो अचरिमे"

(भगवती शतक ३ उ० १)

अर्थ —

हे गोतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र बहुतसे साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके हित सुख पथ्य अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करते हैं इस लिए वह भवसिद्धिये एकाभवतारी चरम हैं ।

इस पाठमें साधु साध्वीकी तरह श्रावक और श्राविकाओंका भी हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करनेसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भवसिद्धिक एकाभवतारी चरम होना कहा है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक और श्राविकाको साता उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति होती है । श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख और पथ्यकी कामना मात्र करनेसे जब कि सनत्कुमार देवेन्द्रको इतना बड़ा उत्तम फल प्राप्त हुआ है तब फिर साक्षात् हित सुख और पथ्य करनेका तो कहना ही क्या है । अत जो लोग श्रावकको सुख साधक वस्तुका प्रदान करके धर्ममें सहायता देते हैं वे धर्मका कार्य करते हैं एकान्त पापका नहीं इस लिये श्रावकको सुखसाधक वस्तुका प्रदान करके उसको साता उत्पन्न करनेसे जो एकान्त पाप और अव्रतका सेवन कराना बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं ।

उक्त मूल पाठमें आये हुए हित, सुख और पथ्य शब्दोंका अर्थ, टीकाकारने इस प्रकार किया है —

"हितं सुखं [illegible] वस्तु [illegible] सुह कामए [illegible] सुखं शम"।
"पत्थ कामए त्ति पथ्यं दुःख त्राणं कस्मादेव मित्यत आह "अनुकम्पित" निहृदयत्वात्।

"अर्थात् सुख साधक वस्तुका नाम "हित" है। सुख पहुंचाना "सुख" है और दुःखसे त्राण (रक्षा) करना पथ्य कहलाता है। सानत्कुमार देवेन्द्र साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओं पर अनुकम्पा रखते हैं इस लिये वह उनके हित, सुख, और पथ्यकी कामना करते हैं। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

यदि कोई कहे कि उक्त मूल पाठमें श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुख और पथ्यकी कामना नहीं कही गई है किन्तु मोक्ष सम्बन्धी हित, सुख और पथ्य की कामना कही गई है इस लिये श्रावकको शारीरिक सुख देना कोई धर्म नहीं है तो उससे कहना चाहिये कि श्रावक और श्राविकाओंके समान ही यह पाठ साधु और साध्वियोंके लिये भी आया है इस लिये यदि श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुख और पथ्य करनेसे धर्म पुण्य नहीं है तो साधु और साध्वियोंके भी शारीरिक हित सुख और पथ्यसे धर्म पुण्य नहीं होना चाहिये। यदि साधु और साध्वीके शारीरिक हित सुख और पथ्यसे धर्म होना मानते हो तो फिर श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुख और पथ्यसे भी धर्म मानना ही होगा।

उवाई सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको धार्मिक, सुशील, सुव्रत, धर्मानुग और धर्म पूर्वक जीविका करने वाला कहा है। वह पाठ यह है —

"अप्पिच्छा अप्पारम्भा अप्प परिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोइया धम्मप्पलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणचेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू" **(उवाई सूत्र)**

इस पाठमें कहा है कि—श्रावक अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुग, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायी, धर्म प्रलोकी, धर्म प्ररञ्जन, धर्मसमुदाचार, सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानंद साधु तुल्य और धर्म पूर्वक जीविका करने वाले होते हैं। शास्त्र ऐसे ऐसे विशेषण लगा कर जिसकी प्रशंसा करता है उसी श्रावकको कुपात्र बताना और उसको दान देकर धर्म की सहायता पहुंचानेसे एकान्त पाप कहना कितना तीव्रतर मिथ्यात्वका कार्य्य है यह हर एक बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है।

सुय गडाङ्ग सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको धर्मपक्षमें माना है वह पाठ अर्थके साथ दिया जाता है—

"तत्थण जासा सव्वओ विरया विरई एस ठाणे आरम्भ णो आरम्भ ठाणे। एस ठाणे आरिए केवले पडिपुन्ने णेयाउए संसुद्धे

सम्मत्तमग्गे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे निज्जाणमग्गे निव्वाणमग्गे सव्व दुक्खपहीणमग्गे एगंत सम्मे साहू"

अर्थ —

ऊपर कहे हुए स्थानोंमें जो विरता विरत नामक स्थान है वह आरम्भ नो आरम्भ कहलाता है। यह स्थान आर्य्य क्षेत्र, प्रतिपूर्ण नैयायिक, संशुद्ध इन्द्रियसंयम सिद्धि-मार्ग मुक्तिमार्ग निर्वाणमार्ग सर्वविध दुःखोंका विनाशकमार्ग, एकान्त सम्यग्भूत, और साधुभूत समझना चाहिए।

यहां विरता विरत नामक स्थानको साधुभूत सम्यग्भूत इत्यादि कहकर धर्मपक्षमें स्थापन किया है फिर भी श्रावकको कुपात्र कायम करना और उसको अन्नादि दानसे एकान्त पाप कहना अज्ञानी और कुपात्रोंका कार्य समझना चाहिये यद्यपि कृषि, गो रक्षा, वाणिज्य आदिक व्यापार करते समय श्रावकोंसे आरम्भजा हिंसा भी होती है तथापि श्रावकगण धर्मके बाहुल्य होनेसे वे धर्मपक्षमें ही गिने गये हैं टीकाकारने भी यही कहा है। वह टीका यह है —

"अत्र यद्यपि मिश्रत्वाद् धर्मा धर्मा भ्यां मुपेतं तथापि धर्म भूयिष्ठत्वाद् धार्मिक-पक्ष एवावगन्तव्यः तथया बहुषु गुणेषु मध्यपातितो दोषोनात्मानं लभते कलंक इव चन्द्रिकायाः तथा बहूदकमध्यपतितो मृच्छकलावयवोनोदकं कलुषयितुमलम्। एवम धर्मोऽपि धर्म मिति स्थित धार्मिक पक्ष एवायम्"।

अर्थात् यह विरता विरत नामक स्थान, मिश्र होनेसे यद्यपि धर्म और अधर्म दोनोंसे युक्त है तथापि धर्मके बाहुल्य होनेसे यह धर्म पक्षमें ही ठहरता है। क्योंकि बहुत गुणोंके मध्यमें पड़ा हुआ स्वल्प दोष अपना प्रभाव नहीं दिखलाता। किन्तु चन्द्रमाकी किरणोंमें कलंककी तरह छिप जाता है। जैसे बहुत जलमें पड़ा हुआ मिट्टीका कण मिट्टीको गन्दा करनेके लिए समर्थ नहीं होता उसी तरह बहुत धर्मके मध्यमें पड़ा हुआ थोड़ासा अधर्म, धर्मको कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकता।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय दर्शाते हुए श्रावकको धर्मपक्षमें ही मान कर उसके स्वल्प पापको अकिंचित्कर और अगणनीय बतलाया है अतः उक्त मूलपाठ और उसकी टीकासे श्रावक सुपात्र और धार्मिक सिद्ध होता है इसलिये श्रावककी सेवा शुश्रूषा करने, और दान सम्मानादिके द्वारा धर्ममें सहायता देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९३ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे दश शस्त्र कह्या तिणमें अव्रतने भाव शस्त्र कह्यो तो जो श्रावकने अव्रत सेवाया रूडा फल किम लागे। एनो अव्रत शस्त्र छै ते माटे जेतला जेतला श्रावकर त्याग छै ते तो व्रत छै अने जेतलो आगार छै ते सर्व अव्रत छै। आगार अव्रतसेव्या सेवाया शस्त्र तीखो कियो कहिए तिणधर्म किम कहिये"।

(भ्र० पृ० ९३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

"दस विहे सत्थे पन्नत्ते त जहा—सत्थ मग्गी विस लोण सिणेहो खार मम्बिल। दुप्पउत्तो मनोवाया काओ भावो य अविरई।"

अर्थ —

दश प्रकारके शस्त्र होते हैं वे ये हैं—अग्नि, विष, नमक, तैल घृतादि चिकने पदार्थ, खारी पदार्थ, भस्म आदि, खटाई, अयत्न पूर्वक प्रयोग किये हुए मन, वचन, काया, और अप्रत्याख्यान, ये दश शस्त्र होते हैं। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसमें पहले कहे हुए छ द्रव्य शस्त्र और पीछेके ४ भाव शस्त्र हैं। ये भाव शस्त्र जिसमें मौजूद हैं वह यदि कुपात्र माना जाय और उसको दान देना यदि शस्त्रको तीखा करना तथा एकान्त पाप समझा जाय तो छट्ठे गुणस्थानवाले प्रमादी साधुको भी कुपात्र मानना पड़ेगा और उसे दान देना प्रमाद रूप शस्त्रको तीखा करना और एकान्त पाप कहना होगा क्योंकि प्रमादी साधुमें प्रमादवश मन, वचन और काय-का दुरुपयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है। यदि कहो कि प्रमादी साधुको प्रमादवृद्धि के लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिके लिये दिया जाता है इसलिए प्रमादी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता तो इसी तरह बुद्धिमान यह भी समझें कि श्रावकको दोष वृद्धिके लिए दान नहीं दिया जाता उसके गुणका पोषण करनेके लिये दिया जाता है अतः श्रावकको धर्मवृद्ध्यर्थ दान देना एकान्त पाप अथवा शस्त्रको तीखा करना नहीं है। श्रावकको अव्रतकी क्रिया भी नहीं लगती है इसलिए उसको दान देना अव्रतका सेवन कराना भी नहीं है यह बात विस्तार साथ पहले कही जा चुकी है। वास्तवमें जैसे प्रमादी साधुको प्रमाद का सेवन करानेके

दुष्प्रयोगको न्यून करनेके लिये दान दिया जाता है उसकी वृद्धिके लिये नहीं उसी तरह श्रावकको भी उसके दुर्गुणोंकी निवृत्तिके लिये दान दिया जाता है उनकी वृद्धिके लिये नहीं अतः श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप कहनेवाले मिथ्यावादी हैं ।

भ्रमविध्वंसनकार साधुके भोजनको धर्ममें और श्रावकके भोजनको पापमें कायम करके श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाते हैं परन्तु शास्त्रविरुद्ध होनेसे यह अप्रामाणिक है। राजप्रश्नीय सूत्रमें भोजन विशेषसे पुण्य होना भी कहा है वह पाठ यह है—

"सूरियाभेण भन्ते ! देवेण सा दिव्वा देविड्ढी सा दिव्वा देव जुई से दिव्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे किण्णा पत्ते किण्णा अभि समण्णागए पुव्व भवे के आसी किंनाम एवा को वा गुत्तेण कयर सिवा गामसिवा जाव सनिवेससिवा किंवा भोच्चा किंवा किच्चा किंवा समायरित्ता कस्सवा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्सवा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म जण्णं सूरियाभेण देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी जाव देवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमण्णा गए"। (राजप्रश्नीय सूत्र)

अर्थ—

हे भगवन् ! इस सूर्य्याभ देवने ऐसी उत्तम दिव्य ऋद्धि ऐसा उत्तम द्युति और इस प्रकारका दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया है ? यह सूर्य्याभ देव पूर्वजन्ममें कौन था इसका नाम और गोत्र क्या थे यह किस ग्राममें या नगरमें निवास करता था इसने पूर्वजन्ममें कौनसा दान दिया था किस नीरस पदार्थका भोजन किया था तथा कौनसा उद्योग और कौनसी तपस्या की थी किस श्रमण या माहणसे इसने एक भी आर्य्य धर्म सम्बन्धी उपदेश सुना था जिसने इसको दिव्य ऋद्धि लेकर यावत् इस प्रकारका प्रभाव प्राप्त हुआ है ।

इस पाठमें जैसे तथा रूपके श्रमण माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनने तथा दान देने तपस्या करने आदिसे दिव्य ऋद्धिकी प्राप्ति कही गयी है उसी तरह भोजन करनेसे भी कही गयी है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके सिवाय दूसरेका खाना पीना एकान्त पापमें नहीं है। यदि शुभ भावनासे नीरस पदार्थका भोजन किया जाय तो उससे पुण्य भी उत्पन्न होता है अतः श्रावकके खानेपीने आदि कार्य्योंको एकान्त पापमें स्थापन करना इस पाठसे विरुद्ध और अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २७)

(उत्तर) हे गौतम ! जो पञ्चेन्द्रिय मनुष्य तथारूपके श्रमण और माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी एक भी सुवचन सुन कर देशतः निवृत्त होता है और देशतः निवृत्त नहीं होता देशतः प्रत्याख्यान करता है और देशतः प्रत्याख्यान नहीं करता अतः देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे उसको नरकका आयु बन्ध नहीं होता किन्तु देवताका आयु बन्ध कर वह देवता होता है। यह भगवती मूल पाठका अर्थ है।

इस पाठमें देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे नरकादि गतियोंका रुकना बतलाया गया है न कि उससे देवताका आयुबन्ध होना भी। यदि विरति और प्रत्याख्यानसे आयु बन्ध होने लगे तो फिर मोक्ष कैसे हो सकता है ? अतएव पन्नावणा सूत्रके २२ वें पद की टीकामें विरतिसे बन्ध होनेका स्पष्ट निषेध किया है वह टीका यह है —

" ननु विरतस्य कथं बन्धो नहि विरतिर्बन्ध हेतुर्भवति यदि विरतिरपि बन्ध हेतुः स्यात्तदा निर्मोक्षप्रसंग उपजायते न। उच्यते—नहि विरतिर्बन्धहेतुः किन्तु विरतस्य ये कषायास्ते बन्ध कारणम्। तथाहि सामायिक छेदोपस्थापन चारित्र विशुद्धिकेष्वपि संयमेषु कषाया संज्वलन रूपा उदय प्राप्ता सन्ति योगाश्च ततो विरतस्यापि देवायुष्कादीनां शुभ प्रकृतीनां सम्भवति बन्धः "

अर्थ —

(प्रश्न) विरत पुरुषको बन्ध क्यों होता है ? विरति, बन्धका कारण नहीं है यदि विरतिसे भी बन्ध हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि विरतिके सिवाय दूसरा कोई मोक्षका कारण नहीं है।

(उत्तर) इसका समाधान यह है कि विरतिसे बन्ध नहीं होता किन्तु विरत पुरुषों का जो कषाय है वह बन्धका कारण है। सामायिक, छेदोपस्थापन, और परिहारविशुद्धि आदि संयमोंमें भी संज्वलनात्मक कषाय और योग, उदयको प्राप्त रहते हैं इसलिये इन्हीं से विरत पुरुषोंको भी आयु आदिका बन्ध होता है।

यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है।

इस टीकामें विरतिसे बन्ध होनेका स्पष्ट निषेध किया है इसलिए भगवती शतक १ उद्देशा ८ के मूल पाठमें विरति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु बन्ध होना नहीं कहा है। विरति और प्रत्याख्यानसे नरक आदिका आयु बन्ध रुक जाता है और विरत पुरुषोंमें जो कषाय और योग होता है उससे देव आयुका बन्ध होता है। अतः विरति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु बन्ध बतलाना मिथ्या है।

देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे पुण्य बन्ध मान कर देवता होनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है कहीं भी मूल पाठ और टीकामें यह नहीं

कहा है कि "विरति और प्रत्याख्यानमें जो काय कष्ट होता है उससे देवता होता है" बल्कि पन्नावणा सूत्रकी टीकामें विरत पुरुषके संज्वलनात्मक कषाय और योगसे देवता होना बतलाया है अतः विरति और प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे कर्मोंकी निर्जरा होती है पुण्य बन्ध नहीं होता।

यदि विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टसे पुण्य बन्ध होने लगे तो फिर कर्मोंकी निर्जरा किससे होगी? अतः विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टके द्वारा पुण्य बन्ध मानकर उससे देवता होनेकी कल्पना करना मिथ्या है।

अब प्रश्न यह होता है कि देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता यदि नहीं होता तो श्रावक किस कर्मके प्रभावसे देवता होता है? तो इसका उत्तर यह है—

श्रावकोंमें जो अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, और अल्प क्रोध, मान, माया, आदि आस्रव होते हैं उन्हींसे वे देवता होते हैं देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे नहीं क्योंकि बन्ध, आस्रवसे, होता है संवर और निर्जरासे नहीं। देश विरति और देश प्रत्याख्यान संवर हैं आस्रव नहीं हैं अतः उनसे बन्ध नहीं हो सकता इस लिये देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता होनेकी बात मिथ्या है।

व्रत प्रत्याख्यानसे और उनमें होनेवाले काय कष्टसे देवता नहीं होता इस विषयमें भगवतीसूत्र शतक २ उद्देशा ५ का मूल पाठ भी प्रमाण है। वह पाठ यह है—

"संजमेणं भन्ते! किंफलए? तवेणं भन्ते! किं फलए? संजमेणं अज्जो! अणण्हय फले तवेणं वोदाण फले"

(भगवती शतक २ उ० ५)

अर्थ—

तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंने भगवान् पार्श्वनाथजीके स्थविरोंसे पूछा कि हे भगवन्! संयम और तपस्याका क्या फल है? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए पार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोंने कहा कि संयमका फल नवीन कर्मों का आगमन रुकना है और तपस्याका फल, पूर्वकृत कर्मोंका नाश है।

इस पाठमें श्रीपार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोंने व्रत और प्रत्याख्यानसे संवर और निर्जराकी उत्पत्ति बतलाई है पुण्य बन्ध होना नहीं कहा है अतः व्रत प्रत्याख्यानसे पुण्य बन्ध मानना शास्त्र विरुद्ध है। इसके अनन्तर उक्त श्रावकोंने पार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोंसे पूछा कि हे भगवन्! संयम और तपस्यासे जबकि संवर और निर्जरा होती है तो संयमी और तपस्वी पुरुष देवता कैसे होते हैं? इस प्रश्नके चार उत्तर चार स्थविरोंने पृथक् पृथक् दिये थे। एकने कहा कि सराग अवस्थाकी तपस्यासे प्राणी

और तपस्वी पुरुष स्वर्ग जाते हैं। दूसरेने कहा कि सराग अवस्थाके संयमसे जीव स्वर्ग जाते हैं। तीसरेने कहा कि क्षय होनेसे बचे हुए कर्मोंके द्वारा स्वर्ग जाते हैं। चौथेने कहा कि सांसारिक पदार्थों में आसक्त होनेसे देवता होते हैं। इन उत्तरोंमेंसे पहिलेके दो उत्तरों का अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने यह लिखा है —

"तत्र सराग कृतेन संयमेन तपसाच देवत्वावाप्तिः रागांशस्य कर्म बन्ध हेतु त्वात्" अर्थात् सराग संयम और सराग तपस्यामें जो रागांश विद्यमान है वही कर्म बन्धका हेतु है उसीसे सराग संयमी और सराग तपस्वी देवता होते हैं (संयम और तपस्यासे नहीं) तीसरे उत्तरमें क्षय होनेसे बचे हुए कर्मों के कारण स्वर्ग होना कहा है तपस्या और संयमसे नहीं। चौथेमें, तपस्वी और संयमी पुरुषोंका अपने भाण्डोप-करणोंमें जो ममत्व भाव है उससे देव भवपाना बतलाया है तपस्या और संयमसे नहीं। इस प्रकार इन चारों उत्तरोंमेंसे किसीमें भी व्रत प्रत्याख्यानसे तथा व्रत प्रत्याख्यान पालते समय जो काय कष्ट होता है उससे देवता होना नहीं कहा है अतः व्रत प्रत्याख्यानसे तथा उनका पालन करनेमें होने वाले काय कष्टसे देवता होनेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है। जबकि अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रहादिसे श्रावक, देवता होते हैं तब उनका शुभ आशयसे भोजन करना एकान्त पापमें कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिये।

(बोल २८ वा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १०२ पर लिखते हैं "अथ ईहां विण कह्या ते गृहस्थादिक नो देवो संसार भ्रमण हेतु जाणीने साधु त्याग्यो इमि कह्यो तो गृहस्थ में तो श्रावक पिण आयो तो ते श्रावकने दानरी साधु अनुमोदना किम करे तिणमें धर्म पुण्य किम कहिए"

(भ्र० पृ० १०२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह गाथा यह है —

"जेणेहं णिव्वहे भिक्खू अन्नपाणं तहा विहं अणुप्पयाणं मन्नेसिं तंविज्जं परिजाणिया"

(टीका)

" येन अन्नेन पानेनवा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षयात्वशुद्धेनवा इह अस्मिन् लोके इद संयम यात्रादिकं दुर्भिक्ष रोगातङ्कादिकं वा साधु निर्वहन्निर्वाह येद्वा तदन्नपानंवा तथाविध द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्ध कल्प गृह्णीयात्। तथैतेषामन्नादीनामनुप्रदान मन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत् यदि वायेन येन चिदनुष्ठितेन इद संयमं निर्वहद्सारतामापादयेत् तथाविधमशनं पानं मन्यद्वा तथाविधं मनुष्ठानं नकुर्य्यात् तथैतेषामशनादीनामनुप्रदानं गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं मनुशीलयेदिति तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेत् " ।

अर्थ —

संयति पुरुष, उत्सर्ग मार्गमें शुद्ध और कारणकी अपेक्षासे अशुद्ध जिस अन्न पानसे संयम और दुर्भिक्ष रोगातङ्कादिका निर्वाह करता हो वह अन्न पान द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे शुद्ध तथा कल्पानुसार ही ग्रहण करे और उसी तरहका अन्न पान वह दूसरे साधुको भी संयम निर्वाहार्थ प्रदान करे। अथवा जिसके अनुष्ठान से साधुका संयम नष्ट हो जाय उस तरहका अन्न पान या और भी कोई अन्य कार्य साधु न करे। जिस अन्न पानसे साधुका संयम भ्रष्ट हो जाय ऐसा अन्न पान, गृहस्थ, स्वयूथिक, या परतीर्थीको साधु न देवे किन्तु ज्ञपरिज्ञासे इसे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग कर देवे। यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

इस गाथामें जिस अन्न पानके द्वारा साधुका संयम भ्रष्ट हो जाता है उसका लेना और दूसरेको देना वर्जित किया है परन्तु "गृहस्थको दान देना संसार भ्रमणका हेतु जान कर साधु छोड़ देवे" यह नहीं कहा है इसलिए इस गाथाकी साक्षी देकर गृहस्थके दानको संसार भ्रमणका हेतु बताना मूर्खताका परिणाम है। इस गाथाको लिख कर इसके नीचे भ्रमविध्वंसनकारने जो टब्बा अर्थ लिखा है वह भी न तो मूल पाठके शब्दोंसे निकलता है और न टीकासे ही मिलता है इसलिये वह महा अशुद्ध और मिथ्या कपोल कल्पित है उसका आश्रय लेकर गृहस्थके दानको संसार भ्रमणका हेतु बतलाना मिथ्या है। इस गाथाके चतुर्थ चरणमें "नं देज्ज परिजाणिया" यह वाक्य आया है उसीका नाम लेकर यदि कोई इस वाक्यका अर्थ करे कि पूर्वोक्त कार्योंको संसार भ्रमणका हेतु जान कर साधु छोड़ देवे तो इस गाथाके पूर्व गाथामें भी यही वाक्य आया है इसलिये उसका भी यही अर्थ करना होगा। वह गाथा यह है —

"जे भिक्खू अन्नउत्थियवा गारत्थियवा पज्जोसवेइ पज्जोसवतवा साइज्जइ"

अर्थात् जो साधु अन्य यूथिकको या, गृहस्थको पर्य्युषण कराता है या कराते हुएको अच्छा समझता है उसको प्रायश्चित्त आता है। यह इस पाठका अर्थ है।

इसमें कहा है कि "गृहस्थ और अन्य तीर्थीको पर्य्युषण कराने वालेकी अनुमोदना करनेसे साधुको प्रायश्चित्त आता है" इसका आशय यही है कि साधु किसी गृहस्थको या अन्य तीर्थीको पर्य्युषण करावे तो उसकी अनुमोदना करने वाले साधुको प्रायश्चित्त होता है परन्तु यदि गृहस्थ किसी गृहस्थको पर्युषण करावे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त बतलानेका आशय नहीं है उसी तरह बोल ७८ और ७९ के पाठका भी यही अभिप्राय है कि गृहस्थको उत्सर्ग मार्गमें दान देने वाले साधुको अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होता है परन्तु गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थकी अनुमोदना करनेसे नहीं। यदि कोई यह बात न मान कर गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त बतावे तो फिर उसके हिसाबसे गृहस्थको या अन्य यूथिकको प्रतिक्रमण (पर्युषण) कराने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त होना चाहिये तथा जिस कार्य्यका साधु अनुमोदन नहीं करते ऐसे पर्युषण रूप कार्य्य करने और कराने वाले गृहस्थको एकान्त पाप होना चाहिये परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है पर्य्युषण करने वाले या कराने वाले गृहस्थको तथा उसका अनुमोदन करने वाले साधुको एकान्त पाप नहीं होता उसी तरह गृहस्थको अनुकम्पादान देने वाले गृहस्थको और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त नहीं होता। अतः गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे साधुको पाप बताना मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकारने निशीथ सूत्र उद्देशा १२ बोल ७८ और ७९ के मूल पाठका अर्थ पूरा पर सोचे बिना ही गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना बताया है अतः उनके अविवेक पूर्ण और *प्रकरण विरुद्ध कथन पर ध्यान देकर अनुकम्पा दानको एकान्त पाप नहीं समझना चाहिये।*

निशीथ सूत्रमें इस प्रकारके अनेकों पाठ मिलते हैं जिनका भ्रमविध्वंसनकारकी रीतिसे अर्थ करना महान अनर्थका कारण हो सकता है। जैसे कि निशीथ सूत्रमें यह भी पाठ आया है —

"जे भिक्खू गामारक्खियं पज्जाणयो सि गामाणु गामं दुइज्जइ दुइज्जंतं वा साइज्जइ"

(निशीथ सूत्र)

घत्थाया परिग्गहवा कम्बउया पायपुन्छणं वा देयइ देयन व साइज्जइ''

(निशीथ सूत्र)

(चूर्णी)

"दुल्लहे भत्त पाण डहिय मारिणा साहारणदिन्न तन्थ तं गिही अन्नतीत्थिया विभज्जाएयवा अहते अनिच्छा मागु भणेज्ज अहतेपन्ना ताते साए विभज्जनि मागुणा विभयतेण सव्वेसि व समगमेव विभईन्व एसुतदेसो'' (निशीथ चूर्णी)

अय —

किसी अकाल और दुष्कालके समय दाता पुरुष अन्य तीर्थी, गृहस्थ और साधुको शामिल में ही भिक्षा लाकर देवे तो साधु उस आहारका विभाग अन्य तीर्थी और गृहस्थोंमें कर यदि वे स्वयं विभाग न करके साधुसे ही विभाग करानेकी इच्छा प्रकट करें तो साधु बराबर बांट कर सबको दे देवे यही शास्त्रका उपदेश है।

इस चूर्णीमें स्पष्ट लिखा है कि "कारण पड़ने पर साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थको शामिलमें मिली हुई भिक्षा बांट कर दे देते हैं" अत साक्षात् साधु भी जब कारण पड़ने पर अन्य तीर्थी और गृहस्थको देता है तब यदि हीन दीन दुःखी जीव पर दया करके कोई गृहस्थ दान देवे तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है ?

कारण पड़ने पर साधु भी गृहस्थको देते हैं यह केवल निशीथ सूत्रकी इस चूर्णी में ही नहीं आचाराग सूत्रके मूलपाठमें भी कहा है वह पाठ यह है —

"सेभिक्खूवा २ सेज पुण जाणिज्जा समण वा माहण वा गामपिण्डोलग वा अतिहि वा पुव्वपविट्ठ पेहाए नो तेसि संलोए सपडि दुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाय एगत मवक्कमेज्जा अवकमित्ता अणावायमसलोए चिट्ठिज्जा ससेपरो अणावाय मसलोए चिट्ठमाणस्स असण वा ४ आहट्टु दलइज्जा सेयएव वएज्जा आउसतो समणा! इमेभेअसणे सव्वजणाए निसिट्ठे त भुजह वाण परिभाएहतचे गइओ पडिग्गाहित्ता तुसीणिओ उवेहिज्जा। अवि आइ एय मम मेव सिया माइट्ठाए सेफासे नो एव कारिज्जा से तमायाए तत्थगच्छिज्जा से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसन्तो! समणा! इमे भे असणे वा ४

सच्चजाणाए निसिट्ठे तं भुंजह णं जाव परिभाएहयाणं सेणं मेयं वयन्त परो वएज्जा आउसन्तो समणा ! तुमं चेवणं परिभाएहि सेतत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं खद्धं डायं डायं ऊसढं ऊसढं रसियं रसियं मणुन्नं मणुन्नं निद्धं निद्धं लुक्खं लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववन्ने बहु सममेव परिभाएज्जा । सेणं परिभाएमाणं परोवएज्जा आउसन्तो समणा ! माणं तुमं परिभाएहि सव्वे वेगइया ठिआउ भुक्खामो से तत्थ भुंजमाणे अप्पणा खद्धं खद्धं जाव लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए ४ बहु सममेव भुंजिज्जा पाइज्जा वा''

(आचारांग सूत्र)

अर्थ —

किसी ग्राम या नगरमें भिक्षाके लिये गए हुए साधु को यह मालूम हो जाय कि "इस गृहमें कोई दूसरा भिक्षुक भिक्षार्थ निमित्त गया हुआ है" तो साधु दाता और याचकके असन्तोष तथा अन्तरायके भयसे उनके सम्मुख न खड़ा रहे, तथा उस गृहके द्वार पर भी न खड़ा रहे किन्तु वहांसे हट कर किसी एकान्त स्थानमें चला जाय और जहां मनुष्योंका गमनागमन न होता हो तथा दाता और याचककी दृष्टि न पड़ती हो वहां जाकर ठहरे। उस स्थानमें ठहरे हुए साधुके पास आकर वह गृहस्थ यदि चतुर्विध आहार देकर कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आज आप बहुतसे भिक्षुक भिक्षार्थ मेरे घर पर आ गये हैं परन्तु मैं किसी कार्य विशेषमें फंसा हुआ हूं अतः अलग अलग बांट कर आप लोगोंको देनेमें असमर्थ हूं यह चतुर्विध आहार आप सबको इकट्ठा ही देता हूं आप लोग अपनी इच्छानुसार इसे एक साथ ही खा लेवें या बांट बांट कर खावें" तो साधु उत्सर्ग मार्गमें उस आहारको न लेवे परन्तु दुर्भिक्ष आदिक समय या मार्गकी थकावटकी हालतमें साधु उस भिक्षाको ले सकता है उसे लेकर साधु यदि यह सोचे कि 'यह भिक्षा गृहस्थने मुझको ही दी है और यह है भी थोड़ी इस लिए इसे मैं अकेला ही खा जाऊं' तो वह पापी है ऐसा कार्य्य साधुको कदापि न करना चाहिए अतः उस भिक्षाको लेकर साधु दूसरे भिक्षुओंके पास जाय और उन्हें दिखला कर कहे कि हे श्रमणो ! यह आहार आप सभी लोगोंके लिये गृहस्थने इकट्ठा दे दिया है इस लिए आप इसे इकट्ठा ही खा लेवें या बांट बांट कर खावें। यह सुन कर यदि कोई भिक्षुक यह कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आप ही इसे बांट कर हम सबको दे देवें तो उत्सर्ग मार्गमें साधु इस बातका स्वीकार न करे। यदि अपवाद मार्गमें साधुको बांटना पड़े तो वह लोभमें आकर उत्तम, सुगन्ध, चिकना रस और मनोज्ञ आहार अपने हिस्सेमें अधिक न लेवे किन्तु सभी चीजोंका

वत्थावा परिग्गहवा कम्बलवा पायपुच्छणं वा देयइ देयंत वा साइज्जइ''

(निशीथ सूत्र)

(चूर्णी)

"दुल्लहे भत्त पाण डडिय माहिणा साहारणदिन्न तत्थ ते गिही अन्नतीत्थिया विभज्जाएयवा अहते अनिच्छा साधु भणेज्जा अहतेपन्ना ताते साहू विभज्जति साधुणा निभयतेण सव्वेसि बहु समग्गमेव विभईव्व एसुवदेसो'' (निशीथ चूर्णी)

अर्थ —

किसी अकाल और दुष्कालके समय दाता पुरुष अन्य तीर्थी, गृहस्थ और साधुको शामिल में ही भिक्षा लाकर दे तो साधु उस आहारका विभाग अन्य तीर्थी और गृहस्थोंसे करा ले। यदि वे स्वयं विभाग न करके साधुसे ही विभाग करानेकी इच्छा प्रकट करें तो साधु बराबर बराबर बांट कर सबको दे देवे यही शास्त्रका उपदेश है।

इस चूर्णीमें स्पष्ट लिखा है कि "कारण पड़ने पर साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को शामिलमें मिली हुई भिक्षा बांट कर दे देते हैं" अतः साक्षात् साधु भी जब कारण पड़ने पर अन्य तीर्थी और गृहस्थको देता है तब यदि हीन दीन दुःखी जीव पर दया करके कोई गृहस्थ दान दे तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है?

कारण पड़ने पर साधु भी गृहस्थको देते हैं यह केवल निशीथ सूत्रकी इस चूर्णी में ही नहीं आचाराग सूत्रके मूलपाठमें भी कहा है वह पाठ यह है —

"सेभिक्खुवा २ सेज पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिण्डोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसि संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाए एगंत मवक्कमेज्जा अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा सेसेपरो अणावाय मसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा सेयएवं वएज्जा आउसन्तो समणा! इमेभेअसणे सव्वजणाए निसिट्ठे त भुंजह वाणं परिभाएहवणं से तत्थ पडिग्गाहित्ता तुसिणीओ उवेहिज्जा। अवि आइ एयं मम मेव सिया माइट्ठाणं संफासे नो एवं करिज्जा से तमायाए तत्थगच्छिज्जा से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसन्तो! समणा! इमे भे असणे वा ४

यन्थागा परिग्गहिया कम्मन्ता पागरुन्तणं वा देगइ देतं न वा साइज्जइ"

(निशीथ सूत्र)

(चूर्णी)

"दुक्खते भत्त पाण उडिय माग्णिा साहारणदिन्न तत्थ ते गिही अन्नतीत्थिया विभज्जाण्यया अहते अनिच्छया साधु भणेज्जा अहतेपन्ना ताते साह विभज्जति माधुणा विभयतेण मत्तेसि वहु समगमेव विभईव्व एसुत्तदेसो" (निशीथ चूर्णी)

अथ —

किसी अकाल और दुष्कालके समय दाता पुरुष अन्य तीर्थी, गृहस्थ और साधुको शामिल में ही भिक्षा लाकर देवे तो साधु उस आहारका विभाग अन्य तीर्थी और गृहस्थोंसे हा कराव। यदि व स्वयं विभाग न करके साधुसे हा विभाग करानेकी इच्छा प्रकट करें तो साधु बराबर बराबर बाट कर सबको दे देवे यही शास्त्रका उपदेश है।

इस चूर्णीमें स्पष्ट लिखा है कि "कारण पडने पर साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को शामिलमें मिली हुई भिक्षा बाट कर दे देते हैं" अत साक्षात् साधु भी जब कारण पडने पर अन्य तीर्थी और गृहस्थको देता है तब यदि हीन दीन दुःखी जीव पर दया करके कोई गृहस्थ दान देवे तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है?

कारण पडने पर साधु भी गृहस्थको देते हैं यह केवल निशीथ सूत्रकी इस चूर्णी में ही नहीं आचाराग सूत्रके मूलपाठमें भी कहा है वह पाठ यह है —

"सेभिक्खूवा २ सेज पुण जाणिज्जा समण वा माहण वा गामपिण्डोलग वा अतिहि वा पुव्वपविट्ठ पेहाए नो तेसि संलोए सपडि दुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाय एगत मवक्कमेज्जा अवक्कमित्ता अणावायमसलोए चिट्ठिज्जा ससेपरो अणावाय मसलोए चिट्ठमाणस्स असण वा ४ आहट्टु दलइज्जा सेयएव वएज्जा आउसतो समणा! इमेभेअसणे सव्वजणाए निसिट्ठे त भुजह वाण परिभाएहतचे गइओ पडिग्गाहित्ता तुसीणिओ उवेहिज्जा। अवि आइ एयं मम मेव सिया माइट्ठाण सेफासे नो एव कारिज्जा से तमायाए तत्थगच्छिज्जा से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसन्तो! समणा! इमे भे असणे वा ४

सव्वजणाए निसिट्ठे तं भुजह णं जाव परिभाएहणं सेणं मेव वयन्त परो वएज्जा आउसन्तो समणा ! तुमं चेवणं परिभाएहि सेतत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्ध खद्ध डाय डाय ऊसढ ऊसढ रसिय रसिय मणुन्न मणुन्न निद्ध निद्ध लुक्खा लुक्खा से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढ़िए अणज्झोववन्ने बहु सममेव परिभाइज्जा । सेणं परिभाएमाणं परोवएज्जा आउसन्तो समणा ! माणं तुमं परिभाएहि सव्वे वेगइया ठिआउ भुक्खामो से तत्थ भुजमाणे अप्पणा खद्ध खद्ध जाव लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए ४ बहु सममेव भु जिज्जा पाइज्जा वा''

(आचाराग सूत्र)

अर्थ —

किसी ग्राम या नगरमें भिक्षाके लिये गये हुए साधु को यह मालूम हो जाय कि "इस गृहमें कोई दूसरा भिक्षुक भिक्षाके निमित्त गया हुआ है" तो साधु दाता और याचकको असन्तोष तथा अन्तरायका भयसे उनके सम्मुख न खड़ा रहे तथा उस गृहके द्वार पर भी न ठहरे वहांसे हट कर किसी एकान्त स्थानमें चला जाय और जहां मनुष्योंका गमनागमन न होता हो तथा दाता और याचकको दृष्टि न पड़ती हो वहां जाकर ठहरे । उस स्थानमें ठहरे हुए साधुके पास आकर यह गृहस्थ यदि चतुर्विध आहार देकर कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आज आप बहुतसे भिक्षुक भिक्षार्थ मेरे घर पर आ गये हैं परन्तु मैं किसी कार्य विशेषमें फसा हुआ हूं अतः अलग अलग बांट कर आप लोगोंको भिक्षा देनेमें असमर्थ हूं यह चतुर्विध आहार आप सबको इकट्ठा ही देता हूं आप लोग अपनी इच्छानुसार इसे एक साथ ही खा लेवें या बांट बांट कर खांय तो साधु उत्सर्ग मार्गमें उस आहारको न लेवे परन्तु दुर्भिक्ष आदिक समय या मार्गकी थकावटकी हालतमें साधु उस भिक्षाको ले सकता है उसे लेकर साधु यदि यह सोचे कि 'यह भिक्षा गृहस्थने मुझको ही दी है और यह है भी थोड़ा इस लिए इसे मैं अकेला ही खा जाऊं' तो वह कपटी है ऐसा कार्य्य साधुको कदापि न करना चाहिये अतः उस भिक्षाको लेकर साधु दूसरे भिक्षुकोंके पास जाय और उन्हें दिखला कर कहे कि हे श्रमणो ! यह आहार आप सभी लोगोंके लिये गृहस्थने इकट्ठा ही दिया है इस लिए आप इसे इकट्ठा ही खा लेवें या बांट बांट कर खाय । यह सुन कर यदि कोई भिक्षुक यह कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आप ही इसे बांटकर हम सबको दे देवें तो उत्सर्ग मार्गमें साधु इस बातको स्वीकार न करे । यदि अपवाद मार्गमें साधुको बांटना पड़े तो वह लोभमें आकर सुन्दर, सुगन्ध चिकना स्वच्छ और मनोज्ञ आहार अपने हिस्सेमें अधिक न लेवे किन्तु सभी पात्रोंका

वत्थाणं परिग्गहया कम्बलया पायपुच्छणं वा देयइ देयंत वा साइज्जइ''

(निशीथ सूत्र)

(चूर्णी)

"दुल्लहे भत्त पाण डडिय माहिणा साहारणदिन्न तत्थ ते गिही अन्नतीत्थिया विभज्जाएयत्रा अहते अनिच्छा साधु भणेज्जा अहतेपन्ना ताते साह विभज्जति साधुणा विभयतेण सव्वेसि वहु समगमेव विभईन्व एसुवदेसो'' (निशीथ चूर्णी)

अथ —

किसी अकाल और दुष्कालके समय दाता पुरुष अन्य तीर्थी, गृहस्थ और साधुको शामिल में हो भिक्षा लाकर देवे तो साधु उस आहारका विभाग अन्य तीर्थी और गृहस्थोंमें हो करावे। यदि व स्वयं विभाग न करें साधुसे ही विभाग करानेकी इच्छा प्रकट कर तो साधु बराबर बराबर बाट कर सबको दे देवे यही शास्त्रका उपदेश है।

इस चूर्णीमें स्पष्ट लिखा है कि "कारण पड़ने पर साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को शामिलमें मिली हुई भिक्षा बाट कर दे देते हैं" अत साक्षात् साधु भी जब कारण पड़ने पर अन्य तीर्थी और गृहस्थको देता है तब यदि हीन दीन दुःखी जीव पर दया करके कोई गृहस्थ दान देवे तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है ?

कारण पडने पर साधु भी गृहस्थको देते हैं यह केवल निशीथ सूत्रकी इस चूर्णी में ही नहीं आचारांग सूत्रके मूलपाठमें भी कहा है वह पाठ यह है —

"सेभिक्खुवा २ सेज पुण जाणिज्जा समण वा माहण वा गामपिण्डोलग वा अतिहि वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपडि दुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाय एगत मवक्कमेज्जा अवक्कमित्ता अणावायमसलोए चिट्ठिज्जा ससेपरो अणावाय मसलोए चिट्ठमाणस्स असण वा ४ आहट्टु दलइज्जा। सेयएव वएज्जा आउसतो समणा ! इमेभेअसणे सव्वजणाए निसिट्ठे त भुंजह्न्यााण परिभाएहतंचे गहओ पडिगाहित्ता तुसीणिओ उवेहिज्जा । अवि आइ एयं मम मेव सिया माइट्ठाए सेतासे नो एवं करिज्जा से तमायाए तत्थगच्छिज्जा से पुव्यामेव आलोइज्जा आउसन्तो ! समणा ! इमे भे असणे वा ४

समान विभाग करे। विभाग करते समय यह ध्यान रक्खे कि सभी हिस्से प्रायः समान ही हों। उस समय यदि कोई यह कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण! आप इसे न बाँटें हम सब इसे साथ ही खा लेंगे तो साधु परार्थिकके साथ भोजन न करे, अपने पृथक् पात्रस्थ और सांभोगिक साधुके साथ आलोचना करके खावे। खाते समय उन आहारोंमें साधु मूर्च्छित न होवे और अन्य साधुओंकी चीज साथ खाने वाले ज्यादा न खा जाय, समान ही खावे। यह इस पाठका टीकानुसार अर्थ है।

यहां अपवाद मार्गमें दूसरे भिक्षुकोंके शामिलमें मिली हुई भिक्षाको बांट करके देना साधुके लिये कहा है इस लिये अपवाद मार्गमें साधु भी गृहस्थ और अन्य तीर्थी को दान देते हैं। जब कि साधु भी अपवाद मार्गमें अन्य तीर्थी और गृहस्थको देते हैं तब यदि कोई गृहस्थ किसी गृहस्थको दान देकर उसके धर्मकी रक्षा करे तो इसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है? अतः निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठका नाम लेकर गृहस्थको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप बताना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १०३ के ऊपर लिखते हैं "इण निशीथरे पनरमें उद्देश एहवा पाठ कह्या छै— "जेभिक्खू सचित्त अम्ब भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ" इहां कह्यो सचित्त आंबो भोगवे भोगवताने अनुमोदे तो प्रायश्चित्त आवे। ए साधु भोगवतो हुवे तेहने अनुमोदनो नहीं तो गृहस्थ आंबो भोगवे तेहने साधु किम अनुमोदे जो गृहस्थरा दानने साधु अनुमोदे तो तिणरे लेखे आंबो गृहस्थ भोगवे तेहने पिण अनुमोदणो" (भ्र० पृ० १०३)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

आम्र फल वाले पाठका दृष्टान्त देकर गृहस्थके दानको एकान्त पापमें स्थापन करना मिथ्या है। सचित्त आम्रके खानेमें प्रत्यक्ष जीव हिंसा होती है इस लिये साधु उसका अनुमोदन नहीं कर सकते चाहे गृहस्थ सचित्त आम्र खावे या साधु खावे साधु दोनों ही को बुरा जानते हैं परन्तु यह बात गृहस्थके दानमें नहीं घटती। गृहस्थ यदि किसी गृहस्थ पर अनुकम्पा करके अचित्त अन्न और अचित्त दधि आदि पदार्थ देवे तो उसमें कौनसी जीवहिंसा होती है जिससे साधु उस अनुकम्पाका अनुमोदन न करे। साधु हिंसाका अनुमोदन नहीं करते अनुकम्पाका अनुमोदन करते हैं अतः सचित्त आम्र फल वाले पाठका

दृष्टान्त देकर दीन हीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(बोल २९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

गृहस्थको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधु भी उत्सर्ग मार्गमें गृहस्थको दान क्या नहीं देता तथा निशीथ सूत्रमें गृहस्थको दान देने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना क्यों कहा गया है ?

इसका उत्तर दीजिये ?

(प्ररूपक)

गृहस्थ तथा अन्य जीवों के ऊपर अनुकम्पा लाकर दान देनेसे एकान्त पाप होना जान कर निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध नहीं किया है, किन्तु, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विशाल धर्मको छोड़ कर अनुकम्पा दान रूप एक साधारण पुण्यका लोभ करना साधुके लिये वर्जित किया गया है। अनुकम्पा दानका पुण्य लाभ तो गृहस्थावस्थामें भी किया जा सकता है परन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप धर्मका लाभ गृहस्थावस्थामें पूर्णतया नहीं हो सकता इसीलिये गृहस्थावस्थाको छोड़कर दीक्षा ग्रहण की जाती है। दीक्षा लेनेका उद्देश्य ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नति करना है उस मुख्य उद्देश्यको छोड़ कर अनुकम्पा दान आदि साधारण पुण्यके कार्य्योंमें प्रवृत्त होना साधुके लिये अनुचित और उसकी अवनतिका कारण है। जैसे कोई रत्नका व्यापारी रत्नके व्यापारको छोड़ कर पैसेके व्यापारमें प्रवृत्त हो जाय तो उसके लिये यह उचित नहीं कहा जा सकता यद्यपि उसको पैसेके व्यापारमें केवल घाटा ही नहीं लाभ भी होता है तथापि रत्नके व्यापारमें होने वाले लाभकी अपेक्षासे वह लाभ बहुत ही निकृष्ट है उसी तरह जो साधु ज्ञान दर्शन और चारित्रका व्यापार छोड़ कर अनुकम्पा दान जैसा एक साधारण पुण्यके व्यापारमें प्रवृत्त होता है वह महान लाभको छोड़ कर एक साधारण लाभका कार्य्य करता है इसी लिये शास्त्रमें यह कार्य्य साधुको अनुचित कहा गया है यह नहीं कि अनुकम्पा दानसे एकान्त पाप होना जान कर गृहस्थ दानका निषेध किया गया हो।

यदि कोई कहे कि—गृहस्थको दान देनेसे साधुके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिमें क्या बाधा होती है ? तो उसे कहना चाहिये कि साधुको अपने शारीरिक निर्वाहसे अधिक भोजन लेना कल्पता नहीं है ऐसी दशामें यदि साधु अन्य दीन और

गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो उसे अपने आहारसे अधिक भोजन लेना ही पड़ता होगी और अपने आहारसे अधिक भोजन लेने पर साधुकी निरवद्य भिक्षा वृत्ति कायम रह सकती, तथा उसके चारित्रमें बाधा और गृहस्थोंके साथ परिचय भी बढ़ता है इसी कारणसे निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध किया है एकान्त पाप कह कर नहीं। निशीथ सूत्रमें शिथिलाचारी साधुसे अन्न, वस्त्र कम्बल आदि लेनेका प्रायश्चित्त होना कहा है वह पाठ यह है —

"जे भिक्खू पासत्थस्स असण पाण खाइम साइम पडिच्छइ पडिच्छ त वा साइज्जइ। जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थ वा पडिग्गह वा कम्बल वा पाय पुञ्छण वा पडिच्छइ पडिच्छ त वा साइज्जइ" (निशीथ सूत्र)

अर्थात् जो साधु शिथिलाचारी साधुसे अन्न, पान खाद्य स्वाद्य, वस्त्र पात्र कम्बल और पाद प्रोंछन लेता है वा लेने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित होता है।

इस पाठमें शिथिलाचारी साधुसे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद प्रोंछन लेने वाले साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है।

अब यहां प्रश्न उठता है कि साधु तो गृहस्थसे भी [illegible] लेता है और गृहस्थ शिथिलाचारी साधुकी अपेक्षा बहुत ही न्यून है अतः [illegible] को क्या प्रायश्चित्त नहीं है और फिर शिथिलाचारी साधुसे लेना क्यों [illegible] है ? इसका उत्तर यही है कि शिथिलाचारी साधुसे लेनेका [illegible] साधुको [illegible] होता और शिथिलाचारकी [illegible] अनुमोदना है [illegible] कारण ही निशीथके उक्त पाठमें शिथिलाचारी साधुसे [illegible] लेनेका निषेध किया गया है [illegible] [illegible] और चारित्रकी [illegible] निशीथ सूत्रमें [illegible] निषेध किया है एकान्त पाप जान कर नहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

तो उड़ने वाले जीव वहां आ सकते हैं। तथा दीवाल या चटाईके द्वारा चारों तरफ से घिरे हुए मकानमें साधुको आहार करना चाहिये अन्यथा दीन दुःखीके मांगने पर देनेसे पुण्य बन्ध और नहीं देनेसे विद्वेष होता है।

यहां टीकाकारने हीन दीन दुःखी जीवको दान देनेसे पुण्य होना बतलाया है एकान्त पाप होना नहीं परन्तु ऐसे सामान्य पुण्यके कार्य्यमें साधुको प्रवृत्त होना उचित नहीं है इसलिए उत्तराध्ययन सूत्रमें साधुको खुली जगहपर भोजन करना निषेध किया है। साधु हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान स्वयं नहीं देता इसलिये यदि कोई अनुकम्पा दानमें पाप ठहरावे तो भगवतीका निम्न लिखित पाठ दिखला कर उसका भ्रम दूर करना चाहिये। वह पाठ यह है—

"निग्गंथं चणं गाहावइ कुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केई दोहिं पिण्डेहिं उवनिमन्तेज्जा। एगं आउसो अप्पणा भुंजाहि एगं थेराणं दलयाहि सेयं तं पिण्डं पडिग्गाहेज्जा थेरायसे अणुगवेसियव्वासिया जत्थेव अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तत्थेवाणुप्पदायव्वे सिया नो चेवणं अणुवेसमाणे थेरे पासिज्जा तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अन्नेसिं दावए एगंते अणावाए अचित्ते बहु फासुए थण्डिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठावे सिया"

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

अर्थ —

गृहस्थके घर पर भिक्षार्थ गए हुए साधुको कोई गृहस्थ दो पिण्ड (लड्डू) लाकर देवे और कहे कि "हे आयुष्मन् श्रमण! इनमेंसे एक पिण्ड तो आप स्वयं खा लेना और दूसरा स्थविरको देना" तो साधु उन दोनों पिण्डोंको लेकर स्थविरकी गवेषणा करे जहां स्थविरको देखे वहां जाकर वह पिण्ड उसे दे देवे। यदि ढूंढनेपर भी स्थविर न मिले तो वह पिण्ड साधु स्वयं न खावे और दूसरे किसी साधुको भी न देवे किन्तु एकान्त बहु प्रासुक स्थानपर पूंज और पडिलेहन करके परठ देवे। यह इस पाठका अर्थ है।

इसमें कहा है कि "स्थविरको दानार्थ गृहस्थसे मिला हुआ पिण्ड, स्थविरके न मिलनेपर साधु किसी दूसरे साधुको न देवे" तुम्हारे हिसाबसे साधुको देनेमें भी पाप कहना चाहिये क्योंकि स्थविरको देनेके लिए मिला हुआ पिण्ड, किसी साधुको भी साधु नहीं देता। यदि कहो कि वह पिण्ड, साधुने स्थविरको देनेकी प्रतिज्ञास लिया है इसलिए वही वह दूसरे साधुको नहीं देता लेकिन साधुको देनेमें पाप नहीं है तो इसी

तरह साधुने अपना और अपने साम्भोगिक साधुको खानेके लिये भिक्षा ग्रहण की है दूसरे किसीको देनेके लिये नहीं इसलिये वह अपना भिक्षान्न किसी गृहस्थ या अन्य तीर्थीको नहीं देता परन्तु गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप नहीं है अतः गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिए ।

(बोल ३० वां समाप्त)

(प्रेरक)

साधुसे इतरको दान देनेसे पुण्यबन्ध होना यदि कहीं मूल पाठमें लिखा हो तो उसे बतलाइए ?

(प्ररूपक)

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देना पुण्यका कारण है यह दशवैकालिक सूत्रमें लिखा है वह गाथा यह है —

" असण पाणगवावि खाइम साइम तहा
ज जाणिज्ज सुणिज्जाया पुणट्ठा पगड इमं
त भवे भत्तपाण तु स जयाण अकप्पिय
दितिय पडियाइक्खे नमे कप्पइ तारिस "

(दशवैकालिक सूत्र अ० ५ उ० १ गाथा ४९-५०)

अर्थ —

भिक्षार्थीक निमित्त गया हुआ साधु यदि यह जाने या सुने कि यह अशन पान आदि और स्वाद्य पुण्यार्थ बनाया गया है तो उसे अपने लिए अकल्पनीय समझे । वह अन्न यदि कोई देवे तो साधु न लेवे और पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न मुझको नहीं कल्पता यह कह दे ।

इन गाथाओंमें साधुसे इतरको देनेके लिये बनाये हुए अन्नको " पुण्यार्थ " कहा गया है । यदि साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो इस पाठमें वह अन्न " पापार्थ प्रकृत " कहा जाता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानका परिणाम है । जिसके पासमें साधुसे इतरको देनेके लिये अन्न बनाया गया है टीकाकारने इसे स्पष्ट कहा है । वह टीका यह है "पुण्यार्थं प्रकृतं परित्याग निवृत्तं वस्तु यो भिक्षुका अवसृष्टमेव शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाक प्रवृत्तेः "

टीकाकारने पुण्यार्थ प्रकृत अन्नको स्पष्ट करनेके लिये खुलासा करते हुए यह लिखा है कि " पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न यदि साधु नहीं लेता तो फिर वह किस होनेके

घरोंमें भिक्षा ले ही नहीं सकता क्योंकि उन लोगोंकी पुण्यार्थ ही पाकमें प्रवृत्ति होती है' इसका समाधान आगे दिया गया है लेकिन अनुपयोगी होनेसे यहां नहीं लिखा गया है। यहां टीकाकारने साधुसे इतरको दान देनेके लिये जिनके घरमें अन्न पकाया जाता है उन लोगोंको कहा है एकान्त पापी नहीं कहा इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से इतरको दान देना एकान्त पाप नहीं है उसमें पुण्य भी होता है। अतः साधुसे इतर दीन हीन दुःखी जीवपर दया लाकर दान देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिये।

(बोल ३१)

(प्रेरक)

श्रावकोंकी सेवा भक्ति और दान सम्मान करनेका विधान यदि कहीं मूल पाठमें किया हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ के मूल पाठमें श्रावकोंकी सेवा भक्ति करनेका स्पष्ट विधान किया है। वह पाठ अर्थके साथ लिखा जाता है।

"तहारूवेण भन्ते ! समण वा माहन वा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा ? णाण फले सेण भन्ते ! णाणे किं फले विण्णाण फले सेण भन्ते ! विण्णाणे किंफले पच्चक्खाणफले सेण भन्ते ! पच्चक्खाणे किं फले सञ्जम फले सेण भन्ते ! सञ्जमे किं फले अणण्हय फले एव अणण्हए तवफले, तवेवोदाणे फले, वोदाणे अकिरिया फले सेण भन्ते ! अकिरिया किं फला सिद्धि पज्जव साण फला पण्णत्ता गोयमा !"

(भग० श० २ उ० ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! तथा रूपके श्रमण (साधु) और माहन (श्रावक) की सेवा करनेका क्या फल है ?

(उत्तर) हे गौतम ! तथारूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेका शास्त्र श्रवण फल है। और शास्त्रके श्रवण करनेका पदार्थ ज्ञान फल है इसी तरह पदार्थ ज्ञानका

फल विज्ञान, विज्ञानका फल प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानका फल संयम, संयमका फल आस्रवोंका निरोध, आस्रव निरोधका फल तप, तपका फल कर्मों का क्षय, कर्म क्षयका फल क्रियाका अभाव और क्रियाके अभावका फल मोक्षकी प्राप्ति है।

यह इस पाठका अर्थ है।

इस पाठमें जैसे तथारूपक श्रमण की सेवा करनेका फल शास्त्र श्रवण लेकर मोक्षकी प्राप्ति तक कहा है उसी तरह माहन (श्रावक) की सेवाका फल भी कहा है अतः श्रावककी सेवा भी शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्य्यन्त फल देने वाली है यदि कोई कहे कि "इस पाठमें श्रमण और माहनकी सेवाका फल कहा गया है श्रावककी सेवा का फल नहीं कहा है" तो उसे कहना चाहिये कि "श्रमण" नाम साधुका और "माहन" नाम श्रावकका है इसलिये इस पाठमें साधु और श्रावक दोनोंकी सेवाका फल कहा है। इस पाठकी टीकामें टीकाकारने "माहन" शब्दका अर्थ श्रावक किया है वह टीका यह है—"श्रमणः साधुःमाहनः श्रावकः" अर्थात् "श्रमण" नाम साधुका और "माहन" नाम श्रावकका है अतः माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेमें कोई संशय नहीं है। इस टीकाके सिवाय दूसरे स्थलकी टीकाओंमें भी "माहन" शब्द का श्रावक अर्थ किया है। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ में मूल पाठ आया है कि "तहारूवस्स समणस्स माहणस्सवा अन्तिए एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा"

इस पाठमें आये हुए माहन शब्दका टीकाकारने श्रावक अर्थ ही किया है वह टीका यह है—

"माहनेत्येव मादिशति स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्त त्वाद्यः स माहनः"

अर्थात् जो स्वयं स्थूल प्राणातिपात आदिसे निवृत्त होकर दूसरको न मारनेका उपदेश देता है वह "माहन" कहलाता है। वह पुरुष श्रावक है क्योंकि जो स्थूल प्राणातिपातसे निवृत्त है वही श्रावक है। उस श्रावककी सेवा करनेका फल शास्त्र श्रवण से लेकर मोक्ष पर्य्यन्त कहा है इस लिए श्रावकको अन्नादि द्वारा सेवा करनेमें एकान्त पाप बतलाना कसूत्र वादियोंका कार्य्य है। कई जीवोंने श्रावकके धर्मोपदेशसे कल्याण का लाभ किया है। जितशत्रु राजाने सुबुद्धि नामक श्रावकके धर्मोपदेशसे कल्याण और परदेशी राजाने चित्त सारथिके उपदेशसे कल्याणका लाभ किया था, उस श्रावकको कुपात्र कहना और उसकी भक्तिको एकान्त पापमें ठहराना कितना अन्याय है यह सभी बुद्धिमान समझ सकते हैं।

बोल ३२ वां समाप्त

(प्ररूपक)

ठाणांग सूत्रके दशवें ठाणामें प्रवचनकी वत्सलतासे भविष्यमें कल्याण, होना बताया है। टीकाकारने प्रवचन वत्सलताका अर्थ यह किया है—

"प्रकृष्ट प्रशस्तं प्रगतं वा वचनम् आगम प्रवचनं द्वादशाङ्ग तदाधारो वा संघ तस्य च मलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचनवत्सलता तया"

अर्थात् सबसे उत्तम आगमको प्रवचन कहते हैं वह प्रवचन, द्वादशाङ्ग है अथवा उस द्वादशाङ्गके आधारभूत साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंको प्रवचन कहते हैं उसके विघ्न आदिको हटा कर हित संपादन करना "प्रवचन वत्सलता" है इससे जीव को भविष्यमें कल्याण प्राप्त होता है।

यहां साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंका इकट्ठा ही हित करना भावी कल्याणका कारण कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु साध्वी की तरह श्रावक और श्राविकाओंका हित करना भी भारी कल्याणका कारण है। इससे चतुर्विध संघकी रक्षा होती है जो कि शासन रक्षार्थ परमावश्यक है अतएव उत्तराध्ययन सूत्र २८ वें अध्ययनमें अपने सहधर्मी भाईका आहार पानीके द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्व का आचार कहा गया है वह पाठ यह है —

"निस्संकिय निक्कंखिय निवित्तिगिच्छ अमूढदिट्ठीय। उववूह थिरीकरणे वच्छल्लपभावणेऽट्ठ ते"

(उत्तराध्ययन अ० २८)

अर्थ —

(१) सर्वज्ञभाषित शास्त्रमें संदेह या संशय दोष न करना (२) सर्वज्ञभाषित शासन भिन्न शासनकी इच्छा न करना। (३) साधुओंकी निन्दा और सेवक कर्ममें संदेह न करना (४) कुमार्गी का धनवान देख कर उसके धर्मको अच्छा और अपने धर्मको बुरा न समझना। (५) ज्ञान दर्शन सम्पन्न पुरुषकी प्रशंसा करना। (६) धर्माचरण करनेमें कष्ट पाते हुए पुरुष को धर्ममें स्थिर करना। (७) अपने सहधर्मी भाईका भात पानी आदिसे उचित सत्कार करना (८) अपने धर्मकी उन्नतिके लिए सदा चेष्टा करना। ये आठ समकितके आचार हैं।

इस उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथामें सहधर्मी भाईको भात पानी आदिके द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्वका आचार पालन करना कहा है इस लिये श्रावककी भात पानीके द्वारा सेवा करना एकान्त पाप नहीं किन्तु समकितका आचार पालन करना है इसे एकान्त पाप बताना मूर्खोंका काम है। कोई कहते हैं 'सहधर्मी' शब्द साधुका है श्रावकका नहीं इस लिये साधुको भात पानी आदिके द्वारा उचित सत्कार करना ही 'सहधर्मि वत्सलता' है श्रावकका सत्कार करना नहीं जैसे कि जीतमलजीने लिखा है—

फल विज्ञान, विज्ञानका फल प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानका फल संयम, संयमका फल आस्रवोंका निरोध, आस्रव निरोधका फल तप, तपका फल कर्मों का क्षय, कर्म क्षयका फल क्रियाका अभाव और क्रियाके अभावका फल मोक्षकी प्राप्ति है।

यह इस पाठका अर्थ है।

इस पाठमें जैसे तथारूपके श्रमण की सेवा करनेका फल शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्षकी प्राप्ति तक कहा है उसी तरह माहन (श्रावक) की सेवाका फल भी कहा है अतः श्रावककी सेवा भी शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्यन्त फल देने वाला है यदि कोई कहे कि "इस पाठमें श्रमण और माहनकी सेवाका फल कहा गया है श्रावककी सेवा का फल नहीं कहा है" तो उसे कहना चाहिये कि "श्रमण" नाम साधुका और "माहन" नाम श्रावकका है इसलिये इस पाठमें साधु और श्रावक दोनोंकी सेवाका फल कहा है। इस पाठकी टीकामें टीकाकारने "माहन" शब्दका अर्थ श्रावक किया है वह टीका यह है—"श्रमणः साधुः माहनः श्रावकः" अर्थात् "श्रमण" नाम साधुका और "माहन" नाम श्रावकका है अतः माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेमें कोई संशय नहीं है। इस टीकाके सिवाय दूसरे स्थलकी टीकाओंमें भी "माहन" शब्द का श्रावक अर्थ किया है। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ में मूल पाठ आता है कि "तहारूवस्स समणस्स माहणस्सवा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा"

इस पाठमें आये हुए माहन शब्दका टीकाकारने श्रावक अर्थ ही किया है वह टीका यह है—

"माहन इत्येव मादिशति स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्त त्वाद्यः स माहनः"

अर्थात् जो स्वयं स्थूल प्राणातिपात आदिसे निवृत्त होकर दूसरेको न मारनेका उपदेश देता है वह "माहन" कहलाता है। वह पुरुष श्रावक है क्योंकि जो स्थूल प्राणातिपातसे निवृत्त है वही श्रावक है। उस श्रावककी सेवा करनेका फल शास्त्र श्रवण से लेकर मोक्ष पर्यन्त कहा है इस लिए श्रावकको अन्नादि द्वारा सेवा करनेमें एकान्त पाप बतलाना वस्तुतः वादियोंका कार्य्य है। कई जीवोंने श्रावकके धर्मोपदेशसे सम्यक्त्व का लाभ किया है। चित्रसारथी राजाने सुबुद्धि नामक श्रावकके धर्मोपदेशसे सम्यक्त्व और बारह व्रतका भी लाभ किया था, उस श्रावकको कुपात्र कहना और उसकी सेवा भक्तिको एकान्त पापमें ठहराना कितना अन्याय है यह सभी बुद्धिमान समझ सकते हैं।

बोल ३२ वां समाप्त

(प्रश्नकर्ता)

ठाणांग सूत्रके दशवें ठाणामें प्रवचनकी वत्सलतासे भविष्यमें कल्याण होना बतलाया है। टीकाकारने प्रवचन वत्सलताका अर्थ यह किया है—

"प्रकृष्ट प्रशस्त प्रगत वा वचनम् आगम प्रवचनं द्वादशाङ्ग तदाधारोवा संघ तस्य वत्सलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचनवत्सलता तया"

अर्थात् सबसे उत्तम आगमको प्रवचन कहते हैं वह प्रवचन, द्वादशाङ्ग है अथवा उस द्वादशाङ्गके आधारभूत साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंको प्रवचन कहते हैं उनके विघ्न आदिको हटा कर हित संपादन करना "प्रवचन वत्सलता" है इससे जीव को भविष्यमें कल्याण प्राप्त होता है।

यहां साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंका इकट्ठा ही हित करना भावी कल्याणका कारण कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु साध्वी की तरह श्रावक और श्राविकाओंका हित करना भी भावी कल्याणका कारण है। इससे चतुर्विध संघकी रक्षा होती है जो कि शासन रक्षार्थ परमावश्यक है अतएव उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमें अपने सद्धर्मी भाईका आहार पानीके द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्व का आचार कहा गया है वह पाठ यह है —

"निस्सङ्किय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीय। उववूह थिरी करणे वच्छल्लप्पभावणेऽट्ठ ते"

(उत्तराध्यन अ० २८)

अर्थ —

(१) सर्वज्ञभाषित शास्त्रमें दर्शन या स्वयं शंका न करना (२) सर्वज्ञभाषित शास्त्रसे भिन्न शास्त्रकी इच्छा न करना। (३) साधुओंकी निन्दा और तपके फलमें सन्देह न करना (४) कुतार्थी का धनठाठ देख कर उसके धर्मको श्रेष्ठ और अपने धर्मको बुरा न मानना। (५) ज्ञान दर्शन सम्पन्न पुरुषकी प्रशंसा करना। (६) धर्माचरण करनेमें कष्ट पाते हुए पुरुष का धर्ममें स्थिर करना। (७) अपने सहधर्मी भाइका भात पानी आदिसे उचित सत्कार करना (८) अपने धर्मकी उन्नतिके लिये सदा चेष्टा करना। ये आठ समकितके आचार हैं।

इस उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथामें सहधर्मी भाईका भात पानी आदिके द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्वका आचार पालन करना कहा है इस लिये श्रावककी भात पानीके द्वारा सेवा करना एकान्त पाप नहीं किन्तु समकितका आचार पालन करना है इसे एकान्त पाप बताना मूर्खोंका कार्य्य है। कोई कहते हैं 'सहधर्मी' नाम साधुका है श्रावकका नहीं इस लिये साधुको भात पानी आदिके द्वारा उचित सत्कार करना ही 'सद्धर्मि वत्सलता' है श्रावकका सत्कार करना नहीं जैसे कि भीतमलजीने लिखा है—

सार्धमिक होते हैं । च चतुर्विध संघमें माने जाते हैं इस लिये प्रवचनसे सार्धमिक हैं परन्तु लिङ्गसे नहीं क्योंकि रजो हरण और मुख वस्त्रिका उनके नहीं हैं। यह उक्त टीका का अर्थ है।

यहां टीकाकारने प्रवचन द्वारा श्रावकको सार्धमिक कहा है इस लिये श्रावक भी श्रावकका सार्धमिक है अत उसकी वत्सलता करना प्रवचन वत्सलता रूप सम्यक्त्व का आचार पालन करना है एकान्त पाप नहीं इसलिये श्रावककी वत्सलता करनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध और एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ३३ वा समाप्त)

(प्ररूपक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १में अपनत अनु सद्धर्मी भाइको भोजन देना, पोषध धर्मकी पुष्टिमें माना है वह पाठ यह है —

"तएणं अम्हे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसादे माणा विस्साएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो"

(भगवती शतक १२ उ० १)

अर्थ —

शंख श्रावकने कहा कि हे दयालु प्रिय ! आप, विपुल असन पान खाद्य और स्वाद्य तैयार कराव हम लोग अशनादि चतुर्विध आहार खाकर पोषध करेंगे।

यहां अपने सद्धर्मीभाइको भोजन कराना पोषध धर्मकी पुष्टिमें माना है इस लिये श्रावकको भोजनादि देकर धर्ममें उसकी श्रद्धा बढ़ाना एकान्त पाप नहीं किन्तु पोषध धर्मकी पुष्टि है।

यदि कोई कहे कि पोषधमें आहार त्याग करनेका विधान किया गया है फिर यहां आहार खाकर पोषध करना कैसे कहा गया ? तो इस आशंकाका समाधान देते हुए टीकाकार यह लिखते हैं —

"इह किल पोषधं पर्व दिनानुष्ठानम् तच्च द्वेधा इष्टजनभोजनदानादिरूप माहार पोषधञ्च तत्र शंख इष्ट जन भोजनदानादिरूपं पोषधं कर्तुकाम यदुक्तवांस्तद्दर्शयन्नाह मुक्तम्

अर्थ —

पर्वके दिन धर्मानुष्ठान करना पोषध कहलाता है वह दो प्रकारका है अपने इष्ट जनको भोजन देना और आहारका त्याग करना। इनमें इष्ट जनको भोजन देने रूप पोषधका अनुष्ठान करने के लिये जो शंखने कहा था उसे दिखलानेके लिये यह पाठ आया है।

यहां मूलपाठ और उसकी टीकामें इष्ट जनको भोजन देना पोषध धर्मकी पुष्टिमें कहा गया है इस लिये श्रावकको भोजनादि देकर पोषध धर्मकी पुष्टि करनेमें एकान्त पाप बतलाना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य्य है।

जीतमलजीने प्रश्नोत्तर सार्ध शतकके ५८ वें प्रश्नोत्तरमें लिखा है — "भगवती शतक १२ उद्देशा पहले शंख पोखली कयो जीमिने पोसह करस्यां ते किम् इति प्रश्न ?

(उत्तर) भगवती शतक ७ उद्देशा २ बारह व्रतांमें एग्यारहवा व्रतरो नाम "पोसह उपवास" कह्यो ते माटे जीमिने पांच आस्रवना त्याग ते धर्मनी पुष्टि माटे पोसह कह्यो ते व्रत दशमो छै पिण ग्यारमो नहीं।"

यहां जीतमलजीने भगवती शतक १२ उद्देशा पहलेका अभिप्राय बतलाते हुए भोजन करके पांच आस्रवका त्याग करनेको धर्मकी पुष्टिमें कहा है इस लिये अपने सहधर्मी भाईको पांच आस्रवका त्याग करानेके लिये भोजन देनेसे एकान्त पाप कहना इनका अपने कथनसे ही विरुद्ध भाषण समझना चाहिये।

(बोल ३४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्र० पृ० १०४ के ऊपर ११ वीं पडिमाधारी श्रावकको भोजन देनेमें एकान्त पापकी स्थापना करते हुए लिखते हैं —

"वतलो एक वली प्रश्न पूछे जे पडिमाधारी श्रावकने दियां काई हुवे ? तेहनो उत्तर पडिमाधारी पिण देश व्रती छै तेहनें जेतला जेतला त्याग ते तो व्रत छै अने चार सूझता आहार नो आगार अव्रत छै ते अव्रत सेवावे ते पडिमाधारी तेहने धर्म नहीं तो जे अव्रत सेवावा वाला ने धर्म किम हुवे । गृहस्थरा ज्ञान साधु अनुमोदे तो प्रायश्चित आवे तो पडिमाधारी श्रावक पिण गृहस्थ छै तेहना ज्ञान अनुमोदियां पिण पाप हुवे तो देवा वाला ने धर्म किम हुवे'

इसका क्या समाधान ? (भ्र० पृ० १०४)

(प्रश्नक)

ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करने वाला श्रावक, अठारह पापोंका सम्पूर्ण रूपसे त्याग किया हुआ, दशविध यति धर्मो का अनुष्ठान करने वाला बिल्कुल साधुके सदृश होता है। यह बड़ा ही पवित्रात्मा और सुपात्र है अतएव शास्त्रमें इसे श्रमणभूत यानी साधुके सदृश कहा है। इसका आचार विचार बिल्कुल साधुके सदृश होता है अतः इस भाजन देनेसे एकान्त पाप होनेकी बात मिथ्या है। ११ वीं प्रतिमाधारीको सूझता आहार देना, यदि एकान्त पापका कार्य्य है तो तीर्थंकर देवने इसे सूझता आहार लेनेका विधान क्यों किया है ? क्योंकि एकान्त पापमय कार्यका विधान तीर्थंकर नहीं करते उसका निषेध करते हैं अतः ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकको सूझता आहार लेना और उसे सूझता आहार देना दोनों ही धर्मके कार्य्य हैं एकान्त पापके नहीं।

कई आदमी, यह भी कहते हैं कि "११ प्रतिमाओंका विधान, तीर्थंकरने नहीं किया है किन्तु ये प्रतिमायें श्रावकोंके कपोल कल्पित हैं" उन्हें मिथ्यावादी जानना चाहिये ये ११ प्रकारकी प्रतिमाएं तीर्थंकरसे विधान की गई हैं श्रावकोंके कपोल कल्पित नहीं हैं।

इस विषयमें दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रका मूलपाठ प्रमाण है वह पाठ यह है —

"सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खाइं इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं एग्गारस उवासग पडिमाओ पण्णत्ताओ"

(दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र अ० ६)

अर्थ —

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीसे कहते हैं कि हे आयुष्मन् ! इस जिन शासनमें स्थविर भगवन्तोंने जिस प्रकार श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमायें बतलाई हैं उसी तरह तीर्थंकर भगवान्ने भी कहा हैं यह मैंने सुना है।

इस पाठमें ११ प्रतिमाओंका भी तीर्थङ्कर देवसे विधान किया जाना कहा है अतः इन्हें श्रावकोंके कपोल कल्पित बतलाना एकान्त मिथ्या है।

आनन्द श्रावकने कहा है कि 'मैंने शास्त्रानुसार और कल्पानुसार इन प्रतिमाओं का आचार पालन किया है यह पाठ यह है —

"तएणं से आणंदे समणोवासए उवासग पडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। पढमं उवासग पडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहा मग्गं अहा तच्चं सम्मं काएणं फासेइ पालेइ सोहेइ तिरेइ कित्तेइ आराहेइ"

(उपासक दशांग अ० १)

और दशविध यति धर्मका अनुष्ठान करना आदि भगवानकी आज्ञामें है परन्तु साधुके समान वेष बनाना निर्दोष आहार लेना भाण्डोपकरण रखना इत्यादि कार्य वीतरागकी आज्ञामें नहीं है इन कार्य्यों को ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावक अपनी इच्छासे करता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीका साधुके समान वेष बनाना, भाण्डोपकरण रखना, और पारणेके दिन सूझता आहार लेना यह सब एकान्त पापमें है धर्म या पुण्य नहीं है। इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकके लिये दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें साधुके समान वेष बनाना, धार्मिक भाण्डोपकरण रखना और पारणेके दिन सूझता आहार लेना, ये सब विधान किये गये हैं उस विधानके अनुसार ही ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक साधुके समान वेष बनाता है, भाण्डोपकरण रखता है और पारणेके दिन सूझता आहार लेता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीके ये सब कार्य्य वीतरागकी आज्ञामें हैं अपनी इच्छासे नहीं हैं इसलिये इन कार्योंमें एकान्त पाप कहना मिथ्यावादियोंका कार्य्य है। सातवीं प्रतिमामें जो आरम्भका त्याग नहीं होता उसका दृष्टान्त देकर ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखने आदिको आज्ञा बाहर कहना भी अज्ञान है क्योंकि सातवीं प्रतिमामें आरम्भ करने का विधान शास्त्रने नहीं किया गया है इसलिये सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ करना अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं परन्तु ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखना साधुके समान वेष बनाना और पारणेके दिन सूझता आहार लेना शास्त्रकी आज्ञानुसार है अपनी इच्छासे नहीं अतः यह सब आरम्भके समान एकान्त पापमें नहीं है। सातवीं प्रतिमामें "आरम्भ अपरिण्णाते भवति" यह पाठ आया है इसका अर्थ यह है कि "सातवीं प्रतिमाधारी आरम्भ नहीं छोड़ता किन्तु आरम्भ करता है" यह पाठ सातवीं प्रतिमाधारीको आरम्भ करनेका विधान नहीं करता किन्तु अनुवाद करता है। यदि विधान करता तो वहां यह कहा जाता कि "सातवीं प्रतिमामें श्रावकको आरम्भ करना चाहिये" अतः सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं और वह आरम्भ [illegible] [illegible] उस धर्ममें मौजूद है परन्तु ११ वीं प्रतिमामें साधुके समान वेष बनाना धार्मिक भाण्डोपकरण रखना पारणेके दिन सूझता आहार लेना यह सब शास्त्रमें विधान किये गये हैं और उस विधानके अनुसार ही ११ वीं प्रतिमाधारी इन कार्योंको करता है और ये सब कार्य [illegible] [illegible] मौजूद भी नहीं है किन्तु ११ वीं प्रतिमामें [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की जाती है अतः [illegible] [illegible] [illegible] ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकके साधु समान वेष बनाने, भाण्डोपकरण

रहना, पारणेके दिन सूजता आहार एने आदिको पापम बताना मिथ्यावादियों का काम्य है।

(बोल ३६ वा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १०९ के ऊपर लिखते हैं "तिवारे कोई एक कहे जो पडिमाधारीने दियां धर्म न हुवे तो दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रमें इम क्यूं कह्यो जे पडिमाधारी न्यातीले घर घर भिक्षाने अर्थ जाय तिहां पहिला ऊतरी दाल अने पछे ऊतरथा चावल तो कल्प पडिमाधारीने दाल लेणी न कल्प चावल लेणा" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं—"इम कहे तेहनो उत्तर ए कल्पनाम आज्ञानो नहीं छै ए कल्पनाम तो आचारनो छै पडिमाधारीने अहवो आचार कल्पनो हुन्तो ते बतायो पिण आज्ञा नहीं दी थी इम जो आज्ञा हुवे तो अम्बडने अधिकारे पिण एहवो कह्यो" इत्यादि लिख कर अम्बड सन्यासीके विषयमें आया हुआ पाठ लिख कर उसके दृष्टान्तसे ११ वीं प्रतिमाधारीके आचारको आज्ञा बाहर सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अम्बड संन्यासी तथा दूसरे परिव्राजकके अधिकारमें जो "कल्प" शब्द आया है वह परिव्राजकोंके शास्त्रका कल्प है वीतरागकी आज्ञाका कल्प नहीं है तथा वरुण नाग नत्तुयाके अधिकारमें जो यह कहा है कि "जो मुझे पहिले बाण मारेगा उसीको मैं भी बाण मारूंगा" यह कल्प भी तीर्थंकर की आज्ञाका नहीं किन्तु वरुण नागनत्तुया की इच्छाका कल्प है परन्तु प्रतिमाधारीके अधिकारमें जो कल्प शब्द आया है वह तीर्थङ्करका विधान किया हुआ कल्प है प्रतिमाधारियोंकी इच्छाका कल्प नहीं है क्योंकि दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें प्रतिमाधारीके कल्पका तीर्थङ्कर और गणधरोंसे विधान किया जाना लिखा है। वह पाठ यह है —

"सुयमे आउस ! तेण भगवया एव मक्खाइं इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं एगारस उवासग पडिमाओ पन्नत्ताओ"

अर्थात् हे आयुष्मन् ! स्थविर भगवन्तोंने जिस प्रकार श्रावकोंकी ११ प्रतिमायें कही हैं उसी तरह तीर्थंकरने भी कही हैं यह मैंने सुना है।

इस पाठमें ११ प्रकारकी प्रतिमाओंका आचार तीर्थङ्कर और गणधरोंसे कहा हुआ कहा है इसलिये ११ वीं प्रतिमाधारीका कल्प तीर्थंकर बोधित है अपनी इच्छाका कल्प

"इत्याहारकशरीर संयमवतामेव भवति तत्र चाविरतेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणत्व मवसेयम्'

अर्थात् आहारक शरीर संयमधारीका ही होता है उस संयमधारीमें यद्यपि अविरति नहीं है तथापि प्रमादके कारण उसे अधिकरण समझना चाहिये। तथा ठाणाङ्ग सूत्रके दसवें ठाणेमें अशुभ मन वचन और कायको भाव शस्त्र कहा है और प्रमादकी हालतमें प्रमादी साधुके भी मन वचन और काय अशुभ होते हैं। तथा भगवती शतक १ उद्देशा १ में प्रमादी साधुको आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी कहा है वह पाठ यह है—

"तत्थण जेते पमत्त संजया ते सुहजोग पडुच्च णो आयारंभा णो परारंभा णो तदुभयारंभा अणारंभा चे व असुभजोग पडुच्च आयारंभावि परारंभावि तदुभयारंभावि णो अणारंभा"

(भगवती शतक १ उद्देशा १)

अर्थ—

प्रमादी साधु शुभयोगकी अपेक्षासे आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी नहीं है किन्तु अनारम्भी है परन्तु अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी है अनारंभी नहीं है।

इस पाठमें प्रमादी साधुको अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारम्भी परारंभी और तदुभयारंभी कहा है और पूर्वलिखित भगवतीके पाठमें प्रमादी साधुकी आत्माको अधिकरण कहा है एवं ठाणाङ्ग सूत्रके दशम ठाणेमें दुष्प्रयुक्त मन वचन और कायको भाव शस्त्र कहा है अतः प्रमादी साधुको अन्नादि दान देना भी भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे शस्त्रको ही तीखा करना कहना चाहिये धर्म या पुण्य नहीं। यदि कहो कि "प्रमादी साधुको उसके प्रमादकी वृद्धिके लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देना शस्त्र को तीखा करना नहीं है" तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावकको उसके दोषोंकी वृद्धिके लिये आहारादि नहीं दिया जाता उसके व्रतकी पुष्टिके लिये दिया जाता है अतः श्रावकको व्रत पुण्यार्थ दान देना भी एकान्त पाप या शस्त्रको तीखा करना नहीं है। इसे एकान्त पाप या शस्त्रको तीखा करना बतलाने वाले मिथ्यावादी हैं।

सामायक और पोषाके समय श्रावक, अपने धर्मका पालन करनेके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं उन उपकरणोंको एकान्त पापमें बताना पापियोंका कार्य्य है। बिना पूंजे पौषधोपवास करनेसे श्रावकको अतिचार होना उपासकदशाङ्ग सूत्रके

नहीं है अत प्रतिमाधारीके कल्पको ऐच्छिक कायम करके वीतरागकी आज्ञासे उसे बाहर बनाना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल ३७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११५ के उपर भगवती शतक ७ उद्देशा १ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं "अथ इहा पिण सामायक श्रावकरी आत्मा अधिकरण कही छै। अधिकरण ते छ कायरो शस्त्र जाणवो ते मांहे सामायक पोषामें तेहनी काया शस्त्र छै। ते शस्त्र तीखा किया धर्म नहीं। वली ठाणाङ्ग ठाणे दश अव्रतने भाव शस्त्र कह्यो छै ते सामायकमें पिण वस्त्र गहणा पूंजणी आदिक उपकरण अने काया ए सर्व अव्रत छै तहना यत्न किया धर्म नहीं" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा १ में जैसे श्रावककी आत्मा अधिकरण कही है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा १ में साधुकी आत्मा भी अधिकरणी कही गई है वह पाठ यह है —

"जीवेण भन्ते ! आहारग सरीर निवत्तिण्माणे किं अहिगरणी अधिकरण वा पुच्छा ? गोयमा ! अधिकरणीवि अधिकरण वि। सेकेणट्ठेण जाव अधिकरणवि। गोयमा ! पमादं पडुच्च सेतेणट्ठेणं जाव अधिकरणवि"

(भगवती शतक १६ उ० १)

अर्थ—

(प्रश्न) हे भगवन् ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, क्या अधिकरणी होता है या अधिकरण होता है ?

(उत्तर) हे गौतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी होता है।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गौतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, प्रमादकी अपेक्षासे अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी होता है।

इस मूलपाठमें प्रमादी साधुकी आत्माको प्रमादकी अपेक्षा अधिकरणी, और अधिकरण कहा है और इस पाठकी टीकामें भी यही बात कही है वह टीका यह है —

मूलपाठमें कहा है अत अपने अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिए श्रावक पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं किसी दूसरे आरम्भादिक कार्य्यके लिये नहीं।

उपासक दशांग सूत्रका वह मूलपाठ यह है —

"तयाण तर चण पोसहोववासस्स समणोवासएण पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तजहा—अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जा सत्थारे, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जा सत्थारे, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चार पासवण भूमि, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि पोसहोववासस्स सम अणणुपालना"

(उपासक दशांग सूत्र)

अर्थ —

श्रमणोपासकको पौषधोपवास व्रतके पांच अतिचार जानने चाहिये और उनका आचरण न करना चाहिये व अतिचार ये हैं —(१) शय्या संथाराका प्रतिलेखन न करना, या ठीक ठीक प्रतिलेखन न करना (२) शय्या संथाराको पूजनी आदिसे न पूजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूजना। (३) उच्चार पासवण भूमिका प्रतिलेखन नहीं करना, अथवा अच्छी तरहसे प्रतिलेखन नहीं करना। (४) उच्चार पासवण भूमिको पूजनी आदिसे न पूजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूजना। (५) पौषधोपवास व्रतका विधिवत् पालन नहीं करना।

ये पांच पौषधोपवास व्रतके अतिचार हैं इन अतिचारोंको वर्जित करना आवश्यक है अत श्रावक, पौषधोपवासके समय पूजनके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं। यदि पौषधोपवासमें श्रावक पूजनी न रक्खे तो शय्या संथारा और उच्चार पासवण भूमिका पूजन नहीं हो सकता और उनका पूजन हुए बिना श्रावकके व्रतमें अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये श्रावक पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अत श्रावकके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानियोंका कार्य है। ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावक, जो मुख वस्त्रिका, ओघा पात्रादि धर्मोपकरण रखते हैं वह भी अपने व्रतका पालन करनेके लिये रखते हैं किसी दूसरे स्वार्थसे नहीं अत उनका ओघा पात्रादि धर्मोपकरण रखना धर्मका उपकारक और उनके व्रतका अङ्गभूत है उसे एकान्त पापमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रके मूलपाठमें ग्यारहवीं पडिमाधारी श्रावकको सभी धर्मोपकरणोंके रखनेका विधान किया है वह पाठ यह है —

"उ खसिरए गहियायार भंडगनेवत्था जारिसे समणाण निग्गथाणं धम्मे तं धम्मं कारण फास माणे पाठ माणे" अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकको शिरका लोच

करके गुच्छ वस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरण साधुके आचार पालनार्थ रखने चाहिये और साधुके तुल्य वेष बना कर श्रमण निर्ग्रन्थोंके धर्मको शरीरसे स्पर्श और पालन करते हुए विचरना चाहिये।

इस पाठमें ११ वीं प्रतिमाधारीको साधुके तुल्य आचार पालनार्थ धर्मोपकरण रखनेका विधान किया है और पौषधोपवासमें अतिचारको हटानेके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंकी आवश्यकता होती है अतः श्रावकके धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना कितनी विशाल मूर्खता है यह बुद्धिमान जीव स्वयं समझ सकते हैं।

(बोल ३८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११५ के ऊपर लिखते हैं "ए पूंजणी आदिक सामायकमें राखे ते अव्रतमें छै एतो सामायकमें शरीरनी रक्षा निमित्ते पूंजणी आदिक उपधि राखे छै ते पिण आपरी कषाय छै पर धर्म नहीं ते किम जे पूंजणी आदिक न राखे तो काया स्थिर राखणी पड़े अने कायास्थिर राखनेरी शक्ति नहीं मच्छरादिक ना फरस खमणी आवे नहीं ते माटे पूंजनी आदिक राखे मच्छरादिक पूंजी खाज करे ए तो शरीरनी रक्षा निमित्ते पूंजे धर्म हेतु नहीं जो पूंजणी बिना दया न पले तो अढाई द्वीप बारे असंख्याता तिर्यञ्च श्रावक छै सामायक व्रत पाले छै त्यारे पूंजणी रजोहरण नहीं जे दया रे अर्थे पूंजणी राखणी कहे त्यारे लेखे अढाई द्वीप बार श्रावकारे दया किम पले'

इसका क्या समाधान ? (भ्र० पृ० ११५ ११६)

(प्ररूपक)

पौषध व्रत करता हुआ श्रावक, अपने शरीरकी रक्षाके लिये नहीं किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रके पूर्वोक्त मूल पाठानुसार पूंजन किये बिना होने वाले अतिचारको दूर करनेके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरण रखता है। अतः पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन कायम करके उन्हें अव्रतमें या एकान्त पापमें स्थापन करना मिथ्या है।

पूंजनी अपनी शरीर रक्षाका कोई प्रधान साधन नहीं है इसके बिना भी शरीर रक्षा हो सकती है परन्तु इसके बिना पूंजन नहीं किया जा सकता और पूंजन किये बिना श्रावकके व्रतमें अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये पूंजनी रखना श्रावकके लिये आवश्यक होता है। जो लोग पूंजनीको शरीर रक्षाका साधन मान कर पौषध व्रत धारण करते हुए शरीर रक्षार्थ उसका ग्रहण किया जाना बतलाते हैं उनसे पूछना चाहिये कि क्या शरीर रक्षा करनेके लिये श्रावकको एक ढंडा भी रखना चाहिये क्योंकि दूसरे दुष्ट

जो लोग श्रावकोंके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन बतलाते हैं उनसे कहना चाहिये कि प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी तुम उनके शरीर रक्षाका साधन क्यों नहीं मानते ? यदि वे प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी उनके शरीर रक्षाका साधन मानें तो फिर उनके मतमें प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि उपकरण भी एकान्त पाप तथा अधर्म ही ठहरते हैं क्योंकि भगवतीजीके मूल पाठमें प्रमादी साधुको आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी कहा है तथा प्रमादी साधुकी आत्मा अधिकरण कही गई है इस लिये प्रमादी साधुके ओघा पात्रादिक भी तुम्हारे मतमें एकान्त पापमें ही ठहरते हैं। यदि कहो कि प्रमादी साधु, ओघा पात्रादि उपकरण प्रमादसे और अपने शरीर रक्षाके लिये नहीं किन्तु जीव रक्षा आदि धर्मको पालन करनेके लिये रखते हैं अतः उनके धर्मोपकरण एकान्त पापमें नहीं हैं तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावक पौषध व्रतमें दोष वा अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अपने शरीरकी वृद्धि तथा और किसी स्वार्थसे नहीं रखते अतः श्रावकके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पाप और अव्रतमें कायम करना अन्याय है।

यह बात दूसरी है कि साधु यदि धर्मोपकरणों पर मूर्छा ममता रक्खे और अयत्न पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उनको परिग्रह तथा आरम्भ दोष लगता है तथा श्रावक धर्मोपकरणोंपर मूर्छा ममता रक्खे और अयत्न पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको भी परिग्रह और आरम्भ होता है परन्तु यत्न पूर्वक उपकरणोंका व्यवहार करने और उनमें ममता मूर्छा नहीं रखने पर ये उपकरण धर्मके सहायक हैं आरम्भ तथा परिग्रहके हेतु नहीं हैं अतः इन्हें पापमें बताना मिथ्या है।

(बोल ३९)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११७ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ उद्देशा १ के मूल पाठका उदाहरण देकर लिखते हैं "अथ इहां चार व्यापार कह्या मन, वचन, काया, उपकरण, ए चारूं व्यापार सन्निपञ्चेन्द्रिय रे कह्या ए चारूं भुंडा व्यापार पिण १६ दण्डक सन्नीपञ्चेन्द्रिय रे कह्या अने ए चारूं भला व्यापार तो एक संयति मनुष्यने इज कह्या पिण और ने न कह्या तो जोवोनी साधुरा उपकरण तो भला व्यापार में घाल्या अने श्रावकरा पूंजनी आदि उपकरण भला व्यापारमें न घाल्या ते माटे पूंजनी आदिक श्रावक राखे ते सावद्य योग छै (भ्र० पृ० ११७)

साधन भी रखने चाहिये अतः पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंको अपनी शरीर रक्षाका साधन बतलाना मिथ्या है पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंके बिना जीवोंकी दया नहीं पाली जा सकती है इस लिये जीव रक्षार्थ श्रावक पूंजनी रखते हैं। इस विषयमें जीतमलजीने अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्यञ्च श्रावकोंका दृष्टान्त देकर पूंजनी रक्खे बिना भी जीव दयाका पालन हो सकना कहा है, वह मिथ्या है। अढाई द्वीपसे बाहर रहनेवाले तिर्य्यञ्च श्रावक, मनुष्य श्रावककी तरह श्रावकोंके बारह व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हों यह बात असम्भव है क्योंकि मनुष्य श्रावकोंकी तरह शरीरसे बारह व्रतों का स्पर्श और पालन करनेकी उनमें योग्यता नहीं है और शास्त्रमें भी कहीं यह नहीं कहा है कि "तिर्य्यञ्च श्रावक मनुष्य श्रावककी तरह श्रावकोंके बारह व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं" अतः अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावक, व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे बारह व्रतधारी माने जाते हैं शरीरसे स्पर्श और पालन करने से नहीं अतएव ज्ञाता सूत्रमें नन्दन मनिहारका जीव, मेडक भवमें बारह व्रत धारी कहा गया है। यदि मनुष्य श्रावकोंकी तरह बारह व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे तिर्य्यञ्च श्रावक बारह व्रत धारी होते तो नन्दन मनिहार का जीव मेडक भवमें कदापि बारह व्रतधारी नहीं कहा जाता क्योंकि मेडक योनिके जीवमें मुनिको दान देने रूप बारहवें व्रतका शरीरसे स्पर्श करनेकी योग्यता नहीं है तथा मेडक योनिके जीवमें, अन्नादि को सचित्त पदार्थ पर रखने और सचित्तसे ढकने पर जो अतिचार आता है उसके हटानेकी योग्यता भी नहीं है अतः तिर्य्यञ्च श्रावक कई व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे बारह व्रत धारी माने जाते हैं मनुष्य श्रावककी तरह सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श करनेसे नहीं। अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावक, मनुष्य श्रावककी तरह पौषध व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हों इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा कहीं मूल पाठमें भी यह नहीं कहा है कि "अमुक तिर्य्यञ्च श्रावकने पौषध व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन किया था" अतः तिर्य्यञ्च श्रावकोंके पास पूंजनी आदि धर्मोपकरण नहीं होने पर भी कोई क्षति नहीं है लेकिन मनुष्य श्रावक तो सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करता है इस लिये उसको पौषध व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंका अत्यन्त आवश्यकता है। [illegible] बिना पौषध व्रतका [illegible] [illegible] कि पूंजनी बिना [illegible] नहीं [illegible] अतः मनुष्य श्रावकोंका पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंका [illegible] अज्ञानमें [illegible] करना [illegible] विरोध [illegible] है। पूंजनी [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] लिखा है।

जो लोग श्रावकोंके पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन बतलाते हैं उनसे कहना चाहिये कि प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी तुम उनके शरीर रक्षाका साधन क्यों नहीं मानते ? यदि व प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी उनके शरीर रक्षाका साधन मानें तो फिर उनके मतमें प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि उपकरण भी एकान्त पाप तथा अधर्म ही ठहरते हैं क्योंकि भगवतीजीके मूल पाठमें प्रमादी साधुको आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी कहा है तथा प्रमादी साधु की आत्मा अधिकरण कही गई है इस लिये प्रमादी साधुके ओघा पात्रादिक भी तुम्हारे मतसे एकान्त पापमें ही ठहरते हैं। यदि कहो कि प्रमादी साधु, ओघा पात्रादि उपकरण प्रमाद सेवन और अपने शरीर रक्षाके लिये नहीं किन्तु जीव रक्षा आदि धर्मको पालन करनेके लिये रखते हैं अतः उनके धर्मोपकरण एकान्त पाप में नहीं हैं तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावक पौषध व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अपने शरीरकी वृद्धि तथा और किसी प्रयोजन नहीं रखते अतः श्रावकके पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पाप और अधर्ममें कायम करना अज्ञान है।

यह बात दूसरी है कि साधु यदि धर्मोपकरणों पर मूर्छा ममता रखे और अयत्न पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको परिग्रह तथा आरम्भ दोष लगता है तथा श्रावक धर्मोपकरणोंपर मूर्छा ममता रखने और अयत्न पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको भी परिग्रह और आरम्भ होता है परन्तु यत्न पूर्वक उपकरणोंका व्यवहार करने और उनमें ममता मूर्छा नहीं रखने पर ये उपकरण धर्मके सहायक हैं आरम्भ तथा परिग्रहके हेतु नहीं हैं अतः उन्हें पापमें बताना मिथ्या है।

(बोल ३९)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११७ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ उद्देशा १ के मूल पाठका उदाहरण देकर लिखते हैं "अथ इहां चार व्यापार कह्या मन, वचन, काया, उपकरण, ये च्यारूं व्यापार सन्निपञ्चेन्द्रिय रे कह्या ये च्यारूं शुद्ध व्यापार तिण १६ दण्डक सन्नीपञ्चेन्द्रिय रे कह्या अने ए च्यारूं भला व्यापार तो एक संयति मनुष्यने इज कह्या तिण और रे न कह्या तो श्रावकोने संपूर्ण उपकरण ना भला व्यापार में घाल्या अने श्रावकरा पूंजणी आदि उपकरण भला व्यापारमें न घाल्या ते माटे पूंजनी आदिक श्रावक राखे ते सावद्य योग छै (भ्र० पृ० ११७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है —

"चउव्विहे पणिहाणे मन पणिहाणे वय पणिहाणे काय पणिहाणे उवगरण पणिहाणे। एव नेरइयाण जाव वेमाणियाण। चउव्विहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते तजहा मन सुप्पडिहाणे जाव उपकरण सुप्पणिहाणे एव सजय मणुस्साणवि। चउव्विहे दुप्पणिहाणे प० त० मन दुप्पडिहाणे जाव उवगरण। एव पञ्चेन्दियाण जाव वेमाणियाण"

(ठाणाङ्ग ठाणा ४ उद्देशा १)

(टीका)

"प्रणिधान प्रयोग तत्र मनस प्रणिधानम् आर्तरौद्र धर्मादि रूपतया प्रयोगो मन प्रणिधानम्। एव वाक्काययोरपि उपकरणस्य लौकिक लोकोत्तररूपस्य वस्त्र पात्रादे सयमा सयमो पकाराय प्रणिधान प्रयोग उपकरण प्रणिधानम्। एवमिति तथा सामान्यत स्तथा नैरयिकाणामिति। यथा चतुर्वि शति दण्डक पठिताना मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषा मपि वैमानिकान्ताना मेवेति। एकेन्द्रियादीना मन प्रभृतीनाम सभवान प्रणिधाना संभवात्। प्रणिधान विशेष सुप्रणिधान दुष्प्रणिधानञ्चेति तत्सूत्राणि। शोभन सयमार्थत्वा त्प्रणिधानं मन प्रभृतीना प्रयोजन सुप्रणिधानमिति। इदञ्च सुप्रणिधानं चतुर्वि शति दण्डक निरूपणाया मनुष्याणा तत्रापि सयतानामेव भवति चारित्रपरिणतिरूपत्वात्सु प्रणिधानस्येत्याह "एवं संजए" इत्यादि, दुष्प्रणिधान सूत्र सामान्य सूत्रवत् नवरं दुष्प्रणिधानम् असंयमार्थं मन प्रभृतीना प्रयोग इति"

अर्थ —

प्रयोग करनेका नाम "प्रणिधान" है। आर्त रौद्र और धर्म आदि ध्यान करना "मन प्रणिधान" कहलाता है। इसी तरह वचन और शरीरके प्रयोगको क्रमश वचन प्रणिधान और काय प्रणिधान कहते हैं। उपकरण नाम वस्त्र पात्र आदिका है वह दो तरहका होता है लौकिक और लोकोत्तर, उनका संयम और असंयमके लिये प्रयोग करना उपकरण प्रणिधान कहलाता है। ये चारों प्रणिधान नारकि पञ्चेन्द्रियसे लेकर यावत् वैमानिक देव तकके प्राणियोंमें होते हैं। एकेन्द्रिय आदि जीव जो मनोविकल हैं उनमें उक्त चतुर्विध व्यापार नहीं होते। प्रणिधान विशेष का सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान कहते हैं। मन, वचन काय और उपकरणका प्रयोग जो संयम सम्बन्ध किया जाता है वह सुप्रणिधान है। यह सुप्रणिधान, चतुर्वि शति दण्डकके जीवोंमें केवल

संयमधारी जीवका ही होता है क्योंकि सुप्रणिधान चारित्रका परिणाम स्वरूप है। इसी तरह असंयमके लिये जो मन वचन काय और उपकरणका प्रयोग किया जाता है वह दुष्प्रणिधान कहा जाता है यह दुष्प्रणिधान नैरयिक वैमानिक तक चौबीसों दण्डकके जीवोंको होता है। यह ऊपर लिखे मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें मन, वचन, काय और उपकरणका सुप्रणिधान संयमधारी जीवोंका होना कहा है इस लिये इससे संयम पालन करने वाले श्रावकोंका देश संयम पालनेके लिये मन, वचन, काय और उपकरणोंका जो प्रयोग होता है वह भी सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणोंके सभी व्यापारोंको दुष्प्रणिधान बतलाना मिथ्या है। उक्त मूल पाठ और उसकी टीकामें जो संयत पुरुषोंका सुप्रणिधान होना कहा है वहां संयत पदसे देश संयत (श्रावक) और सर्व संयत (साधु) दोनोंका ही ग्रहण है केवल सर्व संयत का ही ग्रहण नहीं अतः श्रावक, अपने देश संयमका पालन करनेके लिये जो मनसे धर्मध्यान, वचनसे अरिहंत सिद्ध और साधुओंका गुणानुवाद, शरीरसे साधुओंका मान सन्मान, सेवा सुश्रूषा और उपकरणोंसे जीव रक्षा आदि शुभ व्यापार करता है यह सब व्यापार सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं।

जो लोग उक्त चारों ही सुप्रणिधान एक मात्र साधुओंका ही होना मान कर श्रावकोंके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानते हैं उनसे कहना चाहिये कि श्रावक जो मनसे धर्म ध्यान और वचनसे अरिहन्त सिद्ध और साधुओंका गुणानुवाद और कायसे साधुको दान सन्मान सेवा सुश्रूषा आदि व्यापार करता है उसे भी आप दुष्प्रणिधान ही क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि ये सब व्यापार संयम पालनेके लिये किये जाते हैं इस लिये ये दुष्प्रणिधान नहीं हैं तो उसी तरह संयम पालनके लिये जो श्रावक उपकरणका व्यापार करते हैं वह भी दुष्प्रणिधान नहीं किन्तु सुप्रणिधान ही है यदि उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहो तो उसके पूर्वोक्त मन, वचन और कायके व्यापारोंको भी दुष्प्रणिधान ही कहना होगा परन्तु जैसे श्रावकका मन वचन और कायके पूर्वोक्त व्यापार दुष्प्रणिधान नहीं हैं उसी तरह संयम पालनार्थ उपकरणका व्यापार भी दुष्प्रणिधान नहीं है अतः ठाणांग सूत्रके इस पाठका नाम लेकर श्रावकके पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंके व्यापारको एकान्त पापमें स्थापन करना सूत्रार्थ न जाननेका फल समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि 'श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार यदि सुप्रणिधान हैं तो इस पाठमें मनुष्य संयतिओंके ही एक चतुर्विध सुप्रणिधान क्यों कहे

गये हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी कहने चाहिये ?" तो इसका उत्तर यह है कि तिर्य्यञ्च श्रावकोंके पास धार्मिक उपकरण नहीं होते और धार्मिक उपकरणोंके न होनेसे उनका सुप्रणिधान होना असम्भव है इस लिये तिर्य्यञ्च श्रावकोंके चतुर्विध सुप्रणिधान नहीं कहे गये हैं। यद्यपि तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी मन वचन और कायके व्यापार सुप्रणिधान होते हैं तथापि उपकरणके व्यापार न होनेसे तिर्य्यञ्च श्रावकोंका यहां कथन नहीं है। यह ठाणाङ्ग सूत्रका चौथा ठाणा है इस लिये जिसके चारों व्यापार यानी मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार सुप्रणिधान होते हैं उन्हींका यहां कथन है।

उक्त चारों सुप्रणिधान मनुष्य श्रावक और साधुओंके ही होते हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके नहीं होते अतः इस पाठमें मनुष्य संयतियोंके ही चतुर्विध सुप्रणिधान कहे हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके नहीं। अतः इस पाठका नाम लेकर श्रावकके धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है।

यदि कोई कहे कि "श्रावक असंयम पालनेके लिये भी मन, वचन, काय और उपकरणोंका प्रयोग करते हैं फिर उनके ये व्यापार भी सुप्रणिधान क्यों नहीं माने ?" तो इसका उत्तर यह है कि श्रावक संयम पालनेके लिये जो मन वचन काय और उपकरणका व्यापार करते हैं उन्हीं व्यापारोंकी अपेक्षासे वे देश संयति माने जाते हैं [illegible] लिये जो उक्त चतुर्विध व्यापार करते हैं उनकी अपेक्षासे नहीं इस लिये उक्त चतुर्विध व्यापार जो संयम पालनार्थ होते हैं वे ही सुप्रणिधान हैं दूसरे [illegible] नहीं। असंयमके [illegible] श्रावकके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षासे श्रावक असंयत माना जाता है और संयम पालनार्थ जो [illegible] चतुर्विध व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षासे वह संयत समझा जाता है अतएव शास्त्रकारोंने "संयतासंयत" कहा है। "संयतासंयत" वही है जो देशसे संयत [illegible] और [illegible] मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार देशसे संयमोपकारी हैं। [illegible] [illegible] श्रावकके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार [illegible] [illegible] सुप्रणिधान हैं और [illegible] [illegible] चतुर्विध व्यापार [illegible] दुष्प्रणिधान हैं परन्तु [illegible] सामायक और पौषधमें बैठा हुआ श्रावक [illegible] वचन और कायके व्यापारको [illegible] सुप्रणिधान और [illegible] उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान [illegible] है [illegible] व्याघात है। सामायक और पौषधमें बैठे हुए श्रावकोंके उपकरणका व्यापार यदि दुष्प्रणिधान है तो [illegible] मन, वचन और [illegible] [illegible] सुप्रणिधान हो सकता है ? और मन वचन तथा कायके व्यापार [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] व्यापार [illegible] दुष्प्रणिधान हो सकता है ? [illegible]

यक और पोषधमें बैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान बताना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त मूल पाठमें मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार, संयति मनुष्योंके सुप्रणिधान कहे गये हैं यहां संयति पदसे जीतमलजीने केवल साधुओं का ही ग्रहण होना माना है देश संयति श्रावकका नहीं। ऐसी दशामें इनके मतानुसार सामायक और पोषधमें बैठे हुए श्रावकोंके मन वचन और कायके व्यापार भी सुप्रणिधान नहीं कायम हो सकते क्योंकि मन वचन और कायके व्यापार भी उक्त पाठमें संयतियोंके ही सुप्रणिधान कहे गये हैं दूसरोंके नहीं। यदि उक्त मूल पाठमें "संयत" पदसे देश संयति श्रावकका भी ग्रहण मान कर उनके भी मन वचन और कायके व्यापार को सुप्रणिधान मानते हो तो फिर उनके उपकरणके व्यापारको भी सुप्रणिधान मानना ही पड़ेगा अतः ठाणाङ्गके उक्त मूल पाठका नाम लेकर सामायक और पोषधमें बैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उनके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ४० वां)

इति दानाधिकार समाप्त।

अथ अनुकम्पाधिकारः

भ्रमविध्वंसनकारने अपने मतकी पुष्टिमें कुछ दृष्टान्त भी दे डाले हैं, जैसे "एक मनुष्य झूठ बोलता है और दूसरा झूठ नहीं बोलता और तीसरा सत्य बोलता है। इनमें जो झूठ बोलता है वह एकान्त पापी है और जो झूठ नहीं बोलता है वह एकान्त धार्मिक है। तथा जो सत्य बोलता है उसके दो भेद हैं। एक सावद्य सत्य बोलता है और दूसरा निरवद्य सत्य बोलता है। इनमें जो सावद्य सत्य बोलता है वह एकान्त पाप करता है और जो निरवद्य सत्य बोलता है वह धर्म करता है। यह तो दृष्टान्त हुआ इसका दार्ष्टान्त जीतमलजी यह देते हैं—"एक मनुष्य हिंसा करता है और दूसरा हिंसा नहीं करता और तीसरा रक्षा करता है। इनमें जो हिंसा करता है वह एकान्त पापी है और जो हिंसा नहीं करता है वह एकान्त धार्मिक है। तथा जो जीवरक्षा करता है उसके दो भेद हैं। एक हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये न मारनेका उपदेश करता है और दूसरा हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है। इनमें जो हिंसकको हिंसा का पाप छुड़ानेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह तो धार्मिक है और जो हिंसकके हाथसे मारे जानेवाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह एकान्त पाप करता है क्योंकि मरने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है" यह जीतमलजी का मत है। इस मतकी पुष्टिके लिये पूर्वोक्त दृष्टान्तके सिवाय यह और भी दृष्टान्त देते हैं जैसे—चोरी करनेवालेको साधु धनीके मालकी रक्षाके लिये चोरी न करनेका उपदेश नहीं देते किन्तु चोरको चोरीके पापसे बचानेके लिए उपदेश देते हैं उसी तरह साधु, कसाईके हाथसे मारे जानेवाले बकरे की प्राणरक्षाके लिये न मारनेका उपदेश नहीं देते किन्तु कसाईको हिंसाके पापसे बचाने के लिये उपदेश देते हैं इत्यादि भ्रमोत्पादक बातें लिख कर जीतमलजीने जैन धर्मके प्राणभूत रक्षा धर्मका समूल नाश करनेकी चेष्टा की है परन्तु इनकी ये सब बातें निराधार और शास्त्र विरुद्ध हैं। कसाईके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश देना सावद्य सत्यकी तरह एकान्त पाप नहीं है किन्तु यह धर्म कार्य है। सब प्राणियोंकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका खास उद्देश्य है सब पूछिये तो प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है। प्रश्न व्याकरण सूत्रके प्रथम संवर द्वारमें यह पाठ आया है 'सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं' अर्थात् "संसारके सभी प्राणियोंकी रक्षारूप दयाके लिये भगवान् ने यह प्रवचन (जैनागम) कहा गया है" यदि, हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवकी रक्षा करनेके लिये उपदेश देना, एकान्त पाप होता तो इस पाठमें संसारके सभी जीवोंकी रक्षा रूप दयाके लिये जैनागमका कथन होना क्यों कहा जाता? अतः जीवरक्षाके उद्देश्यसे उपदेश देनेको एकान्त पाप और इसे चोरी आदि का धर्म बताना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि "प्रश्न व्याकरण सूत्रमें ऊपर लिखे पाठमें 'रक्षा' पदका अर्थ जीवको न मारना अर्थ है बचाना अर्थ नहीं है" तो वह मिथ्यावादी है रक्षा पदका कोष, व्याकरण तथा व्यवहारसे बचाना अर्थ ही प्रसिद्ध है और जीतमलजीने भी यह स्वीकार किया है। जैसे भ्र० पृ० ११९ पर इन्होंने लिखा है "(१) एक तो जीव हणे (२) एक न हणे (३) एक जीव छुडाव ए तीनूं न्यारा न्यारा छै" यह लिख कर जीवका न मारना और जीवकी रक्षा करना इनको भिन्न भिन्न जीतमलजीने बतलाया है इस लिये जीव न मारने को रक्षा मानना और जीव छुडानेको रक्षा न मानना मिथ्या है।

हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवकी रक्षा करनेके लिये उपदेश देना सावद्य सत्यकी तरह एकान्त पाप नहीं है। सावद्य सत्यसे जीवको दुःख होता है जैसे कानेको काणा अन्धेको अन्धा कहना सत्य तो है परन्तु इससे काणे और अन्धे मनुष्यके दिल में दुःख होता है इसलिये शास्त्रमें सावद्य सत्यको एकान्त पाप कहा है लेकिन हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश देनेसे न तो हिंसकको दुःख होता है और न मारे जाने वाले जीवको ही दुःख होता है बल्कि हिंसक जीव, हिंसाके पापसे बचता है और मारे जानेवालेका आर्त रौद्र ध्यान छूटता है फिर इसमें पाप किस बातका हुआ ? यह बुद्धिमान, दयालु मनुष्य स्वयं समझ सकते हैं।

प्रश्न व्याकरण सूत्रके पूर्वोक्त मूलपाठानुसार हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना बहुत ही प्रशस्त कार्य है इसे पाप बताना शास्त्र द्रोहियोंका कार्य है। सावद्य और निरवद्य भेदसे सत्यके दो भेद होते, सर्व शास्त्रकारने ही बतलाया है परन्तु रक्षाको सावद्य और निरवद्य कहीं नहीं कहा है अतः जो लोग रक्षाको सावद्य कहते हैं वे मिथ्यावादी हैं।

जीव रक्षा रूप धर्मको एकान्त पाप सिद्ध करनेके लिये जीतमलजीने जो दूसरा दृष्टान्त दिया है कि 'साधु चोरके पापसे चोरको मुक्त करनेके लिये धर्मोपदेश देता है परन्तु धनीके धनकी रक्षा करनेके लिये नहीं देता उसी तरह हिंसकको हिंसाके पापसे मुक्त करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है परन्तु मरते जीवकी रक्षाके लिये नहीं देता' यह दृष्टान्त भी असंगत है क्योंकि प्रश्न व्याकरण सूत्रमें आश्रवका स्वरूप बताते [illegible] जैनागमका कथन होना बतला कर आश्रवका [illegible] जैनागमका प्रमाण [illegible] है इसलिये साधु जीव रक्षाके लिये धर्मोपदेश करते हैं परन्तु धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं करते क्योंकि प्रश्न सूत्रमें [illegible] निवृत्तिरूप [illegible] जैनागमका कथन होना बतलाया है [illegible] धनकी रक्षाके लिये नहीं इसलिये साधु [illegible]

धनीके धनकी सुरक्षा करनेके लिए ही धर्मोपदेश देते हैं धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं। इस व्याकरण सूत्रका यह पाठ यह है "पाणाइवाय वेरमण दयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् "प्राणातिपात रूप पापसे निवृत्ति रूप धर्मकी रक्षाके लिये भगवानने प्रवचन कहा है।"

इस पाठमें प्राणातिपात रूप पापसे निवृत्तिके लिए प्रवचनका कथन होना कहा है धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं इसलिए साधु चोरको चोरीके पापसे बचानेके लिये ही उपदेश देते हैं धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं परन्तु जीवरक्षाके विषयमें यह नहीं कहा है कि "हिंसाकी निवृत्तिके लिए जैनागमका कथन हुआ है जीवरक्षाके लिए नहीं" बल्कि वहां तो यह साफ लिखा है कि "सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् "समस्त सभी प्राणियोंकी रक्षा रूप दयाके लिए भगवानने जैनागम कहा गया है।" इसलिये हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवकी रक्षा करनेके लिए धर्मोपदेश देना शास्त्रानुमोदित और बहुत ही प्रशस्त कार्य है इसे पाप कहने वाले एकान्त मिथ्यावादी और मिथ्यादृष्टि हैं। धनरक्षाके साथ जीवरक्षाकी तुलना करना भी अज्ञान मूलक है। धन अचित्त पदार्थ है उसकी अनुकम्पा नहीं होती परन्तु जीव चेतन है उसकी रक्षा करना धर्म है अतएव शास्त्रमें जगह जगह "पाणानुकम्पयाए भूयानुकम्पयाए" इत्यादि पाठ आया है "धनाणुकम्पयाए वित्तानुकम्पयाए" इत्यादि पाठ नहीं आया है। इसलिये धनरक्षाका दृष्टान्त देकर जीवरक्षाके लिए धर्मोपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिये किसी साधु महात्माने धर्मोपदेश किया हो ऐसा उदाहरण मूल सूत्रके साथ बतलाइए ?

(प्ररूपक)

शास्त्र प्रमाणसे इसका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है —

"जइणं देवाणुप्पिया ! पएसिस्स रण्णो धम्ममाइक्खेज्जा बहुगुणतरं खलु होज्जा, पएसिस्स रण्णो तेसिं च बहूणं दुप्पयचउप्पय मियपसुपक्खीसिरीसवाणं । तं जइ णं देवाणुप्पिया ! पएसिस्स रण्णो

चोरीके पापसे मुक्त करानेके लिये ही धर्मोपदेश देते हैं धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं। प्रश्न व्याकरण सूत्रका वह पाठ यह है "पर दव्व हरण वेरमण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् "पराये द्रव्यके हरण रूप पापसे निवृत्ति रूप धर्मकी रक्षाके लिये भगवान्ने प्रवचन कहा है।"

इस पाठमें पराये द्रव्यके हरण रूप पापसे निवृत्तिके लिये प्रवचनका कथन होना कहा है धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं इसलिये साधु चोरको चोरीके पापसे बचानेके लिये ही धर्मोपदेश देता है धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं परन्तु जीवरक्षाके विषयमें यह नहीं कहा है कि 'हिंसाकी निवृत्तिके लिये जैनागमका कथन हुआ है जीवरक्षाके लिये नहीं' बल्कि यहां तो यह साफ लिखा है कि "सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् "संसारके सभी प्राणियोंकी रक्षा रूप दयाके लिये भगवान्ने जैनागम कहा गया है।" इसलिये हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवकी रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना शास्त्रानुमोदित और बहुत ही प्रशस्त कार्य्य है इसे पाप कहने वाले एकान्त मिथ्यावादी और मिथ्यादृष्टि हैं। धनरक्षाके साथ जीवरक्षाकी तुलना करना भी अज्ञान मूलक है। धन अचित्त पदार्थ है उसकी अनुकम्पा नहीं होती परन्तु जीव चेतन है उसकी रक्षा करना धर्म है अतएव शास्त्रमें जगह जगह "पाणाणुकम्पयाए भूयाणुकम्पयाए" इत्यादि पाठ आया है "धनानुकम्पयाए वित्तानुकम्पयाए" इत्यादि पाठ नहीं आया है। इसलिये धनरक्षाका दृष्टान्त देकर जीवरक्षाके लिये धर्मोपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिये किसी साधु महात्माने धर्मोपदेश दिया हो ऐसा उदाहरण मूल सूत्रके साथ बतलाइए ?

(प्ररूपक)

राजप्रश्नीय सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है —

"जइणं देवाणुप्पिया ! पएसिस्स रण्णो धम्ममाइक्खेज्जा बहु गुणतरं खलु होज्जा, पएसिस्स रण्णो तेसिं च बहूणं दुपयचउप्पय मियपसुपक्खीसरीसवाणं । तंजइ देवाणुप्पिया ! पएसिस्स रण्णो

धम्म माइक्खेज्जा बहु गुणतर फल होज्जा तेसिंच बहूण समण माहन भिक्खुयाण । तजइण देवाणुप्पिया ! पएसिस्स बहुगुणतर होज्जा सव्वस्सवि जणवयस्स”

(राजप्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

हे देवानुप्रिय ! आप यदि प्रदेशी राजाको धर्म सुनावें तो बहुत गुण युक्त फल हो । वह किसे हो ? खुद राजा प्रदेशीको गुण हो और उनके हाथसे मारे जाने वाले बहुतसे द्विपद, चतुष्पद मृग, पशु, पक्षी और सरी सृपोंको हो । हे देवानुप्रिय ! आप यदि राजा प्रदेशीको धर्म सुनावें तो बहुतसे श्रमण, माहन, और भिक्षुकोंको, तथा राजा प्रदेशी और उनके सम्पूर्ण राज्यको बहुत गुणयुक्त फल हो ।

इस पाठमें राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे राजा प्रदेशी और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृप, दोनो ही को गुण होना कहा है । इसका भाव यह है कि राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे वह हिंसा करना छोड़ कर हिंसाके पापसे बच सकता है और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियोंकी प्राणरक्षा हो सकती है इसलिये राजा प्रदेशीको हिंसाके पापसे बचनेका गुण है और उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंको प्राणरक्षा रूप गुण है । इन दोनों ही लाभके लिए चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की है केवल प्रदेशीको हिंसाके पापसे बचानेके लिए ही नहीं अतः हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिए भी साधु उपदेश देते हैं सिर्फ हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिए ही नहीं यह इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है ।

यदि कोई कहे कि “यह पाठ, चित्त प्रधानकी प्रार्थनाको बतलानेके लिए आया है इसलिए यद्यपि इस पाठमें चित्त प्रधानने द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोंकी प्राणरक्षाके लिए केशी स्वामीसे धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की है तथापि इससे साधुओंका मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि चित्त प्रधान, अनाचारी भी माने जाते थे वे रक्षा करनेके लिये मुनिसे धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना कर सकता है” तो इसका उत्तर यह है कि चित्त प्रधान, कोई मामूली मनुष्य नहीं किन्तु बारह व्रतधारी श्रावक था वह सावद्य निरवद्य को जानता था । दूसरी बात यह कि चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे जीव रक्षाके लिए धर्मोपदेश करनेकी प्रार्थना की थी, यदि यह कार्य एकान्त पापका था तो केशी स्वामीने चित्त प्रधानको क्यों नहीं समझा दिया कि ‘हे देवानुप्रिय ! राजा प्रदेशीका मरनेसे

धम्म माइक्खेज्जा बहु गुणतर फल होज्जा तेसिंच बहूण समण माहन भिक्खुयाण। तजइण देवाणुप्पिया! पएसिस्स बहुगुणतर होज्जा सव्वस्सवि जणवयस्स"

(राजप्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

हे देवानुप्रिय! आप यदि प्रदेशी राजाको धर्म सुनावें तो बहुत गुण युक्त फल हो। वह किसे हो? खुद राजा प्रदेशीको गुण हो और उनके हाथसे मारे जाने वाले बहुतसे द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृपोंको हो। हे देवानुप्रिय! आप यदि राजा प्रदेशीको धर्म सुनावें तो बहुतसे श्रमण, माहन और भिक्षुकोंको, तथा राजा प्रदेशी और उनके सम्पूर्ण राष्ट्रको बहुत गुणयुक्त फल हो।

इस पाठमें राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे राजा प्रदेशी और उनके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृप, दोनों ही को गुण होना कहा है। इसका भाव यह है कि राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे वह हिंसा करना छोड़कर हिंसाके पापसे बच सकता है और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियोंकी प्राणरक्षा हो सकती है इसलिये राजा प्रदेशीको हिंसारूप पापसे बचनेका गुण है और उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंको प्राणरक्षा रूप गुण है। इन दोनोंही लाभके लिए चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की है केवल प्रदेशीको हिंसारूप पापसे बचानेके लिए ही नहीं अत: हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिए भी साधु उपदेश देते हैं सिर्फ हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिए ही नहीं यह इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है।

यदि कोई कहे कि "यह पाठ, चित्त प्रधानकी प्रार्थनाको बतलानेके लिए आया है इसलिए यद्यपि इस पाठमें चित्त प्रधानने द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोंकी प्राणरक्षाके लिए केशी स्वामीसे धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की है तथापि इससे साधुओंका मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि चित्त प्रधान, अज्ञानवश भी मरते जीवकी रक्षा करनेके लिये मुनिसे धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना कर सकता है" तो इसका उत्तर यह है कि चित्त प्रधान, कोई मामूली मनुष्य नहीं किन्तु बारह व्रतधारी श्रावक था वह जीवरक्षामें धर्म या पाप होना जानता था। दूसरी बात यह कि चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे जीव रक्षार्थ धर्मोपदेश करनेकी प्रार्थना की थी, यदि यह कार्य्य एकान्तपापका था तो केशी स्वामीने चित्त प्रधानको क्यों नहीं समझा दिया कि "हे देवानुप्रिय! राजा प्रदेशीको मारनेसे

लिये धर्मोपदेश दे तो ठीक है परन्तु उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षा के लिये धर्मोपदेश देना उचित नहीं है क्योंकि मरने जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना एकान्त पाप है ' अत जीवरक्षामें धर्म होना स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे धर्मोपदेश करनेमें जो एकान्त पाप बतलाते हैं उन्हें मिथ्यावादी और उत्सूत्र प्ररूपणा करनेवाला समझना चाहिये।

[बोल २ रा समाप्त]

(प्रेरक)

सुयगडाग सूत्र श्रु० १ अध्ययन ६ के मूलगाथामें "दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं" यह वाक्य आया है इसका कई एक यह अर्थ करते हैं कि "अपनी ओरसे किसी प्राणी को भय न देना अभयदान है परन्तु दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना अभयदान नहीं है" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

किसी प्राणीको अपनी ओरसे भय न देना, और दूसरसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करना, ये दोनों ही अभयदान हैं परन्तु अपनी ओरसे किसीको भय न देना ही नहीं अत दूसरेसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करनेको अभयदान न मानना अज्ञानियोंका कार्य्य है। इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने, दूसरेसे भय पाते हुएको भय से मुक्त करना अभयदान बतलाया है वह टीका यह है —

स्वपरानुग्रहाय मर्थिनेदीयत इति दान मनेकधा तेषा मध्ये जीवाना जीवितार्थिना त्राणकारित्वादभयदानं श्रेष्ठम्। तदुक्तम् "दीयते म्रियमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा धन कोटिं न गृह्णाति सर्वो जीवितुमिच्छति '

गोपालाङ्गनादीना दृष्टान्तद्वारगाथा बुद्धौ सुखेनारोहन्तीत्यतोऽभयदान प्रधान्य ख्यापनाथ कथानक मिदम्—वसन्तपुरे नगर अरिदमनो राजा, सच कदाचित् चतुर्वधू समेतो वातायनस्थ क्रीडायमानस्तिष्ठति तेन कदाचिच्चोर एक करवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्ताङ्ग प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमान सपत्नीकेन दृ० । दृष्ट्वाच ताभि पृष्टम् किमनेना कारीति। तासामेक न राजपुरुषेण वदितम् यथा परद्रव्यापहारेण राजविरुद्ध मिति तत एकया राज्ञी विज्ञप्त यथा यो भवता मम प्राग् वर प्रतिपन्न सोऽधुना दीयताम् यथाहमस्योपकरोमि किञ्चित् राज्ञापि प्रतिपन्नम्। ततस्तया स्नानादिपुर सरमलंकारणालंकृतो दीनार सहस्र व्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानक मह प्रापित । पुनर्द्वितीययापि तथैव द्वितीय महो दीनार दान सहस्र व्ययेन

ने तो इस विचारेको कुछ भी नहीं दिया है" इसके अन तर उन रानियोंमें अपने अपने उपकारके विषयमें कलह होना आरम्भ हुआ उस कलहको शान्तिके लिये राजाने चोरको बुला कर पूछा कि "इन रानियोंमें सबसे अधिक तुम्हारा किसने उपकार किया है ?" चोर ने कहा कि—मरण रूपी महाभयसे मैं इतना डरा हुआ था कि स्नान आदिका सुख मुझको कुछ भी नहीं मालूम हुआ । जब मैंने सुना कि मुझे अभयदान मिला है तब मुझ को नवीन जीवन प्राप्तिके समान महान् आनन्द प्राप्त हुआ । अतः सब दानोंमें अभयदान की श्रेष्ठता स्पष्ट सिद्ध होती है ।

यहां, मारे जाने वाले प्राणीको मरणसे बचा देना अभयदान कहा गया है और इस विषयको स्पष्ट समझानेके लिये चोरका दृष्टान्त दिया है । इस दृष्टान्तमें रानी ने अपनी ओरसे चोरको भय देनेका त्याग नहीं बल्कि शूली या फांसीके द्वारा होने वाले मरणरूपी महाभयसे उसे बचाया है और इस कार्य्यको यहां अभयदान कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरसे भय पाते हुए प्राणीका भय दूर करना भी अभयदान है अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं अतः दूसरसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करने में जो एकान्त पाप बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं ।

(बोल ३ रा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२१ पर सुयगडांग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे कह्यो पोताना कर्म खपावा तथा आगे जेहना मनुष्य यने तारिवा भगवान् धर्म कहे इम कह्यो पिण इम न कह्यो जे जीव बचावाने अर्थे धर्म कहे, इण न्याय असंयति जीवांरो जीवणों वाञ्छ्यां धर्म नहीं ।

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि भगवान् महावीर स्वामी आत्मनेश्वर मनुष्य को तारनेके लिए और अपने कर्मोंका क्षय करनेके लिये धर्मोपदेश करते थे परन्तु हिंसक के हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं अतः मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना साधुका कर्त्तव्य नहीं है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर इसका समाधान दिया जाता है । वे गाथायें ये हैं —

"नो काम किचा नय बालकिच्चा रायाभियोगेण कुतो भयेण।
वियागरेज्जा पसिणं नवावि सकाम किच्चे इह आरियाणं।
गन्ता च तत्था अदुवा अगन्ता वियागरेज्जा समिया सुपन्ने। अना
रिया दंसणतो परीत्ता इति सकमाणो न उवेति तत्थ"

(सुय० श्रुत० ५ अ० ६ गाथा १७ १८)

अर्थ —

गोशालकके मनको खण्डन करनेके लिये आर्द्र मुनि कहते हैं कि—भगवान् महावीर स्वामी बिना इच्छाके कोई कार्य्य नहीं करते। जो बिना विचार काम करता है वह इच्छाके बिना भी कार्य्य करता है और वह अपने या दूसरेका जिससे अनिष्ट हो ऐसा भी कार्य्य कर डालता है परन्तु भगवान् महावीर स्वामी सर्वज्ञ सर्वदर्शी और परायेके हित करनेमें तत्पर रहते हैं जिससे अपना या दूसरेका उपकार नहीं होता ऐसा कार्य्य भगवान् नहीं करते। भगवान् अपनी प्रतिष्ठाके लिये अथवा किसी राजा महाराज आदिके दबावसे धर्मोपदेश नहीं देते क्योंकि उनकी प्रवृत्ति भयसे नहीं होती। यदि कोई कुछ पूछता है तो उसका उपकार होता देख कर भगवान् उत्तर देते हैं अन्यथा नहीं देते। बिना पूछे भी लाभ समझने पर भगवान् उपदेश देते हैं। अनुत्तर विमानवासी देवता और मन पर्य्याय ज्ञानियोंके प्रश्नोंके उत्तर भगवान् मनसे ही देते हैं वाणीद्वारा नहीं क्योंकि उन्हें वाणीद्वारा उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है।

भगवान् महावीर स्वामी यद्यपि वीतराग हैं तथापि अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये और उपकार योग्य आर्य्य क्षेत्रके मनुष्योंका उपकारके लिये आर्य्यक्षेत्रमें उपदेश देते हैं। १७

भगवान् महावीर स्वामी दूसरोंके हित साधनमें प्रवृत्त रहते हैं इस लिये वह शिक्षा देने योग्य पुरुषके निकट जाकर भी उपदेश देते हैं, वह जिस प्रकार भव्य जीवोंका कल्याण देखते हैं उसी तरह कार्य्य करते हैं, वह नहीं जाकर भी उपदेश देते हैं। उपकार होता देख कर वह जाकर भी उपदेश देते हैं और उपकार न होता देख कर वहां रहते हुए भी उपदेश नहीं देते भगवान्को किसीसे भी राग द्वेष नहीं है, चक्रवर्ती राजा हो चाहे दरिद्र हो सबको वह एक दृष्टिसे देखते हैं। पूछने पर या न पूछने पर वह सबको समान रूपसे धर्मोपदेश देते हैं। भगवान् अनार्य्य देशमें धर्मोपदेश देनेके लिये इस कारण नहीं जाते कि वहांके निवासी दर्शन भ्रष्ट और ऐहिक सुखको ही अपना अन्तिम लक्ष्य समझकर परलोकको अङ्गीकार नहीं करते। उन लोगोंकी भाषा और कर्म भी आर्य्य पुरुषोंसे विपरीत होते हैं इस लिये वहां उपकार होता नहीं देख कर भगवान् अनार्य्य देशमें नहीं जाते।

इन गाथाओंमें कहा है कि "भगवान् महावीर स्वामी आर्य्य क्षेत्रके मनुष्योंके उपकारके लिये और अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये उपदेश देते हैं" इसमें

हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये भी भगवान्का धर्मोपदेश देना सिद्ध होता है क्योंकि जैसे हिंसकको हिंसाके पापसे बचाना उसका उपकार करना है उसी तरह हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी रक्षा करना भी उसका उपकार करना है। इस गाथार्थका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यह लिखा है—

"असावपि तीर्थकृन्नामकर्मणः क्षपणाय न यथा कथं चिद्‌ग्लान्याऽसावर इह अस्मिन् संसारे आर्य्य क्षेत्रे वा उपकार योग्य आर्य्याणां सर्वहेयधर्मदूरवर्तिना तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयाद्‌ब्रूयादिति'

अर्थात् भगवान महावीर स्वामी अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये इस संसारमें, अथवा उपकार योग्य इस आर्य्य क्षेत्रमें त्यागने योग्य सभी बुरे धर्मोंसे अलग रहने वाले आर्य्य क्षेत्र वासी मनुष्योंका उपकारके लिये धर्मोपदेश देते हैं।

यहां टीकाकारने भी मूल गाथाका अभिप्राय बतलाते हुए आर्य्य क्षेत्र वासी मनुष्योंका उपकारके लिये भगवान्का धर्मोपदेश करना बतलाया है इस लिये हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये उपदेश देना भी धर्म सिद्ध होता है क्योंकि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना उसका सबसे प्रधान उपकार है। अतः भगवान् महावीर स्वामी आर्य्य क्षेत्रके प्राणियोंकी प्राण रक्षा रूप उपकारके लिये भी धर्मोपदेश करते थे यह बात इस गाथा और इसकी टीकासे स्पष्ट सिद्ध होती है। तथापि इन गाथाओंका नाम लेकर यह कहना कि "भगवान् आर्य्य क्षेत्रके जीवोंकी प्राण रक्षा करनेके लिये उपदेश नहीं देते थे एकान्त मिथ्या है।

सुयगडांग सूत्रकी इस गाथाके पहलेकी गाथामें मरते जीवकी प्राण रक्षा करनेके लिये भगवान्का धर्मोपदेश देना स्पष्ट लिखा है इस लिये वह गाथा भी यहां लिखी जाती है।

"समिच्च लोगं तसथावराणं खेमंकरे समणे माहणेवा ।
आइक्खमाणोवि सहस्समज्झे एगंतयं सारयति तहच्चे"

(सुय० सू० २ अ० ६ गाथा ४)

टीका—

"स्यादेतद् धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो भवत्युतनेति, भवतीत्याह "समिच्च लोगं' मित्यादि सम्यग्यथावस्थितं लोकं षड्द्रव्यात्मकं मत्वा अवगम्य केवलालोकेन परिच्छिद्य त्रस्यन्तीति त्रसा त्रस नाम कर्मोदयाद् द्वीन्द्रियादयः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावराः पृथिव्यादयस्तेषां उभयेषामपि जन्तूनां क्षेमं

लिप्त नहीं होते थे। किन्तु ममता और सांसारिक लाभ की इच्छा तथा द्वेष रहित होकर यह सदा और सर्वत्र एकान्तका ही अनुभव करते थे। यदि कोई कहे कि एकाकी अवस्था और शिष्यादिकोंके साथ रहनेकी अवस्थामें प्रत्यक्ष ही भेद दृष्टिगोचर होता था फिर भगवान् लोगोंके मध्यमें रहते हुए एकान्तका अनुभव कैसे करते थे? तो इसका उत्तर यह है कि एकाकी अवस्था और शिष्यादिके साथ रहनेकी अवस्थामें जो भेद दृष्टिगोचर होता था वह बाह्य भेद था आन्तरिक नहीं क्योंकि शिष्यादिकोंके साथ रहने पर भी भगवान्‌की पहलेके समान ही शुक्ल ध्यान रूपा लेश्याथी और वह अपने शरीरका पूर्ववत् ही संस्कार नहीं करते थे तथा अशोकादि आठ प्रतिहार्योंके साथ रहते हुए भी भगवान् गर्व रहित थे एवं राग द्वेषका सर्वथा अभाव हो गया था इस लिये मनुष्योंके साथ रहने पर भी भगवान् एकान्तका ही अनुभव करते थे। किसी आचार्यने कहा है कि यदि तुमने राग द्वेषको जान लिया है तो वनमें जाकर क्या करोगे? और यदि राग द्वेषको नहीं जीता है तो जंगलमें जाकर क्या करोगे। तात्पर्य यह है कि बाह्याचार कल्याणका कारण नहीं किन्तु आन्तरिक कषाय आदिका विजय ही मुक्ति साधक है। यह उक्त गाथा का टीकानुसार अर्थ है।

इस गाथामें लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियोंके क्षेम यानी रक्षा करने वाले थे। और टीकाकारने भी लिखा है कि "क्षेमं शान्ति रक्षा तत्करण शील: क्षेमकर:" अर्थात् भगवान् सब प्राणियोंका क्षेम शान्ति, यानी रक्षा करते थे। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान् मरते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये भी धर्मोपदेश देते थे केवल हिंसकको हिंसाके पापसे छुड़ानेके लिये ही नहीं। यदि कोई कहे कि हिंसाके पापसे बचा देना ही जीवकी रक्षा या क्षेम है मरनेसे बचाना नहीं, तो उसे कहना चाहिये कि इस गाथामें स्थावर जीवोंका भी क्षेम करने वाला भगवानको कहा है यदि वह मरते जीवकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश नहीं देते थे तो स्थावर जीवोंका क्षेम करने वाले वह क्यों कहे गये हैं? क्योंकि स्थावर जीवोंमें उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं होती इस लिये हिंसाके पापसे बचाने के लिये उनको उपदेश देना नहीं घट सकता किन्तु उनकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश देना ही घटता है अतः भगवान् मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये भी उपदेश देते थे यह इस गाथासे स्पष्ट सिद्ध होता है। कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि "हिंसकके हाथसे असंयति जीवको बचाना उसके असंयमका अनुमोदन करना है और असंयमका अनुमोदन करना साधुको नहीं कल्पता इस लिये हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए असंयति जीवकी प्राणरक्षा के लिये साधुको धर्मोपदेश नहीं देना चाहिये" उनसे कहना चाहिये कि साधु असंयति

जीवकी प्राण रक्षा उसके असंयम सेवनका अनुमोदन करनेके लिये नहीं करता। साधु यह नहीं चाहता कि "यह असंयति जीवित रह कर असंयमका सेवन करे, या असंयम सेवन करना अच्छा है। साधु असंयम सेवनको बुरा जानता है इस लिये वह असंयम सेवनके लिये असंयतिकी रक्षा नहीं करता किन्तु असंयतिको आर्त रौद्र ध्यान और मरण भयसे मुक्त करनेके लिये उसकी प्राणरक्षा करता है अत असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे साधुको असंयमका अनुमोदन बतलाना मिथ्या है। यदि इस तरह असंयमका अनुमोदन लगे तो फिर हिंसककी हिंसा छुडानेके लिये अहिंसाका उपदेश भी न देना चाहिये। क्योंकि धर्मोपदेश सुन कर हिंसक यदि असंयतिको न मारे तो उसकी प्राण रक्षा होगी और वह जीवित रह कर असंयमका सेवन भी कर सकता है। फिर रक्षामें पाप कहने वाले, हिंसककी हिंसा छुडानेके लिये अहिंसाका उपदेश क्या देते हैं ?

यदि कहो कि हम असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये हिंसकको अहिंसाका उपदेश नहीं देते किन्तु उसे हिंसारूप पापसे मुक्त करनेके लिये देते हैं इसलिये हमें असंयतिकी प्राणरक्षा या असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह समझो कि हम भी असंयमका सेवन करानेके लिये असंयतिकी प्राणरक्षा नहीं करते किन्तु उसका आर्त रौद्र ध्यान मिटा कर मरण दुःखसे उसे मुक्त करनेके लिये करते हैं अत हमें असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लग सकता। अत हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें असंयम सेवनका नाम लेकर एकान्त पाप कहने वाले मिथ्यावादी हैं।

(बोल ४)

(प्रेरक)

– भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२१ पर लिखते हैं कि—

"जिम कोई कसाइ पांच सौ पञ्चेन्द्रिय नित्य हणे छ। ते कसाईने कोई मारतो हुवे तो तिणने साधु उपदेश देइ ने तिणने मारिवारा अर्थे तिण कसाईने जीवतो राखणे उपदेश न देइ, ए कसाई जीवतो रह्यो तो आच्छो इम कसाईनो जीवणो वाञ्छो नहीं। कोई पञ्चेन्द्रिय हणे कोई एकेन्द्रिय हणे छै ते माटे असंयति जीव ते हिंसक छै हिंसाथी [illegible] धर्म किम हुवे' इसका कहनेका आशय यह है कि कोई पञ्चेन्द्रिय जीवको मारता है और कोई एकेन्द्रिय जीवको मारता है इस लिये साधुके सिवाय सभी जीव हिंसक हैं उनकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म नहीं

किन्तु पाप है। जो कसाई प्रति दिन ५०० बकरा मारता है उसको कोई मारने लगे तो साधु उस मारनेवालेकी हिंसा छुड़ानेके लिये धर्मका उपदेश करता है कसाईकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश नहीं करता क्योंकि यदि कसाई बचेगा तो वह फिर ५०० बकरोंको रोज मारेगा उसी तरह दूसरे असंयति यदि बचें तो वे भी प्रतिदिन एकेन्द्रियादि जीवोंका विनाश करेंगे अतः साधु हिंसाका पाप छुड़ानेके लिये हिंसकको उपदेश करता है हिंसकके हाथसे असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

साधु किसी की भी हिंसा होना पसन्द नहीं करता वह सबकी रक्षा करना चाहता है वह जैसे कसाईकी हिंसा करनेवालेको धर्मोपदेश देकर कसाईकी प्राणरक्षा करना चाहता है उसी तरह कसाईको धर्मोपदेश देकर उससे प्रति दिन मारे जाने वाले बकरोंकी भी प्राणरक्षा ही चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह कसाई जीवित रह कर प्रतिदिन बकरोंकी हिंसा करे किन्तु यह कसाई तथा इससे मारे जाने वाले प्राणी, सभी आर्त्तरौद्र ध्यान और मरण भयसे बचें यही कामना साधु करता है और इसके साथ साथ हिंसाके पापसे हिंसकको भी मुक्त करना चाहता है इसी भावसे प्रेरित होकर साधु धर्मोपदेश देता है और धर्मोपदेश देकर मरनेवाले प्राणीको आर्त्त रौद्र ध्यानसे और मारने वालेको हिंसाके पापसे मुक्त करता है। वह मरने वाले प्राणीके आर्त्त रौद्र ध्यान तथा मरण महा भयकी निवृत्तिका ही कामुक है उसके असंयम सेवन आदि दुर्गुणोंका इच्छुक नहीं है अतः असंयति जीवकी प्राणरक्षाके निमित्त धर्मोपदेश देनेसे उस असंयतिसे सेवन किये जाने वाले असंयम आदि दुर्गुणोंका अनुमोदन साधुको नहीं लगता।

यदि असंयमकी इच्छा न रखने पर भी असंयतिको बचा देने मात्रसे साधु को असंयमका अनुमोदन लगे तो हिंसकको अहिंसाका उपदेश देनेसे भी असंयमका अनुमोदन लगना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुन कर हिंसक यदि असंयतिको न मारे तो वह असंयति जीवित रह कर असंयमका सेवन कर सकता है। इस प्रकार जिसने अहिंसाका उपदेशके द्वारा हिंसकसे असंयतिकी हिंसा रोक दी है वह उस असंयतिके असंयम सेवनका अनुमोदक क्यों नहीं होगा ? यदि उक्त अहिंसाका उपदेशक, हिंसाके छुड़ाने मात्रकी भावनासे उपदेश देता है हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा तथा उससे किए जाने वाले असंयम सेवनकी इच्छासे नहीं इस कारण उसे असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह जो प्राणियोंकी प्राणरक्षा और उनके आर्त्त रौद्र ध्यानको निवृत्त करने मात्रकी इच्छासे प्राणियोंकी प्राणरक्षा करता है

जीवकी प्राण रक्षा उसके असंयम सेवनका अनुमोदन करनेके लिये नहीं करता। साधु यह नहीं चाहता कि "यह असंयति जीवित रह कर असंयमका सेवन करे, या असंयम सेवन करना अच्छा है। साधु असंयम सेवनको बुरा जानता है इस लिये वह असंयम सेवनके लिये असंयतिकी रक्षा नहीं करता किन्तु असंयतिको आर्त रौद्र ध्यान और मरण भयसे मुक्त करनेके लिये उसकी प्राणरक्षा करता है अतः असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे साधुको असंयमका अनुमोदन बतलाना मिथ्या है। यदि इस तरह असंयमका अनुमोदन लगे तो फिर हिंसककी हिंसा छुडानेके लिये अहिंसाका उपदेश भी न देना चाहिये। क्योंकि धर्मोपदेश सुन कर हिंसक यदि असंयतिको न मारे तो उसकी प्राण रक्षा होगी और वह जीवित रह कर असंयमका सेवन भी कर सकता है। फिर एकान्त पाप कहने वाले, हिंसककी हिंसा छुडानेके लिये अहिंसाका उपदेश क्यों देते हैं ?

यदि कहो कि हम असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये हिंसकको अहिंसाका उपदेश नहीं देते किन्तु उसे हिंसाके पापसे मुक्त करनेके लिये देते हैं इसलिये हमें असंयतिकी प्राणरक्षा या असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह समझो कि हम भी असंयमका सेवन करानेके लिये असंयतिकी प्राणरक्षा नहीं करते किन्तु उसका आर्त रौद्र ध्यान मिटा कर मरण दुःखसे उसे मुक्त करनेके लिये करते हैं अतः हमें असंयम सेवन का अनुमोदन नहीं लग सकता। अतः हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें असंयम सेवनका नाम लेकर एकान्त पाप कहने वाले मिथ्यावादी हैं।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२१ पर लिखते हैं कि—

"जिम कोई कसाई पांच सौ पञ्चेन्द्रिय नित्य हणे छे। ते कसाईने कोई मारतो हुवे तो तिणने साधु उपदेश देवे तो तिणने तारिवा अर्थे पिण कसाईने जीवतो राखणे उपदेश न देवे, ए कसाई जीवतो रहे तो आछो इम कसाईनो जीवणो वाछ्यो नहीं। कसाई पञ्चेन्द्रिय हणे वह एकेन्द्रियादिक हणे छे ते माटे असंयति जीव ते हिंसक छे हिंसकनो जीवणो वाछ्यां धर्म किम हुवे" इनके कहनेका आशय यह है कि कोई पञ्चेन्द्रिय जीव को मारता है और कोई एकेन्द्रिय जीवको मारता है इस लिये साधुके सिवाय सभी जीव कसाईके समान हिंसक हैं उनकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म नहीं

किन्तु पाप है। जो कसाई प्रति दिन ५०० बकरा मारता है उसको कोई मारने लगे तो साधु उस मारनेवालेकी हिंसा छुड़ानेके लिये धर्मका उपदेश करता है कसाईकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश नहीं करता क्योंकि यदि कसाई बचेगा तो वह फिर ५०० बकरोंको रोज मारता रहेगा इसी तरह दूसरे असंयति यदि बचें तो वे भी प्रतिदिन एकेन्द्रियादि जीवोंका विनाश करेंगे अतः साधु हिंसाका पाप छुड़ानेके लिये हिंसकको उपदेश करता है हिंसकके हाथसे असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

साधु किसी की भी हिंसा होना पसन्द नहीं करता वह सबकी रक्षा करना चाहता है वह जैसे कसाईकी हिंसा करनेवालेको धर्मोपदेश देकर कसाईकी प्राणरक्षा करना चाहता है उसी तरह कसाईको धर्मोपदेश देकर उससे प्रति दिन मारे जाने वाले बकरोंकी भी प्राणरक्षा ही चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह कसाई जीवित रह कर प्रतिदिन बकरोंकी हिंसा करे किन्तु वह कसाई तथा इससे मारे जाने वाले प्राणी, सभी आर्त्तरौद्र ध्यान और मरण भयसे बचें यही कामना साधु करता है और इसके साथ साथ हिंसाके पापसे हिंसकको भी मुक्त करना चाहता है इसी भावसे प्रेरित होकर साधु धर्मोपदेश देता है और धर्मोपदेश देकर मरनेवाले प्राणीको आर्त्त रौद्र ध्यानसे और मारने वालेको हिंसाके पापसे मुक्त करता है। वह मरने वाले प्राणीके आर्त्त रौद्र ध्यान तथा मरण महा भयकी निवृत्तिका ही कामुक है उसके असंयम सेवन आदि बुराइयोंका इच्छुक नहीं है अतः असंयति जीवकी प्राणरक्षाके निमित्त धर्मोपदेश देनेसे उस असंयतिसे सेवन किये जाने वाले असंयम आदि बुराइयोंका अनुमोदन साधुको नहीं लगता।

यदि असंयमकी इच्छा न रखने पर भी असंयतिको बचा देने मात्रसे साधु को असंयमका अनुमोदन लगे तो हिंसकको अहिंसाका उपदेश देनेसे भी असंयमका अनुमोदन लगना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुन कर हिंसक यदि असंयतिको न मारे तो वह असंयति जीवित रह कर असंयमका सेवन कर सकता है। इस प्रकार जिसने अहिंसाका उपदेश द्वारा हिंसकसे असंयतिकी हिंसा रोक दी है वह उस असंयतिके असंयम सेवनका अनुमोदक क्यों नहीं होगा ? यदि उक्त अहिंसाका उपदेशक, हिंसाके छुड़ाने मात्रकी भावनासे उपदेश देता है हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा तथा उससे किए जाने वाले असंयम सेवनकी इच्छासे नहीं इस कारण उसे असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह जो प्राणियोंकी प्राणरक्षा और उनके आर्त्त रौद्र ध्यानको निवृत्त करने मात्रकी इच्छासे प्राणियोंकी प्राणरक्षा करता है

उनके असयम सेवनकी इच्छासे नहीं, उसको भी असयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता किन्तु मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा रूप महान धर्मका लाभ होता है। अत मरते प्राणी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे असयम या हिंसाका समर्थन बतलाना निरे जीवोंका कार्य समझना चाहिये।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७७ पर लिखते हैं —'अथ इहा तो पाग कह्यो जे म्हार कारण या जीवाने हणे तो ए कारज मोने परलोकमे कल्याणकारी नहीं इम विचारी पाछा फिरया पिण जीवाने छुडाया चाल्यो नहीं' तथा पृष्ठ १७८ लिखा है कि 'त्या जीवारे जीवणरे अर्थे तो नमिनाथजी पाछा फिरया नहीं। ए पा जीवारी अनुकम्पा कही तेहनो न्याय इम छै जे माहरा व्याहरे वास्ते या जीवने हणे सो मोने ए कार्य करवो नहीं इम विचारी पाछा फिरया" इत्यादि।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंको टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान किया जाता है —

> "सोऊण तस्स वयणं बहुपाणि विनासनं
> चिन्तेइ से महापन्ने सानुक्कोसो जिये हिउ। १८
> जइ मज्झ कारणा एए हम्मन्ति सुबहु जिया
> नमे एयतु निस्सेस पर लोगे भविस्सइ। १९
> सो कुण्डलाण जुगल सुत्तग च महा जसो
> आभरणानिच सव्वाणि सारहिस्स पणामइ" २०

(उत्तराध्यन अ० २२)

(टीका)

इत्थं सारथिनोक्ते यद्भगवान् विहितवांस्तदाह सुगम मेव नवरं तस्य सारथेः वचनं बहूनां प्रभूतानां प्राणानां प्राणिनां विनाशनं हननम् अभिधेयं यस्मिन् तद् बहुप्राणिविनाशनम्। सभगवान् सानुक्रोशः सकरुणः केषु "जीएहिउ" त्ति जीवेषु तु। यदि मम कारणादिति मद्विवाह प्रयोजने भोजनार्थत्वादमीषामिति भावः। हम्मन्ति हन्यन्ते

वर्तमान सामीप्ये लट् हनो हनिष्यन्ते इत्यर्थ । पाठान्तरम् "हम्मिहंति" त्ति, सुगमम् । सुवह्व अति प्रभूता 'जिय' त्ति जीवा एतदिति जीव हननं तु एव कार्यो नेत्यनेन योक्ष्यते नन नतु नेव नि श्रेयस कल्याण परलोक भविष्यति पाप हेतुत्वादस्येति भाव भवान्तरेषु परलोकभीरुत्वस्यात्यन्तमभ्यस्ततयैवमभिधान मन्यथा चरमशरीरत्वादति शयज्ञानित्वाच भगवत एवं विध चिन्तावसर । एवंच विदितभगवदाकूतेन सार थिना मोचितेषु सत्त्वेषु परितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह "सो' इत्यादि सुत्तकञ्चेति कटि सूत्र सर्पयतीति योग किमेतद्वत्याह आभरणानि सर्वाणि दोषाणीति गम्यत ।'

अथ —

इस प्रकार सारथीके कहने पर भगवान् नेमिनाथजीने जो किया वह इन गाथाओं में कहा गया है। बहुतसे प्राणियोंका विनाशरूप अर्थ को बतलाने वाले सारथी की बाणी सुन कर वह बुद्धिमान नेमिनाथ जी, उन प्राणियों पर दयायुक्त हो कर सो चने लगे।

यदि ये, बहुतसे प्राणी मेरे कारण यानी मेरे विवाहमें आये हुए लोगोंके भोज नार्थ मार जाए गे तो यह कार्य्य परलोकमें कल्याणकारक नहीं होगा। (यद्यपि भग वान् नेमिनाथजी अतिशय ज्ञानवान और चरम शरीरी होनेके कारण इसी भवमें मोक्ष जाने वाले थे अत उन्हें परलोककी चिन्ता करनेकी आवश्यकता न थी तथापि दूसरे भवोंमें परलोकमे डरनेका जो उनको अत्यन्त अभ्यास था उस अभ्यासके कारण उन्हें पूर्वोक्त चिन्ता हुई थी) भगवान् नेमिनाथजीका अभिप्राय समझ कर सारथीने जब उन प्राणियोंको बन्धनसे मुक्त कर दिया तब भगवान्ने प्रसन्न होकर कानोंके कुण्डल और कटिसूत्र तथा दूसरे सब आभूषण उतार कर सारथीको इनाम दे दिये। यह उक्त गाथाओं का टीकानुसार अर्थ है।

यहां मूलगाथामें कहा है कि "साणुक्कोसे जीएहिउ' अर्थात् उन प्राणियों पर भगवान् नेमिनाथजीको अनुकोश यानी दया उत्पन्न हुई। दया नाम दूसरेके दुःखको दूर करना यानी दुःखीकी रक्षा करना है कहा भी है "पर दुःख प्रहाणेच्छा दया' अर्थात् दूसरेके दुःखको दूर करनेकी इच्छाका नाम दया है। यदि मरते हुए प्राणीकी रक्षा करना एकान्त पाप होता तो भगवान् नेमिनाथजी को उन जीवों पर दया क्यों उत्पन्न होती अत उक्त गाथाओंसे मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना परम धर्म सिद्ध होता है।

जीतमलजीने जो यह लिखा है कि 'म्हारे कारण या जीवांने हणे तो एह काम मोने परलोकमें कल्याणकारी भलो नहीं इम विचारि पाछा फिरया पिण जावो छोड़ावो चाल्या नहीं' यह मिथ्या है। भगवान् नेमिनाथजी जीवांकी रक्षाके लिए और उनकी

मृत्युसे होने वाले पापसे बचानेके लिये नहीं लौटे थे किन्तु अपनी आत्माका पापसे बचानेके लिये ही नहीं अन्यथा उक्त मूलगाथामें "साणुक्कोसेजिए हिउ" यह पद व्यर्थ है। यह पाठ तभी सार्थक हो सकता है जब उन जीवोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान्‌का लौट जाना माना जाय। जो लोग जीवों पर दया करके उनकी रक्षाके लिये भगवान्‌का लौट जाना नहीं मानते उनके मतमें उक्त पाठ निरर्थक ठहरता है क्योंकि उनके मतमें लौटना तो अपनी अनुकम्पा है उन जीवोंकी नहीं इसलिये जीवरक्षाके लिये स उक्त गाथाका "साणुक्कोसेजिए हिउ" यह पाठ किसी प्रकार भी सार्थक नहीं हो सकता अतः उन जीवोंकी रक्षाके लिए भगवान् नहीं लौटे थे यह कहना मिथ्या है।

ऊपर लिखी हुई बीसवीं गाथामें लिखा है कि भगवान् नेमिनाथजीने अपने कानोंके कुण्डल, कटिसूत्र तथा सब सभी आभूषण उतार कर सारथीको इनाम दिये। यहां इनाम देनेका कारण बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि "विदित भगवदाकूत

नोट—कोई कोई एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवकी हिंसाको एक समान मान कर उनमें अल्प और महान रूप भेदका खण्डन करते हैं और एकेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसामें अल्प और महानका भेद बतलाने वालोंको हिंसाका अनुमोदक कहते हैं इसी तरह एकेन्द्रियकी दयासे पञ्चेन्द्रियकी दयाको प्रधान कहने वालोंको हिंसाका समर्थक बतलाते हैं परन्तु यह उनका अज्ञान है क्योंकि इसी उत्तराध्ययन सूत्रके २३ वें अध्ययनमें भगवान् नेमिनाथजीका विवाहके निमित्त जल स्नान करना लिखा है, जलके जीव, विवाह मण्डपमें बांधे हुए पशुओंसे असंख्य गुण अधिक थे फिर भगवान् नेमिनाथजी उन जलके जीवोंकी हिंसा देख कर स्नान करनेसे क्यों नहीं निवृत्त हो गये। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान् नेमिनाथजीने जलके जीवोंकी अपेक्षा मण्डपमें बांधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको बहुत ज्यादा पाप और एकेन्द्रियकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रियकी दया को बहुत ज्यादा उत्तम समझा था इस लिये वह जलस्नानसे तो निवृत्त न हुए परन्तु मण्डपमें बांधे हुए पशुओंकी रक्षार्थ निवृत्त हो गये थे। यद्यपि भगवान् नेमिनाथजी तीन ज्ञानके धनी होनेके कारण अपना विवाह न होना जानते थे और उनसे पूर्व तीर्थंकरोंने भी २२ वें तीर्थंकरको बाल ब्रह्मचारी रह कर दीक्षा ग्रहण करना कहा था तथापि एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी दयाका महत्व बतानेके लिये भगवानने जल स्नानमें कोई आपत्ति नहीं की परन्तु विवाह मण्डपमें बांधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंको देख कर सहसा हट गये थे।

सशोधक।

सारथिना मोचितेषु सत्त्वेषु परितोषितो [illegible] अर्थात् भगवान्‌का अभि-
प्राय समझ कर जब सारथीने उन जीवोंको मुक्त कर दिया तब भगवान्‌ने सारथी पर
प्रसन्न होकर उसे इनाम दिया था यह श्रीशीलाङ्काचार्यने कहा है। श्रीनेमिनाथचरित्रमें भगवान्‌का
अभिप्राय समझ कर उन जानवरोंको मुक्त करना, और इस कारण प्रसन्न होकर भगवान्
का सारथीको इनाम देना स्पष्ट कहा गया है। यदि जीवरक्षा करनेमें पाप होता तो
भगवान् उन जीवोंकी रक्षा करनेके कारण सारथी पर प्रसन्न हो कर उसे इनाम क्या
देते? क्या उन जीवोंकी रक्षामें भगवान्‌का भाव कहाँ होता? अतः उक्त
प्रमाणसे जीवकी रक्षा करना धर्म सिद्ध होता है। जो लोग जीव
रक्षा को एकान्त पाप कहते हैं उन्हें शास्त्र द्रोही और निर्दय समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रश्न)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १०७ के ऊपर ज्ञाता सूत्र प्रथम अध्ययनका
मूलपाठ लिख कर उसकी टब्बामें लिखते हैं कि "इसी मेघकुमारने जीव हाथीरा भवे
सुसलारी अनुकम्पा करी परीत संसार कियो। अने कई कहे मण्डलामें घणा जीव बच्या
त्यां घणा प्राणी री अनुकम्पा सूं परीत संसार कियो छै ते सूत्रना अजाण छै एक
सुसलारी अनुकम्पा हाथीरी परीत संसार कियो छै। (भ्र० पृ० १०७)

इसका क्या उत्तर ।

(प्रत्युत्तर)

हाथीने केवल शशककी अनुकम्पासे परीत संसार किया है बाकी जीव, जो
मण्डलमें बचे थे उनकी अनुकम्पासे संसार परीत नहीं किया यह कथन अविवेकका सब
से बड़ा उदाहरण है। जब भ्रमविध्वंसनकार एक जीव शशककी अनुकम्पासे संसार
परिमित होना स्वयं ही स्वीकार करते हैं तब अनेक जीवोंकी अनुकम्पा से न होनेकी क्या
बात है। एक प्राणीकी अनुकम्पासे जब संसार परीत हो सकता है तो अनेक जीवोंकी
अनुकम्पासे और भी अधिक धर्म ही होगा। यह एक ऐसी साधारण बात है कि जिसे
बालक भी समझ सकता है। खैर! अब देखना यह है कि हाथीने केवल शशककी अनु
कम्पा की या बहुत जीवों की? यदि हाथीको शशककी ही अनुकम्पा करनी इष्ट थी
दूसरोंकी नहीं तो वह अपना उठाया हुआ पैर शशकके ऊपर नहीं रख कर दूसरे प्राणी
पर रख देता परन्तु उसने ऐसा नहीं करके अढ़ाई दिन तक पैर ऊपर ही उठाये रक्खा
इससे स्पष्ट है कि हाथी शशकके साथ और भी प्राणियोंकी रक्षा करना चाहता था।

इसी बातको सूत्रकारने "पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि चार पद देकर स्पष्ट कर दिया है।

कुछ लोग कहते हैं कि हाथीने बचाव रूप अनुकम्पा नहीं की थी किन्तु न मारने रूप अनुकम्पा की थी और इसीसे उसने संसार परीत किया था। पता नहीं कैसे उन लोगोंने यह बात जान ली कि हाथीका विचार जीवोंको बचानेका नहीं था। जानने के दो ही मार्ग हैं—या तो हाथीने आकर स्वयं उनसे ऐसा कहा हो या उन्होंने ही मन पर्य्यव ज्ञानसे जाना हो। इन दोनों उपायोंमेंसे एक भी सम्भव नहीं है ऐसी दशामें सूत्र पाठका ही आश्रय लेना पड़ता है। सूत्र पाठमें ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिससे यह जाना जा सके कि हाथीका विचार जीवरक्षा करनेका नहीं था वरन् स्पष्ट शब्द 'पाणाणुकम्पयाए' इत्यादि शब्द दिये हैं यदि उसने पापसे बचनेके लिये ही न मारने रूप अनुकम्पा की होती तो वह अनुकम्पा मुख्य रूपसे उसी (हाथी) की ही होती अतः भ्रमविध्वंसन कारने भी ऐसा नहीं लिखा कि हाथीने अपनी अनुकम्पासे संसार परीत किया किन्तु शशककी अनुकम्पासे वे संसार परीत होना मानते हैं और पाठमें "अप्पाणुकम्पयाए" या "प्राणाहिंसयाए" इत्यादि पाठ नहीं हैं अतः जो लोग पाप भयसे न मारने रूप अनुकम्पा से ही संसार परीत होना मानते हैं जीव रक्षा रूप अनुकम्पासे नहीं उनके मतसे "पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि पाठ मिथ्या ठहरता है इस लिये यही मानना उचित है कि हाथीने प्राणियोंकी रक्षा रूप अनुकम्पासे संसार परीत किया क्योंकि "पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि पाठसे बचाव रूप दया अर्थ ही निकलता है। जो शशक हाथीके पैर रखनेकी जगह आया था उसे बलवान प्राणी सता रहे थे हाथीने मरनेसे डरनेवाले को स्थान उसे दिया और स्वयं मारा भी नहीं इससे सिद्ध होता है कि औरोंको स्वयं भी न मारे और यदि दूसरा मारता हो तो ऐसी सामग्री दे कि उसके प्राणोंकी रक्षा हो जाय। अतः हाथीने एक शशककी अनुकम्पासे ही परीत संसार किया। दूसरेकी अनुकम्पासे नहीं यह कहने वाले मिथ्यावादी हैं।

भीखणजीने इस विषयमें लिखा है कि —

"कहे ससा लिया पापसो डरतो, मन दढ स ठि राखी निज काया।'
ससा जीव म्यानउ दयि, सु न सूमता सही बाहिरे न पाया।"

(पद भीखणजी का)

इनके कहनेका भाव यह है कि हाथीने पापसे डर कर मनको दृढ़ और शरीरको मजबूत रक्खा परन्तु शशकके भयसे डरे हुए आत्माको सुरक्षित पकड़ कर बाहर नहीं निकाला था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण रक्षा रूप दया करना एकान्त पाप है" परन्तु यह उनका

र्भविरेक पूरा है। हाथीके आनेके पहले ही उसका मण्डल जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि स्वयं हाथीको भी अपने उठाये हुए पैर को नीचे रखनेका स्थान नहीं मिला ऐसी हालत में वह हाथी दावानलमें जलते हुए जीवोंको लाकर कहां रखता और उनको लानेके लिए वह किस मार्गसे जाता क्योंकि वह स्थान जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि कहीं भी पैर रखनेकी जगह नहीं थी अत भीखणजीका पूर्वोक्त कथन एकान्त मिथ्या समझना चाहिये। वास्तवमें हाथीने शशकको प्राणरक्षाके लिये अपना उठाया हुआ पैर नीचे नहीं रक्खा और दूसरे प्राणियोंकी प्राण रक्षाके लिये दूसरी जगह भी नहीं रक्खा अत हाथीके उदाहरणसे जीवरक्षामें पाप बतलाना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य्य है।

बोल ८ वां समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३४ पर सुयगडाङ्ग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे कह्यो जीवांने मार तथा मत मार एहवूं पिण वचन न कहिणो इहां ए रहस्य—मारणो मत मारो तो साधुने उपदेश छै ते तारिवाने अर्थे उपदेश देवे अने इहां कह्यो द्वेष आणीने हणो इम पिण न कहिणो अनेरा जीवरे राग आणीने मत हणो इम पिण न कहिणो मध्यस्थपणे रहिणो' (भ्र० पृ० १३४)

इनके कहनेका भाव यह है कि हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा के लिये 'मत मार' कहना मरते जीव पर राग करना है, किसी जीव पर राग करना साधुको उचित नहीं है अत मरते जीवकी प्राण रक्षा करनेके लिये साधुको 'मत मार' यह उपदेश न देना चाहिये।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रम विध्वंसनकारने सुयगडाङ्ग सूत्रकी गाथाका मूल अर्थ बतलाते हुए जो यह लिखा है कि "अथ अठे कह्यो जीवांने मार तथा मत मार एहवूं पिण वचन न कहिणो' यह अर्थ ही मिथ्या है। भ्रम विध्वंसनकार इस गाथाका ठीक ठीक अर्थ नहीं समझ सके। इस गाथामें कहा है कि

" वज्झा पाणा न वज्झेति इति वायं न नीसरे "

इसका अर्थ करते हुए शीलाङ्काचार्य्य अपनी टीकामें लिखते हैं "वध्यांश्च पारदारिकान्योऽवध्यांश्चा तत्कर्मानुमति प्रसंगादित्येवं भूता वाचं स्वानुष्ठान परायण साधु पर व्यापार निरपेक्षो न निसृजेत्" अर्थात् वध दण्ड देने योग्य चोर और पर दारिक प्राणीको साधु, वध दण्ड न देने योग्य निरपराधी न कहे क्योंकि अपराधीको निर पराधी कहनेसे साधुको उसके कार्यका अनुमोदन लगता है अत अपने अनुष्ठानमें पर यण और दूसरोंके व्यापारसे निरपेक्ष साधुको पूर्वोक्त बात न कहनी चाहिये। यह मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है। यहां मार और मत मार न कहनेका कोई प्रसंग नहीं है यहां तो वध दण्ड देने योग्य अपराधीको निरपराधी कहनका निषेध किया है अत इस गाथाका नाम लेकर निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये मत मार कहनेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

आगे चल कर इस गाथाका तात्पर्य बतलाते हुए भ्रमविध्वंसन कारने जो यह लिखा है कि 'द्वेष आणीने हणो इम पिण न कहिणो, अनेरा जीवारे राग आणीने मत हणो इम पिण न कहिणो" यह भी अयुक्त है क्योंकि मूल गाथामें न तो राग शब्द है और न द्वेष शब्द, परन्तु भ्रम विध्वंसनकारने दया धर्म को पाप बतलानेके लिये अपने मनसे राग और द्वेष घुसेड दिये हैं। इस गाथामें भाषा सुमतिका उपदेश किया गया है राग द्वेषकी कोई चर्चा नहीं है अत मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें रागका नाम लेकर पाप बतलाना मूलगाथाका अभिप्राय न समझनेका परिणाम है।

अब शीलाङ्काचार्य्य की टीका लिख कर इसका अर्थ बतलाया जाता है जिससे उक्त टीकाका नाम लेकर भ्र० वि० कारका फैलाया हुआ भ्रम दूर हो जाय। "तथाहि सिंह व्याघ्र मार्जारादीन् परसत्वव्यापादन परायणान् दृष्ट्वा साधुना माध्यस्थ्य मवलंबनीय तथाचोक्तम्—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्यानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमाना विनेयेषु"

अर्थात् जीवोंकी हिंसा करनेमें तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, मार्जार आदि प्राणियोंको देख कर साधु माध्यस्थ होकर रहे। कहा है कि सब जीवोंके साथ मैत्री और अधिक गुणवानोंमें प्रमोद, क्लेश पाते हुए जीवों पर करुणा और अविनेय प्राणियों पर मध्यस्थ भाव रखना चाहिये।

यहां टीकामें "सिंह व्याघ्र मार्जारादीन्' इस पदमें जो आदि शब्द आया है उससे पञ्चेन्द्रियघातक महारम्भी प्राणियोंका ग्रहण होता है साधुके सिवाय सभी जीवोंका नहीं इसलिए सिंह व्याघ्र और पञ्चेन्द्रिय जीवोंका विघातक प्राणियोंके विषयमें ही मौन रहना या मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र सम्मत है क्लेश पाते हुए हीन दीन दुःखी जीवोंके

निरास नहीं उन पर करुणा करना साधुओंका परम धर्म है। इसलिये जो मरते प्राणी पर दया नहीं करता और दया करने उसकी रक्षा करने का उपदेश नहीं देता वह अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि है एवं शास्त्रीय रहस्यका ज्ञाता नहीं है। जो लोग इस टीकाका आश्रय लेकर साधुके सिवाय सभी जीवोंका मरना होना मान कर साधुके सिवाय सभी जीवों को हिंसक और सभीके विषयमें मध्यस्थ भाव रखनेका उपदेश देते हैं वे बिल्कुल मूर्ख हैं। यदि साधुके सिवाय सभी हिंसक हैं और सभीके विषयमें मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र सम्मत है तो फिर मैत्री, प्रमोद, और कारुण्य किस पर रक्खे जाएंगे? अतः इस टीका का नाम लेकर साधुके सिवाय सभी प्राणियोंको हिंसक और उपदेशके द्वारा उनकी प्राण रक्षा करनेमें पाप बताना एकान्त मिथ्या है वास्तवमें पञ्चेन्द्रिय घात आदि महारम्भका कार्य करने वाले जो प्राणी समझाने पर भी नहीं समझ सकते हैं उन्हींके विषयमें मौन रहने का या मध्यस्थ भाव रखनेका यहां उपदेश किया है मरते प्राणी पर दया करके उपदेश देनेका निषेध नहीं किया है उन पर करुणा करना ही चाहिये, जो नहीं करता और करुणा करनेमें पाप कहता है उसे निर्दय और प्राणियोंका द्रोही समझना चाहिये।

(बोल ९ वा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३५ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ इहां कह्यो गृहस्थ मांहो मांहि लड़े छै मार दे आदि करे छै तो इम चिन्तवणो नहीं एहनो आक्रोश हणो रावो उद्वेग दुःख उपजावो। तथा एहने मतहणो मत आक्रोशो मत रोको उद्वेग दुःख मत उपजावो इमि चिन्तवणो नहीं। एहना ए परमार्थ जे एहनो आगला जीवणो वाञ्छनो इम न चिन्तवणो ए वापडाने मतहणो उद्वेग दुःख न द्यो। तो साधु धर्मकिहाथी जीवणो वाञ्छ्या धर्म किम कहिए अने जे हग तहने पाप टालिवाने तारिवाने उपदेश देई हिंसा छोडावे ते तो धर्म छै" (भ्र० पृ० १३५।१३६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है—

"आयाण मेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावईया जाव कम्मकरीवा अन्नमन्नं आक्कोसंतिवा

निवासभूत गृहमें क्या नहीं रहते ? क्योंकि आपके हिसाबसे मरते प्राणी की प्राणरक्षा करनेकी भावना न करता हुआ साधु यदि गृहस्थके निवासभूत गृहमें भी रहे तो उसे कर्मबन्ध नहीं हो सकता है तथा दूसरी जगह रहता हुआ भी यदि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा की भावना करे तो उसे कर्मबन्ध होगा। ऐसी दशामें गृहस्थके निवासभूत मकानमें ही साधुका रहना इस पाठमें क्यों वर्जित किया गया है ? फिर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा की भावना करना वर्जित कर देते परन्तु शास्त्रकारने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेकी भावनाको वर्जित नहीं करके गृहस्थके निवासभूत मकानमें साधुका रहना वर्जित किया है अतः मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश आदिमें पाप कहना अज्ञान है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३७ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे इम कह्यो जे अग्नि लगाय तथा मत लगाय बुझाय इम पिण साधुने चिन्तवणो नहीं। जो लाय मत लगाय इहां रयूं आरम्भ छै ते भणी इमो चिन्तवणो नहीं। इहां ए रहस्य —जे अग्निथी कीड़ियाँ आदि घणा जीव मरसे त्यां जीवांरे जीवणो वाञ्छीने इम न चिन्तवणो जे अग्नि मत लगाय। अने अग्निरो आरम्भ तेहनो पाप टालिवा तेहने तारिवा अग्निरा आरम्भ करवारा त्याग करायां धर्म छै पिण जीवणो वांछ्यां धर्म नहीं" (भ्र० पृ० १३७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है —

"आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स इह खलु गाहावई अप्पणो सयट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जा वा पज्जालिज्जा वा विज्झविज्जा वा, अह भिक्खू उच्चावयं मणं नियच्छेज्जा एए खलु अगणिकायं उज्जालेंतु वा मा वा उज्जालेंतु वा पज्जालेंतु वा मा वा पज्जालेंतु विज्झवेंतु वा मा वा विज्झवेंतु वा"

(आचारांग

अर्थ —

गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण होता है। गृहस्थ सब कार्य्योंके लिये आग जलावे या बुझावे उस समय यदि साधुका मन ऊंचा नीचा हो जाय कि गृहस्थ आग न जलावे या जलावे बुझावे या न बुझावे तो यह कर्मबन्धका कारण होता है इस लिये गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुको नहीं रहना चाहिये। यह इस पाठका अर्थ है।

इस पाठमें अग्नि जलानेसे मरने वाले कीड़े आदिकी रक्षाके लिये साधुको अग्नि नहीं जलानेकी भावना नहीं करनी चाहिये यह नहीं कहा है इसलिये अग्नि जलानेसे मरने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये अग्नि नहीं जलानेकी भावनाको कर्मबन्धका कारण बताना भ्रमविध्वंसनकारका अज्ञान है।

भ्रमविध्वंसनकारको जीवरक्षा न करना ही इस पाठका रहस्य सूझा है परन्तु इस का कारण क्या अपना स्वार्थ नहीं हो सकता है? जैसे कि साधुको शीतकी पीड़ा हो रही हो तो उसके मनमें ऐसी भावना होना सम्भव है कि यह गृहस्थ आग जलावे तो अच्छा हो, एवं गर्मी लगने पर यह भावना होना भी सम्भव है कि यह गृहस्थ आग न जलावे तो अच्छा हो। इस प्रकार अपने स्वार्थके लिये साधुके मनमें आग जलाने और न जलानेकी भावना हो सकती है। ऐसी भावना गृहस्थके निवास स्थानमें रहने वाले साधुके मनमें सम्भव होना देख कर शास्त्रकारने गृहस्थके निवास स्थानमें साधुका रहना वर्जित किया है जीव बचानेके लिये उक्त भावनाका होना कर्मबन्धका कारण नहीं कहा क्योंकि जीव बचाना और जीव बचानेके लिये जगतको उपदेश देना तो साधुका प्रधान कर्त्तव्य है सच पूछिये तो जैनागमका निर्माण ही जीवरक्षाके लिये हुआ है अत एव प्रश्न व्याकरण सूत्रमें "सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" यह पाठ आया है। अतः जीवरक्षामें पाप कहना और जीवरक्षाके लिये आग नहीं जलानेकी भावनाको कर्मबन्धका कारण बतलाना शास्त्रका रहस्य नहीं समझनेका फल है।

भ्रमविध्वंसनकारने जो इस पाठकी व्याख्या की है उससे तो यहांका सारा का सारा सिद्धान्त ही विपरीत हो जाता है। भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि "आगमें जल कर मरने वाले जीवोंकी रक्षाके भावसे साधु यदि आग नहीं जलानेकी भावना करे तो यह कर्मबन्धका कारण है" इनके हिसाबसे साधु यदि आगमें जल कर मरने वाले जीवों की रक्षाकी भावनासे रहित होकर स्वार्थवश आग न जलाने की भावना करे और गृहस्थके निवासभूत गृहमें रहे तो दोष न होना चाहिये। परन्तु इनके हिसाबसे तो साधुको गृहस्थके निवासभूत मकानमें ही रहना चाहिये क्योंकि वहां रहनेसे जब जब

गृहस्थ आग जलाना या बुझाना चाहेगा तब तक साधु उस समझा बुझा कर आग जलाने या बुझानेका निषेध कर सकता है इस प्रकार गृहस्थके संरक्षण और ज्यादा सुविधा ही होगी परन्तु शास्त्रकार गृहस्थके मकानमें साधुका रहना वर्जित करते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने स्वार्थ के लिये ही साधुको पूर्वोक्त भावना करना बुरा है आग रक्षा करना बुरा नहीं है अतः उक्त पाठका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना अज्ञान समझना चाहिये।

(बोल ११ वा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं — "अथ अठे पिण कह्यो जीव नो मरणो आपणो वाञ्छणो नहीं वा मारणो वयान वाञ्छणी" इत्यादि लिख कर हिंसक के हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें एकान्त पाप बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसन कारने भ्र० वि० पृ० ३५८ में लिखा है कि "अथ अठे कह्यो साध्वी पानीमें डूबतीन साधु बाहिर काढे तो आज्ञा उल्लंघ नहीं" इनसे मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि साधु जब कि अपना या दूसरेका जीवन ही नहीं चाहता तब वह पानीमें डूबती हुई साध्वीको क्यों निकालता है ? तथा अपनी प्राण रक्षाके लिये साधु क्यों आहार करता है ? उत्तराध्ययन सूत्र २६ वें अध्ययनमें अपनी प्राण रक्षाके लिये साधुको आहार करनेका विधान किया गया है वह गाथा यह है —

"वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए
तह पाण वत्तियाए छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए"

अर्थात् (१) क्षुधा और पिपासासे उत्पन्न हुई वेदनाकी निवृत्तिके लिये (२) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य गुरु आदिकी सेवा नहीं कर सकता अतः गुरु आदिकी सेवा करनेके लिये (३) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य विधिवत् ईर्या समितिका पालन नहीं कर सकता अतः ईर्या समितिका पालन करनेके लिये (४) क्षुधातुर होकर यदि सचित्त वस्तुका आहार कर लेवे तो संयम हो नहीं कायम रह सकता अतः संयमकी रक्षाके लिये (५) अपने प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये (६) धर्मका चिन्तनके लिये साधुको आहार पानीका अन्वेषण करना चाहिये।

यहां स्पष्ट लिखा है कि अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये साधुको आहार पानीका अन्वेषण करना चाहिये और टीका कारने भी लिखा है कि "पाणवत्तिया प'त्ति प्राण प्रत्यय जीवन निमित्तम् अविधिनाह्यात्मनोऽपि प्राणोपक्रमणे हिंसा स्यात्।"

अर्थात् अपने जीवनकी रक्षा करनेके लिये साधुको आहारका अन्वेषण करना चाहिये क्योंकि शास्त्रीय विधिसे विपरीत अपने प्राणोंको छोड़ना भी हिंसा करना है। यह उक्त टीकाका अर्थ है। यहां टीकामें साधुको अपने जीवनकी रक्षाके लिये आहार करना बतलाया है और मूल पाठमें भी यही बात कही है इस लिये साधु अपने जीवनकी रक्षा नहीं करते यह कहना मिथ्या है। जब कि साधु अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं तब यह दूसरे प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देवें तो इसमें पाप कैसे हो सकता है? यह बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये। उत्तराध्ययन सूत्रकी ऊपर लिखी हुई गाथामें जैसे अपने प्राणकी रक्षाके लिये साधुको आहार करनेका विधान किया गया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ९ में पृथिवी काय आदिकी रक्षाके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है। वह पाठ यह है —

"फासु एसणिज्ज भुंजमाणे समणे निग्गंथे आयाए धम्मं नाइक्कमइ आयाए धम्मं अणइक्कममाणे पुढविकायं अवकखइ जाव तसकायं अवकखइ"

(भ० श० १ उ० ९)

अर्थ —

जो साधु प्रासुक और एषणिक आहार लेता है वह अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता और अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता हुआ साधु पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायकी प्राण रक्षा करना चाहता है।

यहां पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायके प्राणियोंकी प्राणरक्षा करनेके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणियोंकी प्राण रक्षा करना भी साधुका कर्तव्य है। अतः ठाणाङ्ग सूत्रका नाम लेकर अपनी तथा दूसरेकी प्राण रक्षा साधु नहीं चाहते यह कहने वाले अज्ञानी हैं।

ठाणाङ्ग सूत्रके दशवें ठाणामें साधुको प्राप्त जीवनकी इच्छा करना वर्जित नहीं की है किन्तु चिर काल तक जीते रहनेकी इच्छा वर्जित की गई है। वहां साधुको "जीवनाशंसा"का निषेध किया है "आशंसा" नाम है नहीं पायी हुई चीजके पानेका है। अभिधान राजेन्द्र कोषमें लिखा है "अप्राप्त प्रापणमाशंसा" अर्थात् नहीं पायी हुई चीजको पाना आशंसा

है। इस प्रकार जो जीवन प्राप्त करता है उसके पापोंकी इच्छा करना यानी चिर काल तक जीनेकी इच्छा करना 'जीविताशंसा' कहलाती है वही साधुके लिये वर्जित की गई है परन्तु अन्य जीवोंकी रक्षा वर्जित नहीं की है अतः उपासकदशांग और पूर्वोक्त भगवतीके मूल पाठसे ठाणांग सूत्रका स्पष्ट ही विरोध होता अतः ठाणांग सूत्रके मूल पाठ का नाम लेकर साधु अपने और दूसरेका जीवन नहीं चाहता यह कहना अज्ञान तथा एकान्त मिथ्या है।

कोई कोई कहते हैं कि "असंयतिकी प्राण रक्षा करनेसे असंयमका अनुमोदन लगता है" उनसे कहना चाहिये कि जो काम जिसको अच्छा नहीं लगता उसका अनुमोदन उसको नहीं लग सकता। साधु असंयतिको असंयम सेवनके लिये उपदेश नहीं देता और उसके असंयम सेवनको वह अच्छा भी नहीं समझता बल्कि वह असंयतिको असंयम सेवनका त्याग करनेके लिये उपदेश देता है फिर असंयतिकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देनेसे साधुको उसके असंयमका अनुमोदन कैसे लग सकता है ? यदि असंयति के बच जानेसे साधुको असंयमका अनुमोदन लग जाय तो फिर कसाईको तारनेके लिये भी अहिंसाका उपदेश न देना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुनकर कसाई यदि असंयतिको न मारे तो वह बच सकता है और बच कर वह असंयमका सेवन कर सकता है। फिर कसाईको तारनेके लिये अहिंसाका उपदेश देने वालेको असंयमका अनुमोदन क्यों नहीं लगता ? यदि कहो कि कसाईको तारनेके लिये उपदेश देनेपर यद्यपि असंयति बच जाता है और बच कर वह असंयमका सेवन भी कर सकता है तथापि साधुको असंयमका अनुमोदन नहीं लगता क्योंकि उसने असंयम सेवन करानेके लिये कसाईको अहिंसाका उपदेश नहीं दिया है तो इसी तरह यह भी समझो कि मरते प्राणी की प्राण रक्षा करनेके लिये जो उपदेश देता है वह उस प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुड़ाना चाहता है और कसाईको भी पापसे बचाना चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह प्राणी असंयमका सेवन कर तो अच्छा हो इस लिये मरते हुए असंयति प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुड़ानेके लिये उसकी प्राण रक्षा करनेसे असंयमका अनुमोदन बतलाना मिथ्या वादियोंका कार्य्य है।

(बोल १२ वां)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर सुय० सू० अ० १० गाथा २४ एवं सूय० श्रु० १ अ० १३ गाथा २६ वीं को लिख कर बतलाते हैं कि इन गाथा

ओंमे साधुको अपने जीने और मरनेकी इच्छा करना वर्जित की गई है अतः दूसरेके मरने और जीनेकी इच्छा भी न करनी चाहिये। इस प्रकार साधु जब कि दूसरे प्राणीके जीवनकी ही इच्छा नहीं रखता तब फिर वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश कैसे दे सकता है? अतः मरते प्राणीको प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

सुय गडाग सूत्रकी दो गाथाओंका नाम लेकर हिंसक के हाथसे मारे जाते वाले प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये धर्मोपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है। उन गाथाओं में भी ठाणांग ठाणा दशमें कहे हुये "जीविताशंसा सप्रयोग" मरणाशंसा सप्रयोग" की तरह साधुको चिर काल तक जीवित रहने और शीघ्र मर जानेकी इच्छा ही वर्जित की गई है यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणकी इच्छा वर्जित नहीं की है अन्यथा उत्तराध्ययन सूत्रकी पूर्व लिखित गाथाके साथ सूय० की गाथाओंका भी विरोध पड़ेगा क्योंकि उत्तराध्ययनकी पूर्व लिखित गाथामें, साधुको अपने जीवन रक्षार्थ आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है और भगवतीजीके पूर्व लिखित पाठमें पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायकी रक्षाके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है एसी दशामें सूय गडाग सूत्रकी गाथाओंमें साधुको अपने जीवन और मरणकी इच्छा करना नहीं वर्जित की जा सकती है? क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र और भगवतीके उक्त पाठोंसे विरोध पड़ता है अतः सुय गडाग सूत्रकी गाथाओंका यही भाव है कि साधु चिर काल तक जीवित रहने और शीघ्र मर जानेकी इच्छा न करे यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणका इच्छाका निषेध नहीं किया है। अतएव सुय गडाग सूत्र की उक्त गाथाओंकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि—

"जीवित मसंयम जीवित दीर्घायुष्कं वा स्थावर जंगम जन्तुदण्डेन नाभिकांक्षी स्यात्'

अर्थात् साधु, स्थावर जंगम जन्तुओंको दण्ड देकर असंयमके साथ जीवित रहने, या चिर काल तक जीवित रहनेकी इच्छा न करे।

यहां प्राणियोंको हिंसा करके तथा चिर काल तक जीवित रहनेकी इच्छा करना साधुको वर्जित की गई है परन्तु प्राणियोंकी रक्षा करके और यथा प्राप्त जीवित रहनेकी इच्छा वर्जित नहीं की है। इस लिए साधु भावकी रक्षाके साथ यथा प्राप्त जीवनकी इच्छा करते हैं और दूसरा इसलिए प्रेरित होकर वे मरते प्राणी की प्राण रक्षाके लिये उपदेश

भी इन हिंसाके करने और मरने वाले दोनो ही स थे जीव रक्षा करनेका उपदेश देते हैं। यह साधुका परम धर्म है कि वह जीव रक्षा करनेका आदेश जगह जगह पड़ता हैं और सभी जीवोंको हिंसकको छुड़ाने कहा हैं। यह कहा जा चुका है कि जीव रक्षाके लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है। अतः जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें जो एकान्त पापकी स्थापना करते हैं वह तव प्रकारसे हिंसक और मिथ्या दृष्टि हैं।

सुयगडांग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें "नो जीवियं नो मरणाभिकंखी" इस वाक्यमें "नो अभिकंखी" ये पद आये हैं इनको देख कर यह भ्रम जाल्म पड़कर कहने लगते हैं कि "यहां तो जीवनकी इच्छा करना साफ साफ वर्जित की गई है फिर साधु किसी मरते प्राणीकी रक्षा क्यों कर सकता है? उन भ्रांत पुरुषोंसे कहना चाहिये कि जैसे सुयगडांग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें "नो अवकंखेज्ज" यह पाठ आया है उसी तरह भगवती शतक १ उद्देशा ९ में "पुढवी काय अवकंखेइ जाव तसकायं अवकंखेइ" इस पाठमें "अवकंखेइ" यह पाठ आया है इसका अर्थ, पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायके जीवोंकी जीवनरक्षा की इच्छा करना है इसके विरुद्ध सुयगडांग सूत्रमें जीवन रक्षा की इच्छा करना कैसे वर्जित की जा सकती है? अतः सुयगडांग सूत्रके उक्त पाठका यही आशय है कि साधु चिरकाल तक जीते रहनेकी इच्छा नहीं करे यथाप्राप्त जीवन रक्षाकी इच्छा करनेका निषेध नहीं है अतः सुयगडांग सूत्रका नाम लेकर जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप कहना एकान्त मिथ्या है।

[बोल १३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ १४०। १४१। १४२ के ऊपर सुयगडांग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ गाथा १० तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ३ उ० ४ गाथा १५ एवं उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ५ गाथा ३ तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० १ गाथा ३ और उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० २ उ० २ गाथा १६ का नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करनेमें पाप बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारकी लिखी हुई सुयगडांग सूत्रकी गाथाओंमें छः कायके जीवोंकी हिंसा करके साधुको जीवित रहनेकी इच्छाका निषेध किया गया है परन्तु छः कायके

जीवोंकी रक्षाके साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं वर्जित की है अतः उक्त गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना मूर्खता है।

सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ वें दशवीं गाथामें लिखा है कि "जीवियं पीट्ठ ओकिच्चा" इसका भाव यह है कि "साधु असंयम (हिंसा) सहित जीवनको पीठ दे देवे" इससे प्राणियोंकी रक्षाके साथ जीवित रहना स्पष्ट सिद्ध होता है।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० ३ उ० ४ थे गाथा १५ में भी असंयम यानी हिंसा के साथ जीना ही निषेध किया गया है रक्षाके साथ जीनेका निषेध नहीं किया है वहां जो "नाव कंखाति जीवियं" यह वाक्य आया है उसका यही आशय है कि "साधु असंयम (हिंसा) के साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करता" इससे जीवरक्षाके साथ जीवन की इच्छा करनेका निषेध नहीं सिद्ध होता। एवं सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३ में अपने जीवनके निमित्त दूसरे प्राणियोंको भय देने, और हिंसादि पापोंके आचरण करनेसे नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करने से नरक होना नहीं कहा है देखिये वह गाथा यह है—

"जेकेइ बाले इह जीवियट्ठी पावाइ कम्माइ करेंति रुद्दा। ते घोर रूवे तिमिसन्धयारे तीव्वाभितावे नरए पतन्ति"

(सूय० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३)

अर्थ—

अर्थात् जो अज्ञानी पुरुष, अपने जीवनके लिये दूसरे प्राणियोंको भय देता है और हिंसादि घोर कर्म करता है वह तीव्र तापयुक्त अन्धकार परिपूर्ण घोर नरकमें पड़ता है।

यहां प्राणियोंको भय देने, और उनकी हिंसा करनेसे नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करनेसे नरक जाना नहीं कहा है अतः इस गाथाका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिये उपदेश देनेमें पाप बतलाना एकान्त मिथ्या है।

इसी तरह सुय० श्रु० १ अ० १० गाथा तीसरीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बताना मिथ्या है देखिये वह गाथा यह है—

"सुयक्खाय धम्मे वितिगिच्छतिन्ने
लाढे चरे आय तुले पयासु
आयन कुज्जा इह जीवियट्ठी
चय न कुज्जा सुतवस्सिभिक्खू"

(सूय० श्रु० १ अ० १० गाथा ३)

अर्थ —

अर्थात् वीतराग भाषित धर्मका आचरण करने वाला संगरहित, ज्ञान दर्शन सम्पन्न उत्तम तपस्वी साधु प्रासुक आहारसे अपना जीवन निर्वाह करे और संयमके पालनमें सदा दत्त चित्त रहे तथा सब प्राणियोंको आत्म तुल्य देखता हुआ आस्रव का सेवन नहीं करे एवं असंयम जीवन (हिंसा के साथ जीवन) और परिग्रह रूप संचय की इच्छा नहीं करे। यह इस गाथा का अर्थ है।

इस गाथामें कहा है कि "साधु अपने समान सब प्राणियोंको देखे" अत अपने समान सब प्राणियोंको देखना जब साधुका कर्त्तव्य है तो जिस प्रकार साधु अपनी रक्षा करनेमें पाप नहीं समझता उसी प्रकार उसे किसी भी प्राणीकी रक्षा करनेमें पाप नहीं समझना चाहिये। इस प्रकार इस गाथामें जीवरक्षा करना साधुका कर्त्तव्य सिद्ध होता है परन्तु जीतमलजीने इसी गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतानेकी चेष्टा की है बुद्धिमानोंको विचार कर देखना चाहिये कि इस गाथासे जीवरक्षा करनेमें धर्म सिद्ध होता है या पाप ?

एक साधारण बुद्धिवाला भी इस गाथाको देख कर जीव रक्षा करनेमें धर्म ही कहेगा पाप नहीं कह सकता। तथा इस गाथामें भी पूर्व गाथाओं की तरह असंयम (हिंसा) के साथ जीवित रहना ही वर्जित किया है रक्षाके साथ जीवित रहने का निषेध नहीं है अत इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षा करने में पाप कहना मिथ्या है।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ वीं का नाम लेकर मरते जीवकी प्राण रक्षा करनेमें पाप बतलाना मिथ्या है देखिये वह गाथा यह है —

"नो अभिकखेज्ज जीवियं नाविय पूयण पत्थणसिया । अज्झत्थ मुवेन्ति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो"

(सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६)

अर्थ —

अर्थात् शून्य गृहमें निवास करते हुए साधुके निकट यदि भैरवादि कृत उपद्रव हो तो उससे डर कर भागना नहीं चाहिये किंतु अपने जीवनकी परवाह न करके उस उपद्रवका सहन करना चाहिये वह सहन अपना मान पूजा बढ़ानेके लिए नहीं किंतु स्वाभाविक होना चाहिए। यह इस गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

इस गाथामें अभिग्रहधारी साधुके लिये भैरवादि कृत उपद्रव सहन करनेका उपदेश किया गया है, किसी हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेका

निषेध नहीं किया है अत इस गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना मूर्खता है ।

(बोल १४ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४३ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा सातवींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे पिण कह्यो अन्न पानी आदि दई सयम जीवितव्य वधारणो पिण और मतलब नहीं ते किम उण जीवितव्यरी वाञ्छा नहीं एक संयमरी वाञ्छा। आहार करता पिण संयम छै आहार करणरी पिण अव्रत नहीं तीर्थंकर री आज्ञा छै अने श्रावक नो तो आहार अव्रतमें छै तीर्थंकरनी आज्ञा बाहिर छै। श्रावकना तो जेतलो जेतलो पच्चक्खाण छै ते धर्म छै ते माटे असंयम जीवन मरणरी वाञ्छा करै ते तो अव्रतमें छै (भ्र० पृ० १४३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह गाथा यह है —

"चर पयाई परिसङ्कमाणो जंकिंचि पासं इह मन्नमाणो।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी,,

(उत्तरा० अ० ४ गाथा ७)

अर्थ —

किसी भी प्राणीकी विराधना न हो जाय इसलिये साधु अपने पैरको शङ्काके साथ पृथ्वी पर रख कर चले। गृहस्थ लोग यदि थोड़ी भी प्रशंसा करें तो उसे पाशके समान कर्मबन्धका कारण समझे। ज्ञान दर्शन और चारित्रके विशेष लाभार्थ अन्न पानादिसे अपने जीवन की रक्षा करे। जब ज्ञान दर्शन और चारित्रकी प्राप्ति हो जाय और अपना शरीर भी रोगादिसे ग्रस्त या वृद्ध हो जाय, तथा साधको ज्ञात हो कि इस शरीरसे अब ज्ञान दर्शन और चारित्रका उपार्जन नहीं हो सकता, तब वह साधु विधिपूर्वक अपने शरीरका त्याग कर दे। यह इस गाथाकी टीका अनुसार अर्थ है।

इसमें कहा है कि साधु ज्ञान दर्शन और चारित्र आदि गुणका उपार्जन करनेके लिये अन्न पानादिके द्वारा अपने जीवनकी रक्षा करे। इससे मरते हुए प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये अन्न आदि देना भी गर्भुका कर्तव्य सिद्ध होता है क्योंकि [illegible]

इत्यादि सूत्रोंमें जीवोंकी रक्षा करना गुण कहा गया है और गुणका उपार्जन करनेके लिये इस गाथामें साधुको जीवनरक्षा करना कहा है इसलिये जो साधु उपदेश आदिके द्वारा मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करता है वह गुणका उपार्जन करता है पापका उपार्जन नहीं करता अत इस गाथाका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिए उपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञान है ।

इस गाथाकी समालोचनामें भ्रमविध्वंसनकारने साधुके भोजनको व्रत रूप बतलाया है यह भी इनकी भारी भूल है यदि भोजन करना व्रत है तो जैसे अधिकसे अधिक उपवास करना उत्तम है उसी तरह अधिकसे अधिक भोजन करना भी साधुके लिये गुण होना चाहिये । जो साधु अधिकसे अधिक और बार बार भोजन करे वह जीतमलजीके हिसाबसे बहुत ही उत्तम समझा जाना चाहिये । जैसे अधिकसे अधिक उपवास करने वाला साधु उत्कृष्ट व्रतधारी समझा जाता है उसी तरह अधिक से अधिक भोजन करनेवाला साधु जीतमलजीके मतमें सर्वश्रेष्ठ व्रतधारी समझा जाना चाहिए । परन्तु शास्त्र ऐसा नहीं कहता शास्त्र तो साधुको कारणवश आहार करनेका आदेश देता है और और अकारणसे तथा बार बार अधिक आहार करनेवाले साधुको पाप श्रमण कहता है इसलिए साधुका भोजन करना उपवासादिकी तरह साक्षात् व्रतमें नहीं है उस व्रत व्रतमें गिनना अज्ञानका परिणाम है । साधुका कारणवश आहार करना उत्तर व्रतका उपकारक है इसलिए वह अव्रतमें नहीं है और उपवासादिकी तरह वह साक्षात् व्रत स्वरूप भी नहीं है अत साधुके भोजनको उपवासादिकी तरह साक्षात् व्रत स्वरूप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

जैसे साधुका आहार करना उत्तर व्रतका उपकारक होनेसे अव्रतमें नहीं है उसी तरह बारह व्रतधारी श्रावक का भोजन भी उत्तर व्रतका उपकारक होनेसे अव्रतमें नहीं है । श्रावकको अव्रतकी क्रिया लगती भी नहीं है यह विस्तारके साथ पहले बताया जा चुका है अत साधुके आहारको उपवासादिकी तरह साक्षात् व्रतमें, और श्रावकके आहारको अव्रतमें मानना मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिए ।

इसी तरह मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भी मिथ्या है हिंसक प्राणी जीवित रहनेकी जो इच्छा करता असंयम जीवनकी इच्छा करना, या उसका अनुमोदन करना है रक्षक तो जीवित रहनेकी इच्छा करता अत असंयम जीवनकी इच्छा नहीं है अत मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भ्रमविध्वंसनकारका एकान्त मिथ्या है ।

(बोल वा १५ समाप्त)

करते हुए लिखते हैं—"अथ अठे इम कह्यो मिथिला नगरी बलती देख नमिराज ऋषि साहमो न जोयो बली कह्यो म्हारो वाहलो दुवाहलो एकही नहीं, रागद्वेष अकरवा माटे तो साधु मिनकियादिकर छोरे पड़ने उदुरादिक जीवाने बंचाव ते शुद्ध छे अशुद्ध असंजिरा शरीरनी साता कर ते धर्म छे अधम" (भ्र० पृ० १४५)

(प्ररूपक)

नमिराज ऋषिका दाखला देकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञान है। नमिराज ऋषि प्रत्येकबुद्ध साधु थे प्रत्येक बुद्ध साधुओंका आचार स्थविर कल्प वालोंसे कितनेही अंशोंमें भिन्न होता है। वे किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षा नहीं करते शिष्य भी नहीं करते और आहार पानी लाकर किसी साधुका व्यावच भी नहीं करते थे संघके अन्दर न रहकर अकेला रहते हैं जीतमलजीनेभी पडिमाधारी साधुके विषयमें यह यह लिखा है —"जे पडिमा धारी किणहीने संथारो पिण पच खावे नहीं कोईने दीक्षा देवे नहीं श्रावकरा व्रत आदराने नहीं उपदेश देवे नहीं। पडिमाधारी धर्मोपदेशकादिक छोड़ने देवे नहीं एतो एकान्त आपरोइज उद्धार करवान उद्यम छै। ना पोते किणही जीवन हणे नहीं एतो आपरी अनुकम्पा कर पिण परनी न करे। जिम ठाणाङ्ग चौथे ठाणे उद्देशा ४ कह्यो "आयाणु कम्पए नाम मेगे नो पराणु कम्पए" आपानीज अनुकम्पा कर पिण परनी न कर ते जिन कल्पी आदिक। इहां पिण जिन कल्पिक आदि कह्यो त आदिक शब्दमें तो पडिमाधारी पिण आया ते आपरीज अनुकम्पा करे पिण परनी न कर तो जीवने नहणे ते आरीज अनुकम्पा छै' यह लिखकर जीतमलजीने पडिमाधारी साधुको अपने पर अनुकम्पा करनेवाला और दूसरे पर नहीं करनेवाला बतलाया है और इसमें प्रमाण देनेके लिये ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा चौथेका मूल पाठ लिखा है। उस मूलपाठमें जिन कल्पी आदिक शब्द नहीं है परन्तु उसकी टीकामें लिखा है कि अपने पर अनुकम्पा करनेवाले और दूसरे पर अनुकम्पा नहीं करनेवाले तीन प्रकारके जीव होते हैं (१) प्रत्येक बुद्ध साधु, (२) जिन कल्पी (३) और परोपकार बुद्धि रहित निर्दय। इस टीकाके अनुसार प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरेकी अनुकम्पा नहीं करते यह बात सर्वमान्य है और जीतमलजीको भी स्वीकृत है ऐसी दशामें प्रत्येक बुद्ध साधु नमिराज ऋषिका उदाहरण देकर स्थविर कल्पीका जीव रक्षा करनेमें पाप बतलाना कितना महान अज्ञान है यह बुद्धिमानोंको देखना चाहिए। प्रत्येक बुद्ध अपनी ही अनुकम्पा करते हैं दूसरेकी नहीं और स्थविर कल्पी अपनी तथा दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करते हैं फिर प्रत्येक बुद्धके उदाहरणसे स्थविर कल्पीका अनुकम्पा करनेमें पाप कैसे कहा जा सकता है ?। प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा है और स्थविर

कल्पीका कल्प दूसरा है अतः इन दोनोंके कार्य्य एक समान नहीं हो सकते। जो नमिराजके उदाहरणसे जीव रक्षा करनेमें पाप कहते हैं उनसे कहना चाहिए कि प्रत्येक बुद्ध साधु शिष्य नहीं करते धर्मोपदेश नहीं देते आहार व पानी लाकर किसी साधुका व्यावच नहीं करते इसलिए तुम्हारे हिसाबसे स्थविर कल्पी साधुको भी ये कार्य्य नहीं करने चाहिए और जो स्थविर कल्पी इन कार्य्योंको करे उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि कहो कि प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा और स्थविर कल्पीका दूसरा है इसलिये इन कार्य्योंसे प्रत्येक बुद्धको ही दोष आता है स्थविर कल्पीको नहीं आता तो उसी तरह जीवरक्षाके विषयमें भी तुमको मानना चाहिए अर्थात् जीवरक्षा करनेमें स्थविर कल्पीका धर्म होता है और उसका यह कल्प है परन्तु प्रत्येक बुद्धका यह कल्प नहीं है। अतः प्रत्येक बुद्ध साधुका उदाहरण देकर स्थविरकल्पी साधुको जीव रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रने नमिराज ऋषिसे यह नहीं पूछा था कि मरते जीवकी रक्षा करना धर्म है या पाप है ? यदि यह ऐसा पूछते और इसके उत्तरमें नमि राज ऋषि जीव रक्षा करना पाप बतलाते तो अवश्य जीवरक्षा करनेमें पाप माना जाता परन्तु यहां तो इन्द्रने माया करके नमिराज ऋषिको सांसारिक पदार्थों में आसक्ति न होनेकी परीक्षा की है और नमिराज ऋषिने यह स्पष्ट कह दिया है कि "मिहिलाए डज्झमाणीए नमे डज्झइ किंचणं" अर्थात् मिथिलाके जलजाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता। ऐसा उत्तर देकर नमिराज ऋषिने सांसारिक पदार्थों से अपना ममत्व हट जाना बतलाया है परन्तु मरते जीवको रक्षा करनेमें पाप नहीं कहा है क्योंकि इन्द्रका यह प्रश्न ही नहीं था अतः नमिराज ऋषिके उदाहरणसे जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

मूर्तिविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —"अथ वा पिण कह्यो देवता मनुष्य तिर्यञ्चना माहोमाहीं कलह कर ना हार जीत वाञ्छणी नहीं तो कायाथी हार जीत किम करावणी असंयति ना शरीरनी साता करे तो सावद्य छै" (भ्र० पृष्ठ १४१) इसका क्या समाधान ?

(प्रेरक)

दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप बतलाना एकान्त मिथ्या है। यह बात इस गाथासे किसी प्रकार भी नहीं सिद्ध होती, देखिये वह गाथा यह है —

"देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च वुग्गहे
अमुयाणं जओ होउ मा वा होउत्ति नो वए,,

(दशवैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५०)

अर्थ —

देवता, मनुष्य और तिर्यञ्चोंके परस्पर युद्ध होने पर अमुकका जीत हो और अमुककी जीत न हो यह साधुको नहीं कहना चाहिये।

यहां देवता मनुष्य और तिर्यञ्चोंका युद्ध होने पर किसी एक पक्षकी हार या जीत कहनेका निषेध किया गया है क्योंकि साधुको मध्यस्थ भाव रखना ही शास्त्र सम्मत है किसी एक पक्षका श्रेय और दूसरे पक्षका अहित चाहना उचित नहीं है इस लिये दो दलोंमें युद्ध होने पर एक दलकी जीत और दूसरे दलकी हार होनेकी बात कहना साधुको उचित नहीं है। उस समयमें, जब कि दोनों दल वाले लड़ रहे हों साधु समझा बुझा कर युद्ध बन्द करादे और युद्धमें मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षा करे तो उसका इस गाथामें निषेध नहीं है एक दलके पक्षपात करनेका और दूसरे पर द्वेष करने का यहां निषेध है इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना अज्ञान का परिणाम है।

इसी गाथाका नाम लेकर जीतमलजी कहते हैं कि "बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ला पर द्वेष और चूहे पर राग करना है, तथा बिल्लीका हार और चूहेकी जीत कराना है" परन्तु यह इनका अज्ञान है। बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहेकी रक्षा करना चूहेकी अनुकम्पा करना है अनुकम्पा करना पाप नहीं किन्तु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना नहीं है क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्लीको यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो दयालु पुरुष, कुत्तेसे उस बिल्लीकी भी रक्षा करता है यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यों बचाता ?

इसके सिवाय बिल्लीसे चूहेकी रक्षा करना बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना नहीं है क्योंकि हार और जीत का व्यवहार युद्धमें होता है परन्तु चूहेके साथ बिल्लीका

कोई युद्ध नहीं होता क्योंकि उन दोनों ही [illegible] [illegible] [illegible] यही युद्ध है चूहा तो निर्बल डर कर भागता [illegible] आप ही [illegible] किया है वह युद्ध करनेके लिये बिल्लीके सम्मुख नहीं जाता इसलिये यह युद्ध नहीं है किन्तु [illegible] प्राणीके द्वारा बड़ा दुर्बल और कायर प्राणीकी हिंसा हो रही है [illegible] युद्ध [illegible] चूहे की प्राणरक्षा करनेमें [illegible] और बिल्लीकी हार बतलाना अज्ञानियोंका [illegible] समझना चाहिये ।

बोल १८ वां समाप्त

(प्रेरक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ को लिख कर उसकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसनकार पृष्ठ १४६ पर लिखते हैं —

"अथ अठे कह्यो—वायरो, वर्षा, शीत, तावडो, राजविरोध रहित सुभिक्ष, उपद्रव रहित पणो, ए सात बोल हुवो इम साधुने कहिणो नहीं तो कारणो किम उद्रवादिकने मिनकियादिकथी छुडायने उपद्रव पणो रहित कर ते सूत्र विरुद्ध कार्य छै (भ्र० पृ० १४६ । १४७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ में साधुको अपनी पीडाकी निवृत्तिके लिये उक्त सात बातोंकी प्रार्थना करना वर्जित किया गया है क्योंकि आर्तध्यान करना साधुको उचित नहीं है और यह आर्तध्यान है परन्तु असयति जीवकी प्राणरक्षा होनेके भयसे उक्त सात बातोंकी प्रार्थनाका निषेध यहा नहीं किया गया है । देखिये वह गाथा और उसकी टीका ये है —

"वाओ विट्ठि च सीउण्ह खेम धाय सिवतिवा । कयाणुहुज्ज एयाणि मावाहोऊत्ति णोवए"

(दशवैकालिक अ० ७ गाथा ५१)

इसकी दीपिका टीका —

"पुन किञ्च धर्मादिनाऽभिभूतोयतिरेवनोवदेदधिकरणादिदोषप्रसगात् । वातादिषु सत्सु सत्त्व पीडा प्राप्ते । तद्वचनतस्तथाऽभवनेऽप्यार्तध्यान भावादित्येवं नो वदत् । तत्कि—वातो मलय मारुतादि वृष्टं वा वर्षण शीतोष्ण प्रतीत क्षेमं राज

विग्रह शून्यं पुनः धान्य सुभिक्षं शिवमिति वा उपसर्ग रहितं कदानु भवेयुरेतानि वाता दीनि मा वा भवेयुरिति" ।

अर्थ —

घाम (गर्मी) आदिसे पीड़ित होकर साधु इन बातोंको न कहे क्योंकि इसमें अधिकरण दोष होता है। वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीड़ा होती है। यद्यपि साधुके कहने से वायु आदि नहीं चलते तथापि साधुको आर्त्तध्यान करना उचित नहीं है इसलिये वह इन बातों को नहीं कहे वे बातें ये हैं —(१) मलय मारुत आदि (२) वर्षा (३) शीत (४) उष्ण (५) राज-रोग दूर होना (६) सुभिक्ष होना (७) उपसर्ग रहित होना। इन सात बातोंके होने या नहीं होनेकी बात साधुको नहीं कहनी चाहिये। यह उक्त गाथाका दीपिकानुसार अर्थ है।

इसमें अपनी पीड़ाकी निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना करनेका निषेध किया है परन्तु असंयति प्राणियोंकी रक्षाको पाप मान कर उसकी निवृत्तिके लिये नहीं इस लिये इस गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना मिथ्या है। इस गाथाकी टीकामें लिखा है —

"एतानि वाताादीनि मा वा भवेयुरिति धर्माद्यभिभूतो नो वदेद् अधिकरणादि दोष प्रसंगात्। वातादिषु सत्सु सत्त्वपीड़ा प्राप्त । तद्वचनात् स्वथाऽभवोऽन्यार्थ ध्यान भावा दिति सूत्रार्थ ।

अर्थात् वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीड़ा होती है इसलिये घाम (गर्मी) आदिसे पीड़ित होकर साधु वायु आदि सात बातोंके होने या न होनेकी प्रार्थना नहीं करे क्योंकि इसमें अधिकरण आदि दोषोंका प्रसङ्ग होता है। यद्यपि साधुके कहनेसे ये सात बातें नहीं हो जाती तथापि आर्त्तध्यान करना साधुको उचित नहीं है इसलिये वह इन सात बातोंको न कहे।

यहां गाथाका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यही कहा है कि "अपनी पीड़ाकी निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये परन्तु प्राणियोंकी रक्षाको पाप मान कर उसकी निवृत्तिके लिये इन सात बातों की प्रार्थना का निषेध नहीं किया है। टीकाकारने यह भी लिखा है कि 'वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीड़ा होती है' इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणीको पीड़ा न हो इसलिये घाम आदिसे स्वयं पीड़ा पाते हुए भी साधु वायु आदि सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करे। यहां जीवोंकी रक्षा नहीं वर्जित की गयी है प्रत्युत उनको की पीड़ा वर्जित की गयी है इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षामें पाप सिद्ध करना अज्ञान का परि-णाम है।

वस्तुत इस गाथामें वर्जित की हुई सात बात सम्पूर्ण रूपसे जिन कल्पीके लिये, और अपनी कल्प मर्य्यादानुसार कई बातें स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये। वे सात ही बातें स्थविर कल्पीके लिये वर्जित नहीं हैं क्योंकि स्थविर कल्पी साधु रोगी साधुको रोग निवृत्त्यर्थ औषध आदि भी देते हैं और पानीमें डूबती हुई साध्वीको जल से बाहर निकाल कर उसका उपसर्ग भी दूर करते हैं तथा उपदेश देकर जनताके उपद्रव और उपसर्गको निवृत्त करते हैं साक्षात् भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावर प्राणियोंका क्षेमके लिये उपदेश दिया करते थे। सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४ में लिखा है कि "समिच्च लोगं तसथावराणं खेमंकरे समणे माहणेवा" अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी, त्रस और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियोंका क्षेमके लिये उपदेश देते थे। यदि दशवैकालिक सूत्र की उक्त गाथानुसार साधुको क्षेम की प्रार्थना करना बुरा होता है भगवान् त्रस और स्थावरका क्षेम करनेके लिये उपदेश क्यों देते? अतः दशवैकालिक सूत्रकी उक्तगाथामें जो सात बातें वर्जित कहीं वे सम्पूर्णरूपसे जिन कल्पीके लिये और कई बातें स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये। अतएव इस गाथामें उपसर्ग दूर करने और रोग निवृत्ति करनेकी प्रार्थना वर्जित होने पर भी स्थविर कल्पी साधु रोगी साधु की रोग निवृत्तिके लिये औषध आदि देते हैं और पानीमें डूबती हुई साध्वीको निकाल कर उसका उपसर्ग दूर करते हैं। अतः उक्त गाथामें कही हुई सात ही बातोंको स्थविर कल्पीके लिए भी बतलाना मिथ्या है।

इस गाथामें आये हुए "क्षेम" शब्दका टीकाकारने "राज विड्वर शून्यम्" ऐसा अर्थ किया है यानी राज रोगका अभाव होना "क्षेम" है परन्तु जीतमलजीने "राज विड्वर शून्यम्" का अर्थ नहीं समझा है अतएव उन्होंने लिखा है कि "राजादिक कष्ट रहित हुवे त क्षेम" यह अर्थ मिथ्या है अतः किसी प्राणीको उपद्रव रहित करनेमें पाप बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। स्वयं भ्रमविध्वंसनकारने भी दूसरी जगह पर उपसर्ग निवारण करना साधुका कर्त्तव्य बतलाया है। उन्होंने भ्र० वि० पृ० १४९ पर लिखा है कि "धमनी चोयणा करीने पाने उपदेशे तिम अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग उपजावन वारे" इस लेखमें जीतमलजीने उपसर्ग निवारण करना साफ साफ साधुका कर्त्तव्य माना है तथापि दुराग्रहमें पड़ कर अपने कथनसे ही विरुद्ध यहां उन्होंने उपसर्ग निवारण करनेको पाप बतलाया है इस प्रकार अपने कथनसे ही विरुद्ध बोलने वालेके कथनमें आकर सच्चे धर्मका तिरस्कार करना बुद्धिमान् पुरुषोंका कार्य्य नहीं है।

(बोल १९ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ की चौभङ्गी लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे पिण कह्यो—जे साधु आपरी अनुकम्पा करे पिण आगलारी अनु कम्पा न करे जो ए पराई अनुकम्पा न देवे ते पिण पोतारीज अनुकम्पा निश्चय नियमा छै ते किम आपणे मारग सेती हण पाप लागसी इम जाणी रहसी ते मनी पोतानी अनुकम्पा कही छै। अने आपरो पाप टालवाने आगलारी अनुकम्पा करे ते सावद्य छै" (भ्र० वि० पृ० १४८)

इसका क्या समाधान ?

(प्रेरक)

ठाणाङ्ग सूत्रके चौथे ठाणेकी चौभङ्गीमें अपने जीवकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधुका काम बतलाया है परन्तु अपनी पोल छिपानेके लिए भ्र० वि० कारने इसका ठीक ठीक भावार्थ नहीं लिखा है। ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ यह है —

"चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता त जहा—
आयानु कम्पए नाम मेगे णो परानु कम्पए" ।

इसकी टीका—

आत्मानुकम्पक आत्म हित प्रवृत्त प्रत्येक बुद्धो जिन कल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृण । परानु कम्पक निष्ठितार्थतया तीर्थकर आत्मानपेक्षोवा दयैकरसो मेतार्य वत्। उभयानुकम्पक स्थविरकल्पिक । उभयाननुकम्पक पापात्मा काल्शौकरि-कादिरिति ।"

अर्थात्—चार प्रकारके पुरुष होते हैं। (१) अपनी ही अनुकम्पा करते हैं परन्तु दूसरेकी नहीं करते, ऐसे तीन पुरुष होते हैं—प्रत्येक बुद्ध, जिन कल्पी और दूसरे की अपेक्षा नहीं करनेवाला निर्दय पुरुष। ये तीनों अपने ही हितमें तत्पर रहते हैं दूसरे का हित नहीं करते। (२) जो दूसरेकी अनुकम्पा करता है अपनी अनुकम्पा नहीं करता वह दूसरा भङ्गका स्वामी है, ऐसा पुरुष या तो तीर्थंकर होते हैं अथवा अपनी परवाह नहीं करनेवाला मेतार्यकी तरह परम दयालु पुरुष होता है। (३) जो अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है वह तीसरा भङ्गका स्वामी है। ऐसा पुरुष स्थविर कल्पी साधु होता है। स्थविर कल्पी साधु अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है। (४) जो अपनी भी अनुकम्पा नहीं करता और दूसर की भी नहीं करता वह पुरुष

चौथा भङ्गका स्वामी है। ऐसा पुरुष काउ सौकरिकादि की तरह अनिष्ट पाया जाता है। यह उक्त चौभङ्गीका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें कहा है कि स्थविर कल्पी साधु उभयानुकम्पी है यह अपनी और दूसरेका दोनोंकी अनुकम्पा करता है अतः मरते प्राणीकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधुका धार्मिक कर्त्तव्य सिद्ध होता है। जो स्थविर कल्पी साधु कहलाकर दूसरे जीवकी रक्षा नहीं करता वह उक्त पाठानुसार अपने कर्त्तव्यसे पतित होता है। जिन कल्पी और प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरेकी अनुकम्पा नहीं करते किन्तु अपने हितमें ही प्रवृत्त रहते हैं इसलिए वे प्रथम भङ्गके स्वामी कहे गये हैं उनकी तरह जो दूसरे जीवकी अनुकम्पा नहीं करता है वह पुरुष यदि जिनकल्पी और प्रत्येक बुद्ध नहीं है तो उसे प्रथम भङ्गका तीसरा स्वामी निर्दय समझना चाहिए।

भ्र० वि० कारने भ्र० वि० पृष्ठ १८७ पर इस चौभङ्गीके पहला भङ्गका अर्थ इस प्रकार लिखा है—

"जे पोताना हितने विषे प्रवर्ते ते प्रत्येक बुद्ध अथवा जिन कल्पिक अथवा परो पकार बुद्धि रहित निर्दय पारका हितने विषे न प्रवर्ते"। इनके अपने लेखसे भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जो जिन कल्पिक और प्रत्येक बुद्धसे भिन्न पुरुष, दूसरे प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) नहीं करता वह दयाहीन पुरुष है, साधु नहीं है। उस निर्दय को साधु समझना भ्रम है।

इस पाठकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसन कारने सभी प्रकारके कल्प वाले साधुओंको इस चौभङ्गीके प्रथम भङ्गमें ही रखना है उन्होंने लिखा है कि "अथवा एठे पिण कह्यो साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगलाना अनुकम्पा न करे तो जे पर जीव ऊपर पग न देवेते पिण पोतानीज अनुकम्पा निश्चय नियमाछे" यह मिथ्या है। स्थविर कल्पी साधु दूसरेकी भी अनुकम्पा करते हैं। स्वयं भ्र० वि० कारने भी लिखा है—"तीजे बेहूने हित वाञ्छे ते स्थविर कल्पी" इनके इस लेखसे भी स्थविर कल्पीका दूसरेकी अनुकम्पा करना सिद्ध होती है।

अब प्रश्न यह है कि दूसरे जीवपर पैर नहीं रखना तो निश्चय नयसे अपनी ही अनुकम्पा है दूसरेकी नहीं है फिर स्थविर कल्पी दूसरेकी क्या अनुकम्पा करता है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि स्थविर कल्पी दूसरे मरते हुए जीवकी जो प्राण रक्षा करता है यह दूसरेकी अनुकम्पा है और स्वयं किसी जीवको वह नहीं मारता यह निश्चय नयसे उसकी अपनी अनुकम्पा है अतः उक्त पाठका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका फल समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि स्थविर कल्पी साधु दूसरको धर्मोपदेश देते हैं यह तो उनकी दूसरपर अनुकम्पा करना है और यह स्वयं किसी जीवको नहीं मारते यह निश्चय नयके अनुसार अपनी अनुकम्पा है परन्तु मरते जीवकी रक्षा करना दूसरकी अनुकम्पा नहीं है सो यह मिथ्या है। तीर्थंकर भी धर्मोपदेश देते हैं और वह स्वयं किसी जीवको मारते भी नहीं हैं फिर तो वह भी तीसरे भङ्गका स्वामी उभयानुकम्पक ही ठहरेंगे दूसरे भङ्गका स्वामी परानुकम्पक मात्र नहीं इसलिए दूसरे जीवकी रक्षा करना ही यहां परानुकम्पा कही गई है इस प्रकार जो जीव अपनी रक्षाके ऊपर ध्यान न देकर दूसरे जीवकी ही रक्षा करता है वह दूसरे भङ्गका स्वामी है। ऐसे पुरुष तीर्थंकर और मेतार्य ऋषिकी तरह परम दयालु पुरुष होते हैं। जो अपनी और दूसरकी दोनोंकी रक्षा करता है वह तीसरा भङ्गका स्वामी स्थविर कल्पी है। जो अपनी और दूसरकी किसी की भी रक्षा नहीं करता वह चतुर्थ भङ्गका स्वामी काल शौकारिकादिकी तरह पापात्मा पुरुष है। जो केवल अपनी ही रक्षा करता है दूसरकी नहीं करता वह प्रथम भङ्गका स्वामी है। इस प्रकार इस चतुर्भंगीसे मरते जीवकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधु का कर्तव्य सिद्ध होता है। जो किसी प्राणीकी स्वयं भी रक्षा नहीं करता और दूसर को भी रक्षा करनेमें पापका उपदेश देता है वह इस पाठसे परोपकार बुद्धि रहित सिद्ध होता है। मेघकुमारने जीवन हाथीके भवमें अपनी रक्षाका ख्याल नहीं रख कर दूसरेका रक्षाकी थी और धर्मरुचि अनगारने भी अपनी रक्षाकी परवाह नहीं करके दूसर की रक्षा करना ही अपना कर्त्तव्य समझा था इसलिए वे लोग इस चतुर्भङ्गीके दूसरे भङ्ग के स्वामी थे अतः इस चतुर्भंगीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिए।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४८ पर उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे पिण कह्यो समुद्र पाली चोरने मारतो देखि वैराग आणी चारित्र लीधो पिण नाथ दई छुड़ायो नहीं (भ्र० पृ० १४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

समुद्रपालीका उदाहरण देकर जीव रक्षामें पाप बताना अज्ञान है। राजा, चोर का विचार नहीं करता था और उसने द्रव्य देकर चोरको छुड़ाको यत्न नहीं करना

जिसने व्यभिचार करके द्रव्य संग्रह किया है उसने अपने मोह ममताको बढ़ाया है तथा अपने चारित्रको नष्ट किया है इसलिये वह विषयानुरागिनी है धर्मानुरागिनी नहीं। यह सुन कर उक्त श्रावकने कहा कि "जिस प्रकार आपके दर्शनार्थ आई हुई इन दोनों स्त्रियोंमेंसे गहना बेंच कर साधु दर्शनका लाभ उठाने वालीको धार्मिक और व्यभिचार करा कर दर्शनका लाभ करने वालीको आप पापिनी कहते हैं, उसी तरह अपना जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्रीको धार्मिक और व्यभिचार करा कर जीवरक्षा करने वालीको आप पापिनी क्यों नहीं कहते ? जिसने अपना जेवर देकर जीवरक्षा की है उसने अपने जेवरसे प्रेम उतार कर किसी सन्त महात्माके सत्सङ्गसे दयामें चित्त लगाया है और बुरे कार्य्यसे निवृत्त हो कर जीवरक्षा जैसे उत्तम कार्य्य का सेवन किया है अतः वह धार्मिक स्त्री है। और जिसने जीवरक्षाके बहानेसे व्यभिचारका सेवन किया है वह साधु दर्शनार्थ व्यभिचार सेवन करने वाली स्त्रीके समान ही दुरात्मा है। परन्तु आप लोग साधु दर्शनार्थ आई हुई उक्त दोनों स्त्रियोंमें तो झट भेद बतला देते हैं और जीव रक्षाके विषयमें उक्त दोनों स्त्रियोंको एक समान ही पापिनी बतलाते हैं इसका कारण क्या है ? यह तो आपका एक दुराग्रह है।

जब कि साधु दर्शनार्थ अपने जेवरसे प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक हो सकती है तो जीवरक्षार्थ अपने जेवरसे प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक क्यों नहीं हो सकती ! अतः द्रव्य दान देकर जीव रक्षा करने वाली स्त्रीको पापिनी कहना पापियोंका कार्य समझना चाहिये।

(बोल २१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४९ पर निशीथ सूत्र उद्देशा ११ बोल ११ का नाम लेकर लिखते हैं —

"अथ अठे गृहस्थ तथा अन्य तीर्थीने मार्ग भूलने दुःखी अत्यन्त देखि अनु- कम्पा आणी चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो ते माटे असंयतिनी सुख साता वांछवां धर्म नहीं"

(भ्र० पृ० १४९)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है वह पाठ यह है —

यह भीषणजीकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है शास्त्रमें कहीं भी अनुकम्पाका सावद्य नहीं कहा है और इस पाठकी चूर्णीमें भी रास्ता नहीं बतानेका कारण अनुकम्पा का सावद्य होना नहीं लिखा है प्रत्युत भारी उपद्रवकी आशङ्कासे रास्ता बतानेका निषेध करके अनुकम्पाका समर्थन किया है अतः असंयतिकी प्राणरक्षाको पाप और अनुकम्पा को सावद्य बताना इनका अज्ञान है।

यदि इनसे पूछा जाय कि कोई मनुष्यका झुण्ड आपके पूज्यजीके दर्शनार्थ ग्रामान्तरको जाना चाहे और वह आपसे मार्ग पूछे तो आप बतला सकते हैं या नहीं? यदि कहें कि हम नहीं बतला सकते तो पूछना चाहिये कि क्या आपके पूज्यजीका दर्शन सावद्य है? नहीं तो आप दर्शनार्थ जाने वालेको मार्ग क्यों नहीं बतलाते हैं? यदि वह कहें कि "पूज्यजीका दर्शन तो सावद्य नहीं है परन्तु रास्ता बतलाना साधुका कल्प नहीं है इसलिये हम रास्ता नहीं बतलाते" तो सिद्ध हुआ कि जैसे आपके पूज्यजीका दर्शन सावद्य नहीं है तथापि रास्ता बताना कल्पमें न होनेसे आप रास्ता नहीं बताते उसी तरह किसी प्राणीका दुःख दूर करना, अथवा अनुकम्पा करना सावद्य नहीं है परन्तु रास्ता बताना साधुका कल्प न होनेसे साधु रास्ता नहीं बतलाते। यदि वह कहें कि पूज्यजीके दर्शनार्थ जाने वालेको निरवद्य भाषासे रास्ता बतानेमें कोई दोष नहीं है तो उसी तरह प्राणियोंके कष्ट निवारणार्थ निरवद्य भाषासे रास्ता बता देनेमें भी दोष नहीं मानना चाहिये।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० १४९ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —"अथ अठे पिण कह्यो हिंसादिक अकार्य्य करता देखि धर्म उपदेश देई समझावणो तथा मनमें रह तथा उठि एकान्त जावणो कह्यो पिण जबरीसूं छुडावणो न कह्यो तो रजोहरणथी मिनकीने डरायने उन्दुराने बचाय त्यांने आत्मरक्षक किम कहिए"

(भ्र० वि० पृ० १४९) इसका क्या उत्तर?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ उद्देशा ४ के पाठका नाम लेकर जीवरक्षाका निषेध करना मिथ्या है इस पाठमें मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेका निषेध नहीं है। देखिये वह पाठ और उसकी टीका ये है —

"तओ आयरक्खा पन्नत्ता तजहा—धम्मियाए पडिचोय णाए भवइ तुसिणीए वासिया उत्तित्ताया आया एगंत मवक्कमेज्जा"
(ठाणांग ठाणा ३ उद्देशा ४)

टीका

"आत्मानं रागद्वेषा द् रक्षत्या ऽव धूपा द्वारक्षन्तीति आत्मरक्षा । "धम्मियाए पडिचोयणा" ए त्ति धार्मिकोपदेशेन नेदं भवादृशा मुचित मित्यादिना प्रेरयिता उप द्रष्टा भवति अनुकूलेतरोपसर्ग कारिण । ततोऽसावुपसर्गकरणान्निवर्तते ततोऽकृत्या सेवा न भवती स्यात्मा रक्षितो भवति । तूष्णीकोवा वाचंयम उपेक्षक स्यादिति प्रेर णाया अविषये उपसर्गा सामर्थ्येच तत स्थानादुत्थाय आत्मना एकान्तं विजनम् अन्यं भूमिभाग मवक्रामेद् गच्छेत्" ।

अथ —

जो पुरुष रागद्वेष अनुचित आचरणसे, तथा भवकूपसे अपनी आत्माकी रक्षा करता है वह आत्मरक्षक कहलाता है । उस आत्मरक्षक पुरुषके पास आकर यदि कोई अनुकूल उपसर्ग करे तो धर्मोपदेश देकर समझाना चाहिये । कहना चाहिये कि— 'आप जैसे पुरुषको यह आचरण करने योग्य नहीं है ' इस उपदेशको सुनकर यदि वह उपसर्ग करनेवाला उपसर्ग करना बन्द कर दे तो साधुसे अकार्यको सेवा नहीं होती किन्तु साधुका आत्मा अकृत्य आचरणसे बच जाता है । अथवा चुप रहकर साधु उस उपसर्गका सहन करलेव तो इस प्रकार भी अनुचित आचरणसे उसकी आत्मा रक्षित होती है । यदि उपसर्ग करनेवाला धर्मो पदेश देने योग्य न हो और साधुसे उपसर्ग भी न सहा जा सके तो वहांसे हटकर किसी एकान्त स्थानमें साधुको चला जाना चाहिये । इसप्रकार अनुचित आचरणसे साधुको अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिये ।

(यह उक्त मूलपाठका टीकानुसार अर्थ है)

यहां अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग करनेवाले प्रति रागद्वेष और अकृत्य आचरणसे बचनेके लिये आत्म रक्षक पुरुषको तीन उपाय बताये हैं' (१) धर्मोपदेश देना (२) उपसर्गको सह लेना (३) वहांसे हटकर एकान्तमें चला जाना । इसमें हिंसक द्वारा मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करने, या उसके लिये धर्मोपदेश देनेका निषेध नहीं किया है अत इस पाठका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें पाप बतलाना एकान्त मिथ्या है ।

इस पाठकी समालोचनामें जीतमलजीने लिखा है कि "तिण ऊपरी मूं ढ़ा बगो न कह्या ' इस लेखसे प्रतीत होता है कि जीतमलजी उपरभक्तोंसे जीव

बंध नहीं होता कहते हैं उसका दृष्टान्त और [illegible] नहीं कहते [illegible] यह बात भी मिथ्या है। यह उसका दृष्टान्त में जीवरक्षा करनेमें पाप [illegible] है। इसका [illegible] इनके स्वर और मावगोंकी ढाल लिखकर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है इस लिये इनका यह लिखना कि "दिन आगीमू [illegible] न करो [illegible] [illegible] देना है।

आगे चलकर जीतमलजीने लिखा है कि "रत्नोहरणादि बिल्लीने डरायने ऊंदु राने बंचाय स्यूं आत्मरक्षक किम कहिए" इनकी यह बात भी अनुचित है जो दयावान मनुष्य ओघासे बिल्लीको डराकर चूहेकी प्राणरक्षा करता है वह कौनसा अनुचित कार्य करता है जिससे वह आत्मरक्षक नहीं कहा जाय ? यदि कहो कि "किसी प्राणी को भय देना उचित नहीं है और वह बिल्लीको भय देकर चूहेकी रक्षा करता है इस लिये बिल्लीको भय देनेके कारण वह आत्मरक्षक नहीं है" तो जो साधु, मारनेके लिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह आत्मरक्षक कैसे कहला सकता है ? क्योंकि वह भी कुत्ते, गाय भैंसको ओघासे डराता है ? इसलिये उसे भी आत्मरक्षक नहीं कहना चाहिए। यदि कहो कि जो साधु मारनेके लिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह कुछ भी अनुचित काय नहीं करता अत वह आत्मरक्षक ही है तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दयालु पुरुष ओघा से बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करता है वह भी अनुचित कार्य नहीं करता प्रत्युत बिल्लीको हिंसाके पापसे बचाता है और चूहेकी प्राणरक्षा करता है इसलिये वह अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करता है किसीकी भी हानि नहीं करता इसलिये वह धार्मिक ही है पापी नहीं है अत भ्रमविध्वसनकारकी पूर्वोक्त बात भी मिथ्या है।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा ११ बोल १७० का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करत हुए लिखते हैं —

"अथ अठे पर जीवन विहाया विहावताने अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो ता मिनकीने डरायने उंदुराने पोषणो किहाथी अने असयतिना शरीरनी रक्षा किम करणी" (भ्र० पृ० १५१) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्र मूलपाठमें किसी प्राणीको भय देनेसे साधुको चौमासी प्रायश्चित्त होना कहा है इसलिए ओघासे बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करना पाप है तो काटनेके लिए आते हुए कुत्तेको और मारनेके लिए आती हुई गाय भैंसको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करनेमें भी पाप ही होना चाहिए। परन्तु भ्रम विध्वंसन कारके मतानुयायी साधु कुत्ते, गाय, भैंस आदि प्राणियोंको ओघासे डराकर अपनी रक्षा कर लेते हैं और इसमें निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उल्लंघन भी नहीं मानते परन्तु ज्योंही बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेका प्रश्न आता है त्योंही झटपट निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उल्लंघन होनेका कोलाहल मचाने लगते हैं यह इनका दूसरे जीवोंपर द्वेष करनेके सिवाय और कुछ नहीं है। जब कि ओघासे गाय भैंस और कुत्तेको डराकर अपनी रक्षा करनेमें निशीथकी आज्ञा उल्लंघन नहीं होती तब ओघासे बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेमें निशीथ सूत्रकी आज्ञा उल्लंघन कैसे हो सकती है ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिए।

वास्तवमें, किसी जीवको सतानेके अभिप्रायसे भय देना पाप है और इसी पापके लिए निशीथ सूत्रके मूलपाठमें प्रायश्चित्त कहा गया है। किसी जीवको पापसे बचाने, तथा आत्मरक्षा और पर रक्षा करनेके लिए नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना पाप नहीं है और उसके लिए निशीथ सूत्रमें प्रायश्चित्त भी नहीं कहा गया है क्योंकि किसी ना समझ प्राणीको भय दिखाकर जो पाप करनेसे हटाता है या आत्मरक्षा तथा पर रक्षा करता है उसका अभिप्राय उस नासमझ प्राणीको सतानेका नहीं किन्तु उस पाप करनेसे हटानेका होता है इसलिए यह पाप नहीं कहा जा सकता यह तो उस प्राणीका कल्याण करना है फिर इसमें प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? यह हरएक बुद्धिमान समझ सकता है। अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए।

(बोल २४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १३ बोल १४ का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे गृहस्थनी रक्षा निमित्ते मंत्रादिक कियां अनुमोद्यां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो । तो जे उपद्रवादिकनी रक्षा साधु किम करे। अने जो रक्षा कियां धर्म हुवे तो डाकिनी शाकिनी भूतादिक काढ़ना सर्पादिकना जहर उतारना औषधादिक करी

"जे भिक्खू अन्न उत्थियं वा गारत्थियं वा रक्खइ रक्खंतं वा साइज्जइ'

यदि निशीथ जीवरक्षाका निषेध करता तो ऐसा पाठ लिखित होता परन्तु ऐसा नहीं लिख कर अन्यतीर्थीका भूति कर्म करनेका निषेध किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्यतीर्थीको भूतिकर्म करनेमें प्रायश्चित बतलाया है जीवरक्षा करनेमें नहीं।

जैसे किसी मनुष्यको प्रतिबोध देना पापका कार्य नहीं है तथापि यदि कोई साधु किसीको भूति कर्म द्वारा प्रतिबोध देवे तो उसे अवश्य ही निशीथ सूत्रके इस पाठके अनुसार प्रायश्चित होगा परन्तु यह प्रायश्चित प्रतिबोध देनेका नहीं किन्तु भूति कर्म करनेका है उसी तरह जो भूतिकर्मके द्वारा किसीकी रक्षा करता है उसको भूति कर्म करनेका प्रायश्चित आता है जीवरक्षा करनेका नहीं क्योंकि जीवरक्षा करना दीक्षा देनेके समानही धर्म है पाप नहीं है।

इसी तरह डाकिनी, शाकिनी, और भूत आदि निकालना तथा सर्प आदिका जहर उतारना, फोड़ा, फुन्सी आदि काटना साधुका कल्प नहीं है अतः इन कार्योंको साधु नहीं करते परन्तु मरते प्राणीको मरने से कल्पानुसार रक्षा करते हैं क्योंकि मरते प्राणीकी रक्षा करना प्रतिबोध देनेके समान ही एकान्त धर्मका कार्य है पाप नहीं है इस-लिये विविध कुयुक्तियोंकी सहायतासे मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना निर्दय जीवोंका कार्य समझना चाहिये।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १५२ से लेकर १५६ तक उपासक दशांग सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे पिण कह्यो चुलणी पिय श्रावकरा सुहदा आगे देवता तीन पुत्रांना शूला किया पिण स्याने बंचाया नहीं माताने बंचावा उठ्यो ते पोषा व्रत भाग्यो कह्यो ते स दुरादिक साधु किम बंचावे (भ्र० द० १५९ इसका क्या समाधान ?)

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारका सिद्धान्त है कि "हिंसकको हिंसाके पापसे बंचानेके लिये उपदेश देना चाहिये किन्तु मरते जीवकी रक्षाके लिए नहीं" अतः इनके मतानुसार यहां यह प्रश्न होता है कि "चुलणी पिय श्रावकने उसके सामने हिंसा करते हुए हिंसक पुरुषको हिंसाके पापसे बंचानेके लिए धर्मोपदेश क्यों नहीं दिया ?"

क्योंकि हिंसक प्राणीको हिंसा नहीं करनेके लिये उपदेश देना तो भ्रमविध्वंसनकारके मतमें भी धर्म ही है।

यदि कहो कि हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष बिलकुल अनार्य्य और अयोग्य था उसे उपदेश देना निष्फल जानकर चुलणी प्रियने उपदेश नहीं दिया था तो इसी तरह सरल बुद्धिसे यह भी समझो कि जीवरक्षाके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष अनार्य और अयोग्य था उसे जीवरक्षाके लिए उपदेश देना निष्फल जानकर चुलणी प्रियने उपदेश नहीं दिया। अतः चुलणी प्रिय श्रावकका दृष्टान्त देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बताना इनका अज्ञान समझना चाहिए।

इसीतरह माताकी रक्षाके लिये प्रवृत्त होनेसे चुलणी प्रियका व्रतनियमका भंग बताना भी अज्ञान है क्योंकि हिंसक पुरुषपर क्रोध करके उसे मारणार्थ दौडनेसे चुलणी प्रियके व्रत नियम नष्ट हुए थे माताकी रक्षाका भाव आनेसे नहीं देखिये वहांका मूलपाठ और टीका ये हैं —

"तएणं साभद्दा सात्थवाही चुलणी पिय समणोवासय एव वयासी नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयस पुत्त साओ गिहाओ निणेइ २ त्ता तव अग्गओ घाएइ। एसणं केइ पुरिसे तव उवसग्ग करेइ एसणं तुमे विदरिसणे दिट्ठे तणं तुमं इयाणिं भग्गवए भग्ग नियमे भग्ग पोसहे विहरसि"

(टीका)

"भग्गवए" त्ति भग्नव्रतः स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्नत्वात् तद्विनाशार्थं कोपेनोद्धावनात्। सापराधस्यापि व्रतविषयीकृतत्वात्। भग्ननियमः कोपोदये नोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्। भग्नपोसहः अव्यापार पौषधस्य भंगत्वात्"

(मूलार्थ)

इसके अनन्तर उस भद्रा सार्थवाहिनीने कहा कि हे चुलणी प्रिय! तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र से लेकर यावत् कनिष्ठ पुत्रको कोई बाहर लाकर तुम्हारे समक्ष किसीने भी नहीं मारा है। यह तुम्हारे पर किसी ने उपसर्ग किया है तुमने जो देखा है वह मिथ्या दृश्य था। इस समय तुम्हारे व्रत नियम और पौषध भंग हो गए हैं। यह ऊपर लिखे मूलपाठका अर्थ है।

इस मूल पाठमें भद्रासार्थवाहिनीने चुलणीप्रियके व्रत नियम और पौषध भंग होनेकी जो बात कही है इसका कारण बतलाते हुए टीकाकारने यह कहा है—

(टीकार्थ)

चुलणी पिय श्रावकका स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत भावसे नष्ट हो गया क्योंकि वह क्रोध करके हिंसकको मारनेके लिये दौड़ा था। व्रतमें अपराधी प्राणी को भी मारनेका त्याग होता है। उत्तर गुण—क्रोध नहीं करने का जो अभिग्रह था वह क्रोध करनेसे नष्ट हो गया और अप्रमत्त पूर्वक दौड़नेसे उसका अव्यापार पोषध नष्ट हो गया' यह टीकाका अर्थ है।

यहां टीकाकारने व्रत नियम और पोषध भंगका कारण बतलाते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि 'हिंसक पर क्रोध करके मारनार्थ दौड़नेसे चुलणी पियके व्रत नियम और पोषध नष्ट हुए थे' मातृरक्षाका भाव आनेसे व्रत नियम और पोषध भङ्ग होना नहीं कहा है अतः चुलणी पियके हृदयमें मातृरक्षाका भाव आनेसे और मातृ रक्षार्थ प्रवृत्त होने से उसके व्रत नियम और पोषध का भङ्ग बताना कपूतों का कार्य समझना चाहिये।

इसी तरह भीषणजीने मूढ़ मतियोंको बहकानेके लिये माताकी अनुकम्पा करनेसे चुलणी पियका व्रत भङ्ग होना कहा है। उन्होंने लिखा है —

"इम सुणने चुलणी पिया चल गयो, मात राखण रो कर उपाय रे। ओतो पुरुष अनार्य्य कह जिसो, झाल राखू ज्यों न करे घातरे। ओतो भड़ा थंबाथण उठियो, इणरे थामो आयो हाथरे। अनुकम्पा आणी जननी तणी तो भांग्या व्रत नेमरे। इसो मोह अनुकम्पा एहवी, तिणमें धर्म कहीजे केमरे"

(अनुकम्पा विचार ढाल ७ कड़ी २८)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षार्थ अनुकम्पा करना मोह अनुकम्पा है चुलणी पियने माताकी रक्षाके लिये अनुकम्पा की था इससे उसका व्रत भङ्ग हुआ क्योंकि यह मोह अनुकम्पा थी। इनकी यह प्ररूपणा शास्त्र विरुद्ध है। टीकाके प्रमाणसे भी पहले बतला दिया गया है कि क्रोधित होकर हिंसकके मारणार्थ दौड़नेसे चुलणी पियका व्रत नष्ट हुआ था माताकी अनुकम्पासे नहीं क्योंकि व्रत पोषध के समय श्रावकको हिंसाका त्याग होता है अनुकम्पाका त्याग नहीं होता अतः हिंसाके भाव आनेसे ही व्रत भङ्ग हो सकता है अनुकम्पाके भाव आनेसे नहीं। भीषणजी ने सामायक और पोषधके समय अग्नि सर्पादिका भय होने पर अयत्नासे स्थान छोड़कर जाने की आज्ञा दी है। जैसे कि उन्होंने लिखा है —

"लाय सर्पादिकरा भयथकी, अयत्नासूं निसर जायजी। राख्या न हुवे से कारण सामाइरो भंगतायासजी। पोषाने सामायक व्रतना सरीखा छै पचखाणजी। पोषाने सामायक व्रतने यहां पोसामें सरीखा छै आगारजी

(श्रावक धर्म विचार नवम व्रतकी ढाल)

क्या कारण है ? । यदि कहो कि सुरादेवके व्रत नियम और पौषध अपनी अनुकम्पाके कारण नहीं नष्ट हुए किन्तु अपराधीको मारणार्थ कोपित हो कर दौड़नेसे नष्ट हुए तो फिर यही बात चूर्णीप्रिय श्रावकके विषयमें भी तुमको मानना चाहिये । चूर्णीप्रिय और सुरादेवक श्रावकोंमें आये हुए पाठोंमें बिल्कुल समानता है केवल भेद इतना ही है कि चूर्णीप्रियने अपनी माता पर अनुकम्पा की थी और सुरादेवने अपने ऊपर की थी । यदि माताके ऊपर अनुकम्पा करनेसे चूर्णीप्रियका व्रत भङ्ग होना मानते हो तो फिर सुरादेवका अपने पर अनुकम्पा करनेसे व्रत भङ्ग मानना पड़ेगा और जैसे चूर्णीप्रियकी मातृ अनुकम्पाको सावद्य कहते हो उसी तरह सुरादेवकी अपनी अनुकंपाकोभी सावद्य कहना होगा ऐसी दशामें भीषणजीने ज्ञान दाणमें सामायक और पौषधमें अपने पर अनुकम्पा करके अग्नि सर्पादिके भयसे बचाव लिये अवगाहे स्थान को निकल जानेकी आज्ञा दी है वह बिल्कुल मिथ्या सिद्ध होगी अतः अपनी अनुकम्पाको भीषण मतानुयायी सावद्य नहीं कह सकते अतः जैसे सुरादेवकी अपनी अनुकम्पा सावद्य नहीं थी और उससे व्रत नियम तथा पौषध नष्ट नहीं हुए थे उसी तरह चूर्णीप्रिय की भी माता के ऊपर अनुकम्पा सावद्य नहीं थी और उससे उसके व्रत नियम भंग नहीं हुए थे इसलिये चूर्णीप्रियका उदाहरण देकर अनुकम्पाको सावद्य बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य है ।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रश्न)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृ० १५९ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे कह्यो जे पाणी नावामें आवे घणा मनुष्य डूबता देखे पिण साधुने मन वचन करी बतावणो नहीं जो असंयतिरो जीवणो वांछणा धर्म हुवे तो नावामें पाणी आवतो देखि साधु क्यों न बतावे । केतला एक कहे जे लाय लागां ते घररा कमाड उघाड़णा तथा गाड़ा हेठे बालक आवे तो साधुने उठाय लेणो इमि कहे तेहनो उत्तर—जे लाय लाग्यां बारे बाहिर काढ़णा तो नावामें पाणी आवे ते क्यूं न बतावणो" (भ्र० पृ० १५९)

इसका क्या समाधान

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकार दूसरे प्राणीकी रक्षा करना पाप मानते हैं परन्तु अपनी रक्षा करना पाप नहीं मानते । अपनी रक्षा करना तो वे साधुका कर्त्तव्य मानते हैं ऐसी दशा

उनके अनुसार अपनी रक्षा करना साधुका कर्तव्य नहीं होता तो इस पाठमें नदी तैर कर साधुको अपनी रक्षा करना कैसे बतलाया जाता ? वह पाठ यह है —

"सेभिक्खूवा उदगंसि पवमाणे नो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाइज्जा से अणासायणाए अणासायमाणे तओ स० उदगं सि पविज्जा ।

सेभिक्खू वा उदग सि पवमाणे नो उमुग्ग निमुग्गियं करिज्जा मामेय उदगं कन्नेसुवा अच्छीसुवा नक्क सिवा मुहंसिवा परियाव ज्जिज्जा तओ सजयामेव उदग सि पविज्जा । सेभिक्खू वा उदग सि पवमाणे दुब्बलियं पाउणिज्जा खिप्पामेव उवहिं विगिं चिज्जवा विसो हिज्जवा नो चेवणं साइजिज्जा । अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए तओ सजयामेव उदउल्लेणवाससिणिद्धेणवा काएण उदगतीरे चिट्ठिज्जा"

(आचारांग श्रु० २ अ० २६)

अर्थ —

साधु या साध्वी जलमें तैरकर पार करते समय हाथसे हाथका, पैरसे पैरका और शरीरसे शरीरका स्पर्श न करें । किन्तु अपने अङ्गोंका परस्पर स्पर्श न होने देकर यतनाके साथ जलको पार करें । तैरते समय जलमें डूबकी न लगावें और अपने आंख, कान नासिका और मुखमें जल न पैठने दे । जलमें तैरते तैरते यदि साधुके अंग दुर्बल हो जायँ तो वह अपने उपकरणोंको तुरन्त उसी जगह छोड़ दे उनमें थोड़ी भी मूर्च्छा न लावे । यदि भाण्डोपकरणोंको लेकर साधु पार जानेमें समर्थ हो तब उन्हें छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार जलसे पार हो कर जबतक शरीर से जलके बिन्दु गिरें और शरीर भींगा रहे तबतक साधु जलके किनारे पर ही खड़ा रहे यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

यहां जलसे तैरकर साधुको पार जाना कहा है जलमें डूबकर मरना नहीं कहा है इसलिए इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु अपनी रक्षा करना पाप नहीं समझते ?

जब अपनी रक्षा साधु करता है और उससे उसे पाप नहीं होता तो दूसरेकी रक्षा करनेसे उसे पाप कैसे हो सकता है ? अतः भीषणजीने साधुको जलमें डूब मरनेकी जो बात लिखी है वह एकान्त मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि "नदी पार करते समय साधुसे जलके जीवोंकी विराधना तो होती ही है फिर वह नावमें आता हुआ पानी बतलाकर अपनी और दूसरेकी रक्षा क्यों नहीं

करता ? । तो इसका उत्तर यही है कि साधु शास्त्रीय विधानानुसार ही अपनी और दूसरे की रक्षा करता है विधानका उल्लंघन करके नहीं करता। नावमें आता हुआ पानी बतलाना साधुका कल्प नहीं है इसलिए वह नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता। जैसे कि गृहस्थके हाथकी रेखा भी यदि कच्चे पानीसे भींगी हुई हो तो साधु उसके हाथसे आहार नहीं लेता क्योंकि उसका यह कल्प नहीं है और वही साधु अपवाद मार्गमें नदी भी पार करता है। नदी पार करना उसके कल्पके विरुद्ध नहीं है क्योंकि इसके लिये तीर्थंकरकी आज्ञा है परन्तु नावमें आता हुआ पानी बतलाना आज्ञामें नहीं है इसलिए साधु नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता परन्तु अपनी और दूसरेकी कल्पानुसार रक्षा करने में साधु पाप नहीं समझता अतः आचारांग सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिए।

(बोल २७)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १२ बोल १२ का मूल पाठ लिखकर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ इहां "कोलुण पडियाए" कहितां अनुकम्पा निमित्ते त्रस जीवने बांधे बांधताने अनुमोदे भलो जाणे तो चौमासी दण्ड कह्यो अने बांध्या जीवने छोड़े छोड़ताने अनुमोद भलो जाणे तो पिण चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो बांधे छोड़े तिणने सरीखो प्रायश्चित्त कह्यो छै। (भ्र० पृ० १६१ इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है।

"जे भिक्खू कोलुण पडिआए अण्णयरिं तसपाणिजायं तण पासएणवा मुंजपासएणवा कट्ठपासएणवा चम्म पासएणवा बंधइ बंधतंवा साइज्जइ। जेभिक्खू बंधेल्लयं मुयइ मुयंतंवा साइज्जइ।"

जो साधु अनुकम्पाके निमित्त किसी त्रस प्राणीको तृण पासेसे, मुंजके पाससे, काष्ठपाससे या चम पाससे बांधता है या बांधनेवालेको अच्छा जानता है तथा जो साधु बंधे हुए त्रस प्राणीको छोड़ता है या छोड़ते हुएको अच्छा जानता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है। यह इस पाठका अर्थ है।

यहां त्रस प्राणीको बांधने और छोड़नेसे साधुको प्रायश्चित्त कहा है उनपर अनुकम्पा करनेसे नहीं क्योंकि अनुकम्पा करनेकी तीर्थङ्करकी आज्ञा है। जैसे साधुको आहार पानी लेनेसे प्रायश्चित्त नहीं होता क्योंकि आहार पानी लेनेकी भगवानकी आज्ञा है परन्तु यदि विद्या वृत्तिसे, या मन्त्र वृत्तिसे साधु आहार पानी लेवे तो उसका प्रायश्चित्त साधुको होता है। वह प्रायश्चित्त आहार पानी लेनेका नहीं किन्तु विद्या वृत्ति और मन्त्र वृत्ति करनेका है उसी तरह निशीथके इस पाठमें जो त्रस प्राणीको अनुकम्पार्थ निमित्त बांधने छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है वह त्रस प्राणीपर अनुकम्पा करनेका प्रायश्चित्त नहीं किन्तु उनको बांधने और छोड़नेका प्रायश्चित्त है। त्रस प्राणीपर अनुकम्पा करना, उनमें शान्ति स्थापित करना, तथा किसी जीवकी प्राणरक्षा करना पाप नहीं है फिर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ?

इस पाठके भाष्य और चूर्णिमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि "त्रस प्राणीको बांधने और छोड़नसे अनर्थकी सम्भावना रहती है इसलिये इस पाठमें त्रस प्राणीको बांधने और छोड़नेमें प्रायश्चित्त कहा है अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा" वह भाष्य और चूर्णी लिखी जाती है।

"अत्थारम्भ मरणं तराय पडु त आत पर हिंसा सिंग खुर पज्जणा उड्डाहो भद्दपता था" (भाष्य)

"अईव आरोग्गि परितावित्भइ मरइवा अन्तरायंचभवइ। वद्ध चतड फुरफुदंतं अप्पाणं परचाहिंसइ एसा संजम विराहणा, तवा पच्चंत सिंगेण खुरणवा कारणवा साहुं पलेज्जा एवच मादुम्स आय विराहणा तच दट्टु जणो उड्डाहं करज्जा अहो दुद्दिठ धम्मा पर हत्ति चाहिणो एवं परयणोवघाओ भद्दयंत दोसा या भव। भद्दो भणइ अहो इमे साहवो अम्ह परोवरस्सागधर वावारं कर ति पतो पुणभणेज्जा दुद्दिठ धम्म चाडु कारिणो कीसवा अम्हं यच्छें पंडंति भुयतित्रा दिवा या राओवा निच्छुभज्जा वोच्छचावा करज्ज एए बंधणे दोसा" (चूर्णी)

अर्थ —

रस्सी आदिसे बांधे हुए पशु अत्यन्त आटा खाकर दुःख पाते हैं। एवं बन्धनसे पीड़ित होकर तड़फड़ाते हुए अपनी या दूसरेकी हिंसा भी कर देते हैं। इस प्रकार पशु बांधनेसे साधुके संयमकी विराधना होती है। पशु बांधते समय पशु, यदि सींग या खुरसे साधुको मार दे तो साधुकी अपनी विराधना होती है।

यदि ये बातें न हों तो भी गृहस्थके पशुओंको बांधते और छोड़ते हुए साधुको देखकर लोग साधुकी निन्दा करते हैं। वे कहते हैं कि इन साधुओंका धर्म अच्छा नहीं है

का दूध पी जावें तो उनका धनी नाराज हो, इत्यादि अनेक दोष बछड़ आदिको बंधनसे छोड़नेपर सम्भव होते हैं। यदि ये दोष न हों तो भी इस कार्यमें साधुकी प्रवृत्ति होनेपर गृहस्थर मनमें यह विश्वास हो जाता है कि मेरे घरकी सम्हाल रखने वाले साधु यहां मौजूद हैं मुझे गृह कार्यकी कुछ भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह सोच कर गृहस्थ गृह कार्य्यकी चिन्ता छोड़ कर दूसरे कामोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ऐसी दशामें साधु यदि गृहस्थके पशुओंको बाधे तो उस बन्धनके दोष लगते हैं अतः साधु गृहस्थके पशुओंको बाधते और छोड़ते नहीं हैं।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णीके पाठका अर्थ है।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि "बछड़े आदिको बंधनसे मुक्त करने पर अनेक प्रकारके उपद्रवोंकी सम्भावना है इसलिये साधु गृहस्थके बछड़े आदिको नहीं छोड़े" यदि छोड़े तो इन्हीं उपद्रवोंके कारण ही साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है परन्तु अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा है अतः इस पाठका नाम लेकर त्रस प्राणी पर अनुकम्पा करने का निषेध करना भाष्य और चूर्णीसे विरुद्ध है।

गाय आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करना महान् धर्मका कार्य है परन्तु उनके बांधने और छोड़नेमें अनर्थकी सम्भावना है इसलिये उन्हें बांधने और छोड़नेसे साधुको प्रायश्चित्त कहा है। जहां बाधे और छोड़े बिना गाय आदि प्राणियों की रक्षा नहीं हो सकती हो वहां इसी जगह निशीथसूत्रके भाष्य और चूर्णीमें बांधने और छोड़नेका विधान किया है —

"कारणे पुण बन्धमुयण करेज्जा ।
विनिय पदमणपज्झे बन्धे अविकोविते य अप्पज्झे
विसम गडअ गणिआउ बणर् फगादीसु जाणमवो"

(भाष्य)

अणपज्झो बंधइ अविकोविओवा सहो अहवा विकोविओवा सहो। अथवा विकोविओ अप्पज्झो इमेहिं कारणेहिं बंधति विमना अगडे अगणिकाए मरिज्जिहि। इति दुगादिसगरणजया मा पविसहि एवं अणगारेवि बंधइ मुयइ"

अर्थात् जहां पशुके आगमें जल कर कुएमें गिर कर या जङ्गलमें जानवरोंसे मारे जाकर मर जानेकी आशङ्का हो वहां साधु उसे बांधते और छोड़ते भी हैं। इसमें कुछ भी दोष नहीं होना चाहिये।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णीका अर्थ है।

यहां बांधे और छोड़े बिना त्रस प्राणीकी रक्षा न होनेसे दशामें मनुष्य को उनके बांधने और छोडनेका भी विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निशीथ सूत्र उक्त मूलपाठमें जहां बांधने और छोड़नेसे अर्थकी सम्भावना है वहीं त्रस प्राणी का बांधने और छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है परन्तु त्रसप्राणीकी रक्षा या अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा है। इसलिये निशीथ सूत्र मूलपाठ का नाम लेकर त्रस प्राणी पर अनुकम्पा करने और उन की रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानियोंका काम है।

यदि भीखमजीके मतानुयायी साधु कहें कि "अपवाद मार्ग में गाय आदि का बांधने और छोडने का विधान भाष्य में किया है मूल पाठ में नहीं" तो उनसे कहना चाहिये कि—

आप लोग अपने जलके पात्रमें पड़े हुए शीतसे मूर्च्छित मक्खी को कपड़ेमें बांध कर क्या रखते हैं? और मूर्च्छा मिट जाने पर उसे क्यों छोडते हैं? क्योंकि मक्खी भी तो त्रस प्राणी ही है। तथा पागल होनेकी हालतमें साधुको क्या बांधते हैं? क्योंकि साधु भी त्रस प्राणीसे इतर नहीं है अतः निशीथ सूत्रकी चूर्णी और भाष्यमें जो बात कही है उसका आप लोग भी मक्खी आदि तथा साधुओं पर व्यवहार करते हैं परन्तु गाय आदिके विषयमें इसे पाप कहने लगते हैं यह आप लोगोंका अज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है।

निशीथ सूत्रकी इस चूर्णीको जानमलजीने भी प्रमाण माना है उन्होंने लिखा है कि "फोलुण पडियाए" रो अर्थ चूर्णी में अनुकम्पा करुणाइज कियो छे' (भ्र० पृ० ११६)

वही चूर्णी कारण पडने पर पशुके बन्धन और मोचनका भी विधान करती है इस लिये इस चूर्णी की आधी बात को मानना और आधी नहीं मानना दुराग्रह के सिवाय और कुछ नहीं है।

(बोल २८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६८ पर लिखते हैं —

"अथ अठे कह्यो सुलसानी अनुकम्पान अर्थे देवकी पासे सुलसाना मुआ बालक मेल्या देवकी ना पुत्र सुलसा पासे मेल्या एपिण अनुकम्पा कही ए अनुकम्पा आज्ञा माहे क आज्ञा बाहिर सावद्य के निरवद्य छे। एतो कार्य प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिर सावद्य छे ते कार्यनी देवना ना मनमा उपनी जे ए दुःखिनी छै तो एहने कार्य करी दुःख मेटूं। ए परिणाम रूप अनुकम्पा पिण सावद्य छे (भ्र० पृ० १६८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

हरिण गमेसी देवताने अनुकम्पा करके छः बालकोंके प्राण बचाये थे इस अनुकम्पाको सावद्य कहना अज्ञान है। वे छः ही लड़के चरम शरीरी थे और वे दीक्षा लेकर मोक्ष गये। यदि हरिण गमेषी उनकी रक्षा नहीं करता तो वे किस तरह बचते और दीक्षा धारण करके किस प्रकार मोक्ष पाते ? इसलिये हरिण गमेशीने जो बालकों पर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाये थे और सुलसाकी दुःख निवृत्ति की थी उसे सावद्य बताना सर्वथा मिथ्या है।

उन बालकोंकी रक्षा करनेके लिये जो देवताने आने जानेकी क्रिया की थी उस क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावद्य बताना भी अज्ञान है। आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पाका परिणाम दूसरा है अतः आने जानेके कारण अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती। तीर्थंकरों को वन्दना करनेके लिये देवता लोग आते जाते हैं परन्तु आने जानेसे तीर्थंकर को वन्दना सावद्य नहीं होती क्योंकि आने जानेकी क्रिया पृथक् है और वन्दना पृथक् है उसी तरह आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पा दूसरी है इसलिये आने जानेकी क्रियाके सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नहीं है। यदि कोई आने जानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पाको सावद्य मानें तो उसे आने जानेके सावद्य होनेसे तीर्थंकर की वन्दनाको भी सावद्य कहना चाहिये। परन्तु आने जानेसे यदि तीर्थंकरकी वन्दना सावद्य नहीं होती तो उसी तरह आने जानेसे अनुकम्पा भी सावद्य नहीं हो सकती। हरिण गमेशी की अनुकम्पा का यह फल हुआ कि वे छः ही लड़के कंसके भयसे बच गये। अतः हरिण गमेशीकी अनुकम्पाको सावद्य कहना अज्ञान का परिणाम है।

(बोल २९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमवि० पृष्ठ १६८ पर अन्तगड सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"*अथ इहां कृष्णजी डोकरानो अनुकम्पा करी इंटिकाउ पैठा ईंट उपाड़ी तिणरे घर मूकी ए अनुकम्पा आज्ञामें के आज्ञा बाहिर सावद्य छै के निरवद्य छै*"
(भ्र० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

श्रीकृष्णजी नमिनाथजीकी वन्दनाके निमित्त जा रहे थे रास्तामें उन्होंने अत्यन्त जीर्ण अति दुःखी और कांपते हुए एक वृद्धको देखा उसे देख कर कृष्णजीके हृदयमें अनुकम्पा उत्पन्न हुई और उन्होंने अपने हाथमें ईंट उठा कर बुड्ढे के घर पर रख्खा था। यह श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पा सावद्यरहित थी इसे सावद्य सिद्ध करनेके लिये भ्रम विध्वंसनकारकी ओरसे यह कुहेतु लगाया जाता है कि "ईंट उठा कर रखने की साधु आज्ञा नहीं देते इसलिये श्रीकृष्णजीकी बुड्ढे पर अनुकम्पा सावद्य थी" परन्तु यह बिल कुल अयुक्त है ईंट उठानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती क्योंकि ईंट उठानेकी क्रिया भिन्न है और अनुकम्पा भिन्न है, दोनों एक नहीं हैं इस लिये ईंट उठानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती। श्रीकृष्णजी को नमिनाथजीका दर्शन करनेके लिये जब इच्छा उत्पन्न हुई तब उन्होंने चतुरंगिणी सेना सजायी थी। उस सेना सजाने रूप कार्य्यकी साधु आज्ञा नहीं देते परन्तु तीर्थ कर के वन्दनको तो अच्छा जानते हैं। यह तीर्थंकरका वन्दन जैसे सेना सजाने रूप कार्य्यके सावद्य होने पर भी सावद्य नहीं समझा जाता क्योंकि सेना सजाना दूसरा कार्य्य है और वन्दन करना उससे भिन्न है उसी तरह ईंट उठा कर रखने की आज्ञा साधु नहीं देते परन्तु अनुकम्पा करनेकी आज्ञा देते हैं अतः ईंट उठानेकी क्रिया का नाम लेकर अनुकम्पाको सावद्य बनाना मिथ्या है। यदि ईंट उठानेकी क्रियाके कारण अनु कम्पा सावद्य हो तो फिर सेना सजा कर आने जानेकी क्रियाके कारण नेमिनाथजी का वन्दन भी सावद्य होना चाहिये परन्तु जैसे सेना साज कर आने जानेसे वन्दन सावद्य नहीं होता उसी तरह ईंट उठानेसे अनुकम्पा भी सावद्य नहीं होती।

उत्तराध्ययन सूत्र २९ वें अध्ययनमें वन्दनका फल उच्च गोत्र बांधना कहा है और भगवती सूत्रमें अनुकम्पाका फल सात वेदनीय कर्मका बन्ध बतलाया है इसलिये ये दोनों ही कार्य्य अच्छे हैं अनुकम्पा करना सावद्य नहीं है अतः बुड्ढे पर श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पाको सावद्य बताना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल ३०)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६९ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ गाथा ८ वींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे हरिकेशी मुनिनी अनुकम्पा करी यक्षे विप्रान मार्‌या ऊंधापाड्या ए अनुकम्पा सावद्य छै ए निरवद्य छै आगम छै के आज्ञा बाहिरे छै एतो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै (भ्र० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह गाथा यह है —

> "जक्खो तहिँ तिंदुग रुक्खवासो,
> अणु कम्पओ तस्स महा मुनिस्स।
> पच्छाइयत्ता नियग सरीर
> इमाइ वयणाइ मुदाहरित्या।"

(उ० अ० १२ गाथा ८)

अर्थ —

तिंदुक वृक्षपर निवास करनेवाला उस महा मुनिका अनुकम्पक यानी उनमें भक्तिभाव रखनेवाला यक्ष अपने शरीरको छिपाकर ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसका नाम लेकर जीतमलजी और भीषणजी अनुकम्पाको सावद्य कहते हैं। उनका कहना है कि यक्षने जो ब्राह्मण कुमारोंका ताड़न किया था वह उसकी हरिकेशी मुनिपर अनुकम्पा हुई' परन्तु यह बात मिथ्या है यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणों को सदुपदेश दिया था जब वे ब्राह्मण उसे मारने लगे तो उसने भी मारनेके बदलेमें मारा था परन्तु अनुकम्पाके कारण नहीं मारा। मुनिपर अनुकम्पा करके सदुपदेश देनेका शास्त्रमें कथन है मारनेका नहीं वह गाथा यह है —

> "समणो अहं संजउ बम्भयारी,
> विरओ धण पयण परि ग्गहाओ।
> पर प्पवित्तस्सउ भिक्ख काले,
> अन्नस्स अट्ठा इह आगओ मि" ॥
> वियरिज्जइ, खज्जइ, भुज्जइय, अन्नं पभूयं भवयाणमेयं
> जाणाहिमे जायण जीवणुत्ति, सेसावसेसं लहउ तवस्सी"।

(उत्तराध्ययन अ० १२ गाथा ९।१०)

अथ —

मैं श्रमण हूं और संयत यानी सब सावद्य योगोंसे हटा हुआ हूं। मैं ब्रह्मचारी और धन, पचन, पाचन, तथा परिग्रह रहित हूं, आपके यहां भिक्षाके निमित्त समयमें आया हूं गृहस्थ अपने भोजनार्थ जो अन्न बनाते हैं उसी अन्नको भिक्षाके लिए मैं आया हूं आपके इस यज्ञ स्थान में प्रचुर अन्न दीन अनाथ और दरिद्रोंको दिया जाता है और खाया जाता है तथा खिलाया जाता है यह सब अन्न आप लोगोंका ही है। मैं भिक्षाजीवी तपस्वी हूं इसलिए आपके यहां जो बचाखुचा बचा हुआ अन्न हो वह मुझे मिलना चाहिए।

यहां यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंसे नम्रतापूर्वक मुनिको भिक्षा देनेका उपदेश दिया है यह उपदेश देना बुरा नहीं किन्तु धर्म है। जैसे कोई पुरुष क्षुधातुर साधुको भिक्षा देनेके लिए लोगोंको उपदेश देवे तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता। उसी तरह मुनिको भिक्षा देनेके लिए यक्षका ब्राह्मणोंको उपदेश देना बुरा नहीं है।

जब यक्षके उपदेशसे ब्राह्मण लोग न समझे बल्कि और अधिक उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़े तब यक्षने भी क्रोध करके ब्राह्मणोंको मारा था। यह मारना रूप कार्य्य ब्राह्मणोंपर क्रोध करके यक्षने किया था मुनिपर अनुकम्पा करके नहीं क्योंकि जहां मारने पीटनेकी बात आई है वहां मूल पाठमें यह नहीं कहा है कि यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंको मारा था अतः यक्षका यह कार्य्य क्रोधके कारण हुआ था अनुकम्पाके कारण नहीं अनुकम्पा करके उसने ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था मारा नहीं था। इसलिए इस मारने रूप कार्य्यके सावद्य होनेपर भी इससे पहले जो यक्षने ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था वह सावद्य नहीं हो सकता।

जैसे कोई साधु भक्त श्रावक, साधुपर अनुकम्पा करके लोगोंको भिक्षा देनेका उपदेश देवे परन्तु उसके उपदेशसे लोग भिक्षा तो न दें उलटे उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़े, यह देखकर साधु भक्त वह श्रावक भी यदि लोगोंको मार पीटे तो उसके इस कार्य्यसे उसका पहला कार्य्य यानी साधुको भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता उसी तरह यक्षने जो ब्राह्मणोंको मारा था इससे उसका पहला कार्य्य यानी मुनि पर अनुकम्पा करके भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता। अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाका नाम लेकर हरिकेशी मुनिपर यक्षकी अनुकम्पाको सावद्य कहना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३१ वां समाप्त)

बल्कि मनमाफिक आहार छोड़ना लिखा है तथा गर्भके हितकारक आहार खाना लिखा है इसलिये "धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मनमाफिक आहार खाया था" यह जीत मलजीकी प्ररूपणा इस मूलपाठसे प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

इस पाठमें गर्भ पर अनुकम्पा करके धारिणीसे अजयणाका त्याग किया जाना लिखा है तथा चिन्ता शोक मोह और भयको छोड़ देना लिखा है अत: तेरह पन्थियोंसे पूछना चाहिये कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके जो अजयणाका त्याग किया था तथा चिन्ता शोक मोह और भय आदि छोड़ दिये थे यह अच्छा किया था या बुरा किया था ? यदि अच्छा किया था तो धारिणीकी गर्भ पर अनुकम्पा बुरी कैसे हुई ?

इस पाठमें स्पष्ट लिखा है कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मोह छोड़ दिया था तथापि जीतमलजी धारिणीकी गर्भानुकम्पाको मोह अनुकम्पा बतलाते हैं यह इनका महान् अज्ञान है जिस अनुकम्पाके होनेसे मोह छोड़ दिया जाता है वह अनुकम्पा खुद ही मोह अनुकम्पा हो यह किस प्रकार हो सकता है ?

इस पाठमें कहा है कि "धारिणी रानी गर्भ पर अनुकम्पा करके गर्भका हितकारक आहार खाती थी" इस आहार खानका नाम लेकर गर्भकी अनुकम्पा को सावद्य कहना भी अज्ञान है क्योंकि गर्भका आहार गर्भवतीके आहारके आधीन है यदि गर्भवती आहार न करे तो उसके गर्भका भी आहार बन्द हो जाता है और आहार बन्द होनेसे वह गर्भ मर सकता है ऐसी दशामें आहार नहीं करनेवाली गर्भवतीको गर्भ हिंसा का पाप लग सकता है इस गर्भ हिंसाकी निवृत्ति और गर्भरक्षाके लिये धारिणीका भोजन करना भी एकान्त पापमें नहीं है

गर्भवती श्राविका यदि भोजन न करे तो उसके पहले व्रतमें अतिचार आता है क्योंकि अपने आश्रित प्राणीको भूखा मारना पहले व्रतका अतिचार है परन्तु निर्दय जीव इतना भी नहीं सोचते वे गर्भवतीको उपवास करनेका उपदेश देते हैं और गर्भ पर दया न करनेको धर्म मानते हैं व प्रत्यक्ष ही शास्त्रविरुद्ध कार्य्य करा कर गर्भ हिंसाके समर्थक बनते हैं। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ में साक्षात् तीर्थंकरने कहा है कि "माताके आहारसे गर्भको आहार मिलता है" अत: जो गर्भवतीका आहार छुड़ाते हैं व गर्भस्थ बालकको भूखा मारते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य कदापि गर्भको दुःख नहीं देते उस पर अनुकम्पा रखते हैं।

यह बात केवल गर्भके लिये ही नहीं किन्तु अपने आश्रित द्विपद चतुष्पद आदि प्राणियोंको भी सम्यग्दृष्टि भूखा नहीं रखते। उनपर अनुकम्पा करते हैं नहीं तो उनके पहले

प्रकर्में अभिप्राय आता है अत धारिणी रानीकी गर्भानुकम्पाको मोह अनुकम्पा और सावद्य अनुकम्पा बताना अज्ञानियोंका कार्य है।

(बोल ३२ वा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७१ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां अभयकुमारनी अनुकम्पा करी देवता मेह वरसायो, ए तिण अनुकम्पा करी ते सावद्य छै के निरवद्य छै एहो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिर छै" (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अभयकुमारने तीन दिन तक उपवास किया था और ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्वक तीन दिन तक बैठा रहा। उसका कष्ट देख कर देवताके हृदयमें अनुकम्पा उत्पन्न हुई तथा अभयकुमारका जीवन साथ उस देवताके पूर्वजन्ममें जो स्नेह, प्रीति, और बहुमान थे उनका स्मरण करके उसके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हुआ था । मूलपाठमें यही बात कही है अनुकम्पा लाकर पानी बरसाना नहीं कहा है परन्तु जीतमलजी अनुकम्पा लाकर पानी बरसानेकी बात कहते हैं इनकी यह बात मिथ्या है मूलपाठमें पानी बरसानेका कारण अनुकम्पा नहीं किन्तु प्रीति कही गयी है। यह मूल पाठ लिख कर स्पष्ट किया जाता है —

"अभयकुमार मणुकम्पमाणे देवे पुव्वभव जणिय नेहपीई बहुमाण जाय सोगे"

(टीका)

हा ! तस्य अष्टमोपवास रूपं कष्ट विशते इति विकल्पयन्"

अर्थात् मेरे मित्रको अष्टमोपवास जनित कष्ट हो रहा है यह सोचते हुए उस देवताके हृदयमें पूर्वजन्मकी प्रीति स्नेह बहुमान (गुणानुराग) के स्मरण होनेसे मित्र विरह रूप खेद उत्पन्न हुआ ।

यहां अनुकम्पा करके पानी बरसाना नहीं लिखा है आगे चल कर मूलपाठमें पानी बरसानेकी बात आई है वहां प्रीतिके कारण पानी बरसाना कहा है अनुकम्पा के कारण नहीं वह पाठ यह है—

"अभय कुमारं एव वयासी एव खलुदेवाणुप्पिया ! मए तव प्पियट्ठयाए सगज्जिया सफुसिया सविज्जुया दिव्वा पाउससिरी विउव्विया"

(ज्ञाता अ० १)

अर्थ —

अर्थात् देवताने अभयकुमारसे कहा कि—

हे देवानुप्रिय ! मैंने तुम्हारे प्रेमके लिये गर्जन विद्युत और जलबिन्दु प्रपात के साथ दिव्य वर्षाऋतुकी शोभा उत्पन्न की है।

यहां अभयकुमारकी प्रीतिके लिये मेह बरसाना कहा है अनुकम्पाके लिये नहीं अतः अनुकम्पासे मेह बरसानेकी बात मूलपाठसे विरुद्ध है।

जैसे गुणोंमें प्रेम रखने वाले देवता तप और संयमसे युक्त मुनि पर अनुकम्पा करके उत्तर वैक्रिय शरीर बना कर उनके दर्शनार्थ हर्षके साथ आते हैं और उन देवताओं के गुणानुराग और मुनि पर अनुकम्पा तथा साधु दर्शनको शास्त्रकार वैक्रिय शरीर बनाने और आने जानेकी क्रिया करनेसे बुरा नहीं किन्तु उत्तम बतलाते हैं क्योंकि गुणानुराग, अनुकम्पा और साधु दर्शन भिन्न हैं और उत्तर वैक्रिय शरीर बनाना तथा आना आदि भिन्न हैं उसी तरह आने जाने आदिकी क्रियायें भिन्न हैं और अनुकम्पा भिन्न है इस लिये आने जाने आदि क्रिया के सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नहीं होती अतः अभय कुमार पर देवता की अनुकम्पा को सावद्य कहना अज्ञान का परिणाम है।

(बोल ३३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन १७१ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन ९ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहां रयणा देवीरी अनुकम्पा करी जिन ऋषि साहमो जोयो ए जिन अनुकम्पा कही ए अनुकम्पा मोह कर्मरा उदयथी ए मोह कर्मरा क्षयोपशम थी ए अनुकम्पा सावद्य छै ए निरवद्य छै आज्ञामें छै ए आज्ञा बाहिरे छै विवेक विलोचने करी विचारी जोयजो” (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जिन ऋषिने रयणा देवी पर अनुकम्पा करके उसे देखा था यह भ्रमविध्वंसनकारका कथन बिलकुल झूठा और मूलपाठसे विरुद्ध है। वहां मूल पाठमें अनुकम्पाका नाम नहीं है वहां यह पाठ आया है—

“समुप्पन्न कलुणभावं” इस पाठमें आ “कलुण” शब्द आया है वह अनुकम्पा अर्थमें नहीं है क्योंकि रयणा देवी पर जिन ऋषिकी अनुकम्पा उत्पन्न होने का

कोई कारण न था किन्तु प्रियाके वियोगसे जो करुण नामक एक रस उत्पन्न होता है उसकी वहां सामग्री पूर्णरूपसे मौजूद थी इसलिये रयणा देवीके प्रति जिन ऋषिको करुण रस ही उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं अत उक्त पाठमें आया हुआ "कलुण" शब्द करुणरसका ही बोधक है अनुकम्पाका नहीं।

ज्ञाता सूत्रके मूल पाठमें साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके विचित्र हाव भाव और कटाक्ष तथा सुरत सुखको स्मरण करके तथा उसके मनोहर शब्द और भूषणोंकी मधुर ध्वनि सुन कर जिन ऋषिके हृदयमें करुण भाव उत्पन्न हुआ था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिन ऋषिको रयणा देवीके ऊपर करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं क्योंकि अपनी प्रियाके हाव भाव कटाक्ष और सुरत सुखको स्मरण करनेसे और उसके मनोहर वाक्य तथा भूषणोंकी ध्वनि सुननेसे करुण रस ही उत्पन्न होता है अनुकम्पा नहीं उत्पन्न होती है। वह ज्ञाता सूत्रका पाठ यह है —

"ततेण से जिण रक्खिए चलमणे तेणेव भूसणरवेण कण्णसुह मनोहरेण तेहिं य सप्पणय सरल महुर भासिएहिं सजायविउल राए रयण दीवस्स देवयाए तीसे सुन्दर थण जहण वयण कर चरण नयन लावण्णरूप जोवण सिरीचदिव्व सरभस उवगूहियाइं जातिं बिब्बोय विलसिताणिय विहसिय सकडक्खदिट्ठी निस्ससिय मलिय उवललिय ठियगमण पणयखिज्जिय पासादियाणिय सरमाणे राग मोहियमइ अवसे कम्मवसगए अवयक्खति मग्गतो सविलियं। ततेण जिणरक्खियं समुप्पन्नकलुण भाव मच्चुगलत्थल्लणोल्लियमइं अवयक्खन्त तहेव जक्खेय सेलए जाणिऊण सणियं सणियं उव्विहति नियग पिट्ठाहि विगयसत्थं। ततेण सा रयण दीव देवता निस्ससा कलुण जिण रक्खिय सकलुसा सेलग पिट्ठाहि उवयन्त दास ! मओ सित्ति जम्पमाणी अप्पत्त सागर सलिल गेण्हिय बाहाहिं आरसन्त उड्ढं उव्विहति अवर तले ओवयमाणय मण्डलग्गेण पडिच्छित्ता नीलुप्पणधवल अयसिप्पगासेण असिवरेण खण्डाखण्डिं करेति"

(ज्ञाता अ० ९)

अर्थ —

इसके अनन्तर उस जिन रक्षितका मन रयणा देवीके ऊपर चलायमान हो गया। रयणा देवीके कर्ण मनोहर भूषण शब्द, और प्रेम सहित सरल मधु भाषणसे जिन रक्षितका राग (स्नेह) रयणा देवी पर पहलेसे भी ज्यादा बढ़ कर द्विगुण हो गया। रयणा देवीके सुन्दर स्तन, जघन, मुख, कर चरण और नयनकी लावण्यको तथा उसके शरीरकी सुन्दरता दिव्य यौवनकी शोभा हर्ष साथ आलिङ्गन करना स्त्री चेष्टा विभ्रम मधुर हास्य सकटाक्ष देखना नि श्वास सुखद आस्पर्श रति कूजित अङ्क तथा आसनादि पर बैठना हंसवत् गमन प्रणय क्रोध और प्रसन्नताका स्मरण करके वह जिन रक्षित रयणा देवी पर मोहित हो गया वह अपने धर्म नहीं रह सका। वह जिन रक्षित अवश और काम वशीभूत होकर पीछेसे आती हुई रयणा देवीको लज्जाके साथ देखने लगा।

इसके अनन्तर प्रियाके वियोगसे जिसको करुण रस उत्पन्न हो गया था और मृत्युने जिसका गला पकड़ लिया गया था जो यमपुरी जानेके लिये तत्पर हो गया था जो रयणा देवीका प्रेम सहित देख रहा था उस जिन रक्षितको उस शैलक यक्षने धीरे धीरे अपने पृष्ठ भाग गिरा दिया।

इसके अनन्तर मनुष्योंका घात करने वाली द्वेषसे पूर्ण हृदय वाला उस रयणा देवीने शैलक यक्षके पृष्ठ गिरते हुए करुणारससे युक्त उस जिन रक्षितको अरे दास। मरा ऐसा कहती हुई समुद्रमें पहुंचनेके पहले ही अपनी भुजाओंसे ऊपर आकाशमें फेंक दिया पश्चात् अपने तीक्ष्ण शूलके ऊपर उसे रोप कर तीक्ष्ण तलवारसे खण्ड खण्ड कर डाला।

यह ज्ञाता सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है।

यहां साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके भूषणोंके मनोहर शब्द और उसके कर्णमधुर वाक्योंको सुनकर जिन रक्षितका राग रयणा देवीके ऊपर पहलेसे भी अधिक हो गया तथा रयणा देवीके शरीरकी सुन्दरता और स्तन जघन मुख आदि अंगोंको देख कर जिन रक्षित उसके ऊपर मोहित हो गया। मोहित होकर जिन रक्षित रयणा देवीकी ओर देखने लगा। यहां रयणा देवी पर मोहित होकर जिन रक्षितका उसकी ओर देखना कहा है अनुकम्पाके कारण देखना नहीं कहा है। अत जिन रक्षितका रयणा देवीके ऊपर मोह उत्पन्न हुआ था। अनुकम्पा नहीं उत्पन्न हुई थी इस पाठमें जो "समुप्पन्न कलुण भाव" यह जिन रक्षितका विशेषण आया है इसका अर्थ भी रयणा देवीके ऊपर प्रिय वियोगसे उत्पन्न होने वाला करुण रसका उत्पन्न होना ही है अनुकम्पा होना नहीं। अनुयोग द्वार सूत्रमें प्रियके वियोगसे करुण रसकी उत्पत्ति बताई है वह पाठ यहां लिखा जाता है—

"नय कव्व रसा पण्णत्ता तंजहा—

"वीरो सिंगारो अब्भुओ रोद्दो होइ बोद्धव्वो।
वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसंतो अ"

(अनुयोग द्वार सूत्र)

अर्थ —

नौ प्रकारके काव्यके रस होते हैं वे ये हैं—(१) वीर (२) शृंगार (३) अद्भुत (४) रौद्र (५) व्रीडनक (६) बीभत्स (७) हास्य (८) करुण (९) प्रशान्त।

यहां करुण नामक एक रस बताया गया है उसकी उत्पत्तिका कारण भी इसी जगह मूलपाठमें कहा है। वह पाठ यह है —

"पिय विप्पयोग बंध वह वाहि विणिवाय सम्भमुप्पण्णो। सोइय विलविय अपम्लाण रुण्णलिंगो रसो करुणो" करुणो रसो जहा— "पज्झाय किलामिअयं बाहागयपप्पुअच्छियं बहुसो। तस्सविओगे पुत्तिय दुब्बलयंते मुहं जायं"

(अनु० गाथा १६।१७)

अर्थ —

प्रियके साथ वियोग होनेसे तथा बन्धन, वध व्याधि, पुत्रादि मरण और पर राज्यके भय होनेसे करुण रस उत्पन्न होता है। चिन्ता करना विलाप करना उदास होना रोना होना इसके लक्षण हैं। इसके उदाहरणकी गाथाका यह अर्थ है—

प्रिय वियोगसे दुःखित बालासे कोई वृद्धा स्त्री कहती है कि हे पुत्रि! अपने प्रियकी अत्यन्त चिन्ता करनेसे तुम्हारा मुख खिन्न हो गया है और अविरल अश्रुधारासे तुम्हारी आंखें सदा भरी रहती हैं।

यहां प्रियके वियोगसे करुण रसकी उत्पत्ति बता कर प्रियके वियोगसे अत्यन्त दुःखित बालाका उदाहरण दिया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रयणा देवीके वियोग से जिन ऋषिके हृदय में करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हुई थी। अतः रयणा देवीके ऊपर जिन ऋषिके करुण रसको अनुकम्पा कायम करके अनुकम्पाको सावद्य बताना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

बोल ३४ वां

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १४५ के ऊपर ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे सूर्याभिगे नाटक रूपभक्ति करी तेहनी भगवान आज्ञा न दी था अनुमोदना पिण न कीधी। अने सूर्याभ वन्दना रूप सेवा भक्ति की थी तिण ऊपरे पाठ छे। "अब्भणुण्णाय मेयं सुरियाभा" एतन्दनारूप भक्तिरी म्हारी आज्ञा है इम आज्ञा दीधी अन नाटक रूपभक्ति सावद्य छे त माटे आज्ञा न दी थी अनुमोदना पिण न की थी जिम सावद्य निरवद्य भक्ति छे तिम अनुकम्पा पिण सावद्य निरवद्य छे। कोई शद्द सावद्य अनुकम्पा किहां कही छे तदगो कहिगो सावद्य भक्ति किहां कही छे"

इसका क्या समाधान ? (भ्र० पृ० १५५)

(प्ररूपक)

राज प्रश्नीय सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है—

"तएणं से सुरियाभे देवे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ तुट्ठ चित्त माण दिए परम सोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदति नमसति एवं वयासी तुब्भेणं भन्ते! सव्वं जाणह सव्वं पासह सव्वं कालं जाणह सव्वं कालं पासह सव्वे भावे जाणह सव्वे भावे पासह जाणंतिणं देवाणुप्पिया! मम पुव्विवा पच्छावा ममेयरूव दिव्वदेविड्ढि दिव्व देवजुइं दिव्व देवाणुभाग लद्ध पत्त अभिसमण्णागय चेति त इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वगं गोलमातियाणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं वत्तीसति वद्धं नट्टविहिं उवदसित्तए। तएणं समणे भगवं महावीरे सूर्याभेण देवेणं एवं वुत्ते समाणे सुरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं नो आढाति नोपारिजाणाइ तुसिणिए संचिट्ठइ"

(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

श्रमण भगवान् महावीर स्वामीसे इस प्रकार कहा हुआ सूर्याभ देवता हृष्ट तुष्ट और आनन्दित चित्त होकर भगवान्‌को वन्दना नमस्कार करके कहने लगा कि हे भगवन्! आप सब कुछ जानते और देखते हैं। आप सब कालको सब भावोंको जानते और देखते हैं। तथा इस प्रकार का दिव्य देव ऋद्धि देव द्युति और दिव्य देव प्रभाव मुझको सर्वदा प्राप्त है यह भी आप जानते हैं इस लिये आपकी भक्ति पूर्वक मैं गौतमादि निर्ग्रन्थोंको दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देव द्युति, दिव्य देव प्रभाव और बत्तीस प्रकारका नाटक विधि दिखलाना चाहता हूं। यह सुन कर भगवान् महा-

और स्वामीने सूर्याभके कथनका आदर नहीं किया। अनुमोदन भी नहीं किया किन्तु मौन धारण कर लिया। यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है।

इस पाठमें सूर्याभने भक्तिपूर्वक नाटक दिखानेकी बात कही है भक्ति को ही नाटक नहीं कहा है यदि नाटक ही भक्ति होता तो इस पाठमें "भक्ति पुव्वगं" की जगह "भक्ति रूप" ऐसा नाटकका विशेषण आता परन्तु वह नहीं होकर जो यहां "भत्ति पुव्वग" यह पाठ आया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटक दूसरी चीज है और भगवानकी भक्ति दूसरी है ये दोनों एक नहीं हैं। वीतरागमें परमानुराग रखना वीतरागकी भक्ति है और वेष भाषा और भूषण द्वारा किसी उत्तम पुरुषका अनुकरण करना नाटक है। ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं। नाटकके आरम्भमें विघ्न निवारणके लिये नट लोग भगवानकी भक्ति करते हैं यदि नाटक ही स्वयं भक्ति स्वरूप होता तो नाटकके पूर्वमें भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता थी। रागादिकामनासे उदयसे नाटक किया और देखा जाता है परन्तु वीतरागकी भक्ति, रागके क्षयोपशम आदि होनेसे की जाती है इसलिये भगवद्भक्ति और नाटक दोनों एक पदार्थ नहीं हैं। भगवानने भक्ति करनेकी आज्ञा दी थी परन्तु नाटककी आज्ञा नहीं दी इसलिये भक्ति और नाटक भिन्न भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं। अतः नाटकको ही भक्ति कायम करके उसे सावद्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करना अज्ञान है।

इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि नाटक स्वाध्याय का विघातक है और भगवान् महावीर स्वामी वीतराग थे इसलिये भगवानने नाटक करनेकी आज्ञा नहीं दी। यदि नाटक ही भक्ति होता तो टीकाकार स्पष्ट लिख देते कि नाटकरूप भक्ति सावद्य है इसलिये भगवानने उसकी आज्ञा नहीं दी थी। देखिये वह टीका यह है—

"तत श्रमणो भगवान् सूर्याभेण एवमुक्त सन् सूर्याभस्य देवस्यैन मनंतरो दितमर्थ नाद्रियते नतदर्थ करणायादरपरोभवति नापि परिजानाति, अनुमन्यते स्वतो वीतरागत्वात् गोतमादीनाञ्च नाट्य विधेः स्वाध्यायादि विघात कारित्वात्। केवलं तुष्णीकोऽवतिष्ठते"।

अर्थात् सूर्याभदेवके इस प्रकार कहने पर भगवान् महावीर स्वामीने उसके कथनका आदर नहीं किया और उसका अनुमोदन भी नहीं किया। भगवान् स्वयं वीतराग थे और नाटक गोतमादि मुनियोंके स्वाध्यायका विघातक था। अतः भगवान् इस विषयमें मौन रहे।

यहां टीकाकारने नाटककी आज्ञा न देनेका कारण भगवानका वीतराग होना, और नाटकका गोतमादिक स्वाध्यायका विघातक होना बतलाया है परन्तु नाटकका की

भक्तिका सावद्य होना कारण नहीं बतलाया है अतः नाटकको भक्ति मान कर उसकी आज्ञा न देनेसे वीतरागकी भक्तिको सावद्य कायम करना अज्ञानका परिणाम है। यदि नाटक भक्तिस्वरूप होता तो मूलपाठमें "भक्ति पूव्वग" यह पाठ न होकर "भत्ति रूवं" यह पाठ आता और टीकाकार नाटककी आज्ञा न देनेका कारण भक्तिका सावद्य होना बतलाते परन्तु टीकाकारने भक्तिको सावद्य नहीं कहा है और मूलपाठमें नाटकको भक्तिरूप नहीं कहा है अतः राजप्रश्नीय सूत्रके उक्त मूलपाठके आधार पर वीतरागकी भक्तिको सावद्य कहना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल ३५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ के ३२ वीं गाथाको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि —

"अथ अठे हरिकेशी कह्यो ए छात्राने हण्या ते यक्षे व्यावच की थी छै पर म्हारे दोष मीन हो काल्म न थी इहां व्यावच कही ते सावद्य छै आज्ञा बाहिरे छै अने ए केशी मुनिने असनादिक दान रूप जे व्यावच ते निरवद्य छै तिम अनुकम्पा पिण सावद्य निरवद्य छै" (भ्र० पृ० १७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यक्षने ब्राह्मण कुमारोंको जो मारा था उसे मुनिका व्यावच कहना मिथ्या है क्योंकि व्यावच दूसरी वस्तु है और मारना दूसरा है। मारना ही व्यावच नहीं है अतएव गाथामें कहा है कि—

"इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विनिवारयन्ति"

अर्थात् ऋषिका व्यावच करनेके लिये यक्ष, ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करने लगे।

यहां व्यावचके लिये मारना कहा है परन्तु मारनेको ही व्यावच नहीं कहा है इस लिये मारनेको ही व्यावच बतलाना मिथ्या है। जैसे भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये सूर्याभ देवताने वैक्रिय समुद्घात किया है वहां "वन्दण वत्तियं" यह पाठ आया है उसी तरह यहां भी "वेयावडियट्ठयाए" यह पाठ आया है अतः जैसे भगवान् का वन्दन करनेके लिये देवताओंने किया हुआ वैक्रिय समुद्घात वन्दना स्वरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये यक्षने किया हुआ ब्राह्मण कुमारोंका ताड़न भी व्यावच स्वरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न है।

तथापि यदि कोई हठ करके "वेयावडियट्ठयाए" यह पाठ देख कर मारनेको ही वयावच कहे तो फिर उसे वन्दनके निमित्त किया जाने वाला वैक्रिय समुद्घातको भी वन्दन स्वरूप ही मानना पड़गा और भगवान्का वन्दन भी वैक्रिय समुद्घात स्वरूप होने से सावद्य कहना पड़गा। परन्तु वैक्रिय समुद्घातको यदि वन्दन स्वरूप नहीं मान कर उस वन्दनसे भिन्न मानते हो तो उसी तरह व्यावचको भी मारनेसे भिन्न ही मानना पड़गा एक नहीं मान सकते।

उत्तराध्ययन सूत्रको गाथामे भी मुनिने ब्राह्मणोंसे यही कहा है कि "यक्ष मेरा व्यावच करते हैं" परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा था उसे ही मुनिने अपना व्यावच नहीं कहा था। देखिये, उत्तराध्ययनकी गाथा यह है —

"पुब्विंच इण्हिंच अनागयंच मनप्पदोसो नमे अत्थिकोई।
जक्खाहु वेयावडियं करेंति तम्हाहु एए निहया कुमारा"
(उत्तरा० अ० १२ गाथा ३२)

अर्थात् आप लोगोंके प्रति मेरे मनमें न कभी द्वेष था और न है और न होगा। यक्ष मेरा व्यावच करते हैं इसलिये ये लड़के मारे गये हैं। यह उक्त गाथा अर्थ है।

यहां मुनिने यही कहा है कि यक्ष मेरा व्यावच करते हैं परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा है यह मेरा व्यावच है ऐसा नहीं कहा, इसलिये मारनेको ही व्यावच मानना अज्ञान है।

यद्यपि यक्षोंने मुनिका व्यावच करनेके लिये ही ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था तथापि जैसे तीर्थङ्करकी वन्दनाके लिये देवताओंका किया हुआ वैक्रिय समुद्घात वन्दनसे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये किया हुआ ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है। आज कल भी श्रावक लोग मुनियोंका दर्शन करनेके लिये रेल गाड़ी घोड़ा गाड़ी मोटर गाड़ी आदि विविध वाहनोंमें बैठ कर दूर दूरसे मुनियोंके पास आते हैं। उनका आना मुनियोंका वन्दनके लिये ही होता है परन्तु जैसे आने जाने रूप क्रियासे मुनिका वन्दन भिन्न है उसी तरह हरि केशी मुनिका व्यावचके लिये यक्षोंके द्वारा ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है अतः मुनिके वन्दनके समान ही मुनिका व्यावच भी निरवद्य है सावद्य नहीं है।

यदि कोई कहे कि "मुनिका वन्दन तो अपने लिये किया जाता है परन्तु व्यावच अपने लिये नहीं मुनिके लिये किया जाता है इस लिये व्यावच और वन्दन दोनों समान नहीं हैं" तो उसे कहना चाहिये कि व्यावच भी वन्दनके समान अपने लिये ही किया जाता है और उस व्यावचसे जो निर्जरा होती है वह भी व्यावच करनेवाले को ही

ने जहा चतुरंगिणी सेना सजाइ है और पुरीका सत्कार कराया है वहा भी "तिक्खुत्तो वन्दामि समण भगव महावीरं अभिवन्दइ" यह पाठ आता है। इस पाठमें कौणिक राजा ने भगवान महावीर स्वामीकी वन्दनाके लिये सेना सजाने और पुरीका सत्कार करनेकी आज्ञा दी है। यदि अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे अनुकम्पा सदोष है तो फिर वन्दनाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे वन्दनाको भी सदोष मानना चाहिये और जैसे अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे सदोष होकर अनुकम्पा सावद्य होती है उसी तरह वन्दनाके निमित्त किये जाने वाले कार्यों से सदोष होकर वन्दना भी सावद्य हो जानी चाहिये। परन्तु यदि वन्दनाके निमित्त किये जाने वाले, सेना सजाने और पुरीका सत्कार कराने रूप कार्य्यसे वन्दनाको सदोष नहीं मानते और वन्दनाको सावद्य नहीं कहते तो उसी तरह अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे अनुकम्पाको भी सदोष नहीं मानना चाहिये और अनुकम्पाको भी सावद्य नहीं कहना चाहिये।

वास्तवमें जैसे भगवानकी वन्दनाके लिये किया जाने वाला कार्य्य दूसरा है और भगवानकी वन्दना दूसरी है उसी तरह अनुकम्पाके लिये किया जाने वाला कार्य्य दूसरा है और अनुकम्पा दूसरी है अतः जैसे तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये किये जाने वाले कार्य्य के आज्ञा बाहर होने पर भी तीर्थंकरकी वन्दना आज्ञा बाहर नहीं है उसी तरह अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावद्य नहीं है।

भगवान महावीर स्वामीको वन्दन करनेके लिये कौणिक राजाने चतुरंगिणी सेना सजाई थी और पुरीका सत्कार कराया था। वह पाठ यह है —

"तएण कूणिए राया भिंभसार पुत्ते बलवाउअ आमतेइ आम तेत्ता एववयासी—खिप्पामेव देवाणुप्पिया। अभिसेक्क हत्थि रयण परिकप्पेहि, हय, गयरह पवर जोह कलियच चाउरंगिणी सेण्ण सन्नाहेहि। सुभद्दा पमुहाणय देवीण बाहिरियाउ उवट्ठाण सालाए पाडियक्क जाणाइ जत्ताभिमुहाइ जुत्ताइ जाणाइ उवट्ठवेह। चम्प नयरीं सब्भितर बाहिरिय आसित्त सित्त सुइ सम्मट्ठ रत्थन्तरावण वीहियं मचाइ मच कलिय नाना विह राग उच्छिय झय पडागाइ पडागमडियं लाउल्लोइयमहियं गोसीस सरस रत्तचंदन जाव गधवट्टिभूय करेइ

कारवेद कारत्ता कारवेत्ता एमाणत्तिय पच्चप्पिणाहि, निज्जाइस्सामि समण भगव महावीर अभिवन्दए''

(उवाई सूत्र)

अर्थ —

इसके अनन्तर बिम्बसारका पुत्र कौणिक राजाने प्रधान सेनापतिको बुला कर कहा कि हे देवानुप्रिय ! मेरे प्रधान हस्ति रत्नको शीघ्र तयार करो और हाथी घोड़े, रथ तथा प्रधान योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना सजाओ । सुभद्रा आदि रानियोंके आरोहण के लिये प्रत्येकके निमित्त अलग अलग रथ जोता कर खड़ा करो । झाड़ बुहार सेचन लेपन आदिसे चम्पा नगरीके बाजार सड़क गली आदिका सत्कार कराओ । सेनाका मार्ग देखनेके लिये आने वाले दर्शक लोगोंके निमित्त मंच आदि बनवा दो । कृष्णागुरु धूप आदिसे पुरीको सुगन्धित करो । मेरी इस आज्ञाका पालन करके मुझे सूचना दो मैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये जाऊंगा । इस पाठका यह अर्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि 'बिम्बसार पुत्र राजा कौणिकने भगवान महावीर स्वामी का वन्दन करनेके लिये चतुरंगिणी सेना सजाई और पुरीका सत्कार कराया था जब कौणिक मनमें भगवान महावीर स्वामीके वन्दनका भाव उत्पन्न हुआ तब उसने सेना सजायी और पुरीका संस्कार कराया । सेना सजाना और पुरीका संस्कार कराना आज्ञा बाहर है यद्यपि इन कार्यों से भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन सावद्य नहीं होता क्योंकि ये कार्य दूसरे हैं और वन्दन दूसरा है उसी तरह अनुकम्पाका भाव आने पर जो कार्य किया जाता है वह कार्य दूसरा है और अनुकम्पा दूसरी है इस लिये अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्योंके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर या सावद्य नहीं होती ।

सूर्य्याभदेवने भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये जाने समय सुघोष नामक घण्टा बजाकर देवोंको सूचित किया था । वह पाठ यह है —

"सूरियाभे देवे गच्छइण भो सूरियाभेदेवे जम्बूदीव २ भारह वास आमलकप्प नगरीं अम्बसालवण चेइय समण भगव महावीर अभिवन्दए । त तुब्भेऽपिण देवाणुप्पिया । सव्विड्ढिए अकाल परि हीणाचेव सूरियाभस्स अन्तिय पाउब्भह''

(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

यह सब कर इस इस प्रकार देवगण, कोई भगवानकी वन्दना करनेके लिए, कोई इनकी पूजा करनेके लिए कोई सत्कार सम्मान करनेके लिये, कोई कौतूहलके लिये, कोई नहीं सुनी हुई बातको सुननेके लिए और सुने हुए संदिग्ध अर्थको पूछनेके लिये, कोई सूर्याभकी आज्ञा पालन करनेके लिये, कोई परस्पर मित्रकी आज्ञा पालनके लिए कोई भगवद्भक्तिके अनुरागसे, कोई यह समझ कर, सम्पूर्ण ऋद्धियोंसे युक्त होकर सूर्याभके निकट उपस्थित हुए।

इस पाठमें कहा है कि "देवता लोग भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन नमस्कार सत्कार सम्मान और सेवा शुश्रूषा करनेके लिये सूर्याभके निकट सब ऋद्धियोंसे युक्त होकर आए"। देवताओंके हृदयमें जब भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब वे सूर्याभके पास आये तो जन भ्रमविध्वंसनकार के हिसाबसे भगवान्का वन्दन नमस्कार भी सावद्य ही ठहरेगा क्योंकि साधु किसीको कहीं आने जानेकी आज्ञा नहीं देते। परन्तु यदि आने जानेकी क्रिया दूसरी है और वन्दन नमस्कार दूसरा है इसलिये आने जानेकी क्रियाके आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दन नमस्कार आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा भी दूसरी है और उसके लिये किया जाने वाला कार्य्य दूसरा है। उस कार्य्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावद्य नहीं है। अतः अनुकम्पाके लिये की जाने वाली क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावद्य कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

जिस कार्य्यके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप है यह भ्रमविध्वंसनकारकी प्ररूपणा भी मिथ्या है क्योंकि मुनि लोग किसीको साधुका दर्शन करनेके लिये जानेकी भी आज्ञा नहीं देते तथापि साधु का दर्शन करनेके लिये जाना एकान्त पाप नहीं है।

भगवती सूत्र और राजप्रश्नीय सूत्रमें यह पाठ आया है—"तहारूवाणं अरिहंताणं भगवंताणं नाम गोयस्सवि सवणयाए महाफलं किमङ्ग पुण अभिगमण वन्दन नमंसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए"

अर्थात् तथारूपके अरिहंत और भगवंतोंके नाम गोत्रके श्रवण करनेसे भी महान् फल होता है फिर उनके सम्मुख जाने, वन्दन नमस्कार करने, कुशल प्रश्न करने और सेवा शुश्रूषा करनेसे तो कहना ही क्या है अर्थात् उससे तो अवश्य ही महान् फल होता है।

इस पाठमें अरिहंत भगवन्तोंके सम्मुख जानेका महान् फल बतलाया है परन्तु साधु किसीको अरिहंतोंके सम्मुख जानेकी आज्ञा नहीं देते तथापि शास्त्रकार अरिहंतोंके

सम्मुख जानेसे महान् फल होना बतलाते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस का के लिये साधु आज्ञा नहीं देते वह सब कार्य्य एकान्त पाप ही हो यह कोई नियम न है अत आज्ञा बाहर के कार्य्यों को एकान्त पाप कहना अज्ञान मूलक समझ चाहिये।

(बोल ३८)

इति अनुकम्पाधिकारः ।

अथ लब्ध्यधिकारः ।

(प्रश्न)

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थपनेमें शीतल लेश्याको प्रकट करके गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसमें भगवान् को जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएं लगी थीं क्योंकि पन्नावणा पद ३६ में तेजः समुद्घात करनेसे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रिया लगना बतलाया है। शीतल लेश्या भी तेजो लेश्या ही है इसलिये इसमें भी तेज समुद्घात होता है अतः शीतल लेश्याको प्रकट करके भगवान् ने जो गोशालक की प्राणरक्षा की थी उसमें उनको जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियायें लगीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तेज समुद्घात करनेसे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाओंका लगना शास्त्र में कहा है परन्तु तेज समुद्घात उष्ण तेजोलेश्याके प्रकट करनेमें ही होता है शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें नहीं होता।

भगवती शतक १५ उद्देशा १ में उष्ण तेजोलेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात होना बतलाया है परन्तु शीतल लेश्याके प्रकट करने में नहीं कहा है वह पाठ यह है —

"तएण से गोशाले मंखलि पुत्ते वेसियायण बालतवस्सिं पासइ पासइत्ता मम अंतियाओ सणियं पच्चोसक्कइ पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वेसियायण बालतवस्सिं एवं वयासी—किं भवं मुणी मुणीए उदाहु जुया सेज्जा तरए ? तएण से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स एयमट्ठं नो आढाइ नो परिजाणइ तुसिणीए संचिट्ठइ। तएण से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायण बालतवस्सिं दोच्चंपि एवं वयासी— किं भवं मुणी मुणीए जावसेज्जायरए। तएण से वेसियायणे बाल

तएणसे गोसालेणं मखलिपुत्तेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते जाव मिस मिसे माणे आयावण भूमिओ पच्चोसक्कइ पच्चोसक्कइत्ता तेया समुग्घाएणं समोहणइ समोहणइत्ता सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मखलि पुत्तस्स वहाए सरीरगं तेयं णिसिरइ तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स मखलि पुत्तस्स अणुकम्पणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिण तेयलेस्सा तेय पडिसाहरणट्ठयाए एत्थणं अन्तरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निस्सरामि । जाए सा मम सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बाल तवस्सिस्स साउसिण तेय लेस्सा पडिहया"

(भगवती शतक १५ उद्देशा १)

अर्थ —

इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बालतपस्वीको देखा। देख कर धीरे धीरे मेरे पाससे हट कर उसके पास गया वहां जाकर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बाल तपस्वीसे कहा कि "तुम कोई मुनि हो या जूं आदिकी शय्या हो ?" यह सुन कर वैश्यायन बालतपस्वीने गोशालककी बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया किन्तु मौन धारण करके रहा। पश्चात् गोशालक मंखलिपुत्रने दो तीन बार यही बात कही। यह देख कर क्रोधके मारे मिस मिस करता हुआ वैश्यायन बाल तपस्वीने आतापन भूमिसे पीछे हट कर तेजस समुद्घात किया। तेजस समुद्घात करके सात आठ पैर पीछे हट कर गोशालक मंखलिपुत्रका वध करनेके लिये अपने शरीर सम्बन्धी तेजको गोशालकके ऊपर फेंका। हे गौतम ! उस समय गोशालक मंखलिपुत्रकी अनुकम्पाके लिये उस पर आती हुई तेजोलेश्याके निवारणार्थ मैंने शीतललेश्या छोड़ी। मेरी शीतललेश्या से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण तेजो लेश्या प्रतिहत हो गई। यह इस पाठका अर्थ है।

इसमें उष्ण तेजो लेश्याके वर्णनमें तेजस समुद्घात होनेका कथन है परन्तु शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें तेजस समुद्घात होनेका जिक्र नहीं है इसलिये शीतल लेश्यामें तेजस समुद्घात होनेकी बात अप्रामाणिक है। जब कि शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें तेजस समुद्घात नहीं होता तब फिर उसमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएं कैसे लग सकती हैं ? अतः शीतल तेजो लेश्याके प्रकट करनेमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रिया लगनेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या समझनी चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

"तैज समुद्घात" शब्दका प्रमाणके साथ अर्थ बतलाइये जिससे यह ज्ञात हो जाय कि शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात क्यों नहीं होता ?"

(प्ररूपक)

प्राचीन आचार्यों ने तेज समुद्घात शब्दका यह अर्थ किया है—

"तेजो निसर्ग लब्धिमान् क्रुद्ध साध्वादि सप्ताष्टौपदानि अवष्वष्क्य विष्कम बाहल्याभ्यां शरीरमान मायामतस्तु सत्येय योजन प्रमाण जीवप्रदेशदण्ड शरीराद्बहि प्रक्षिप्य क्रोध विषयी कृतं मनुष्यादि निर्दहति तत्र प्रभूतास्तैजसनारीरनामपुद्गलान् शातयति"

(प्रवचन सारोद्धार २३१ द्वार)

अर्थ —

तेजो लब्धिधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात आठ पैर पीछे हट कर अपने शरीरके समान स्थूल और विस्तृत तथा संख्यात योजन पर्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश दण्डको बाहर निकाल कर क्रोध विषयीभूत मनुष्य आदिको जला देता है इसमें बहुतसे तैजस शरीर नाम वाले पुद्गलोंका शातन होता है इसलिये इसे तैज समुद्घात कहते हैं। यह प्रवचन सारोद्धारके ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है।

इसमें, क्रोधित हो कर तेजोलब्धि धारी साधु किसीको जलाने लिये जो उष्ण तमोलेश्याका प्रक्षेप करता है उसीमें तेजका समुद्घात होना कहा है परन्तु किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये जो शीतल लेश्या छोड़ी जाती है उसमें तेजका समुद्घात होना नहीं कहा है अतः भगवान् महावीर स्वामीने गोशालककी प्राणरक्षा करनेके लिये जो शीतल लेश्या छोड़ी थी उसमें तेजस समुद्घातका नाम लेकर जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच किया लगनेकी प्ररूपणा करना मिथ्या है।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

उष्णलेश्याके प्रकट करनेमें जिन कियाओं का लगना बतलाया है उनके नाम और अर्थ बतलाइये।

(प्ररूपक)

वे क्रियाएं पांच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकरणिकी (३ प्राद्वेषिकी), (४) पारि तापनिकी (५) प्राणातिपातिकी। ये पांच ही कियायें हिंसाके साथ सम्बन्ध रखनेसे

स्वहस्त पारितापनिकी क्रिया है और दूसरे द्वारा परिताप दिलाना 'परहस्त पारितापनिकी' क्रिया है।

किसी जीवका घात करना 'प्राणातिपातिकी' क्रिया है। यह भी द्विविध होती है। (१) स्वहस्त प्राणातिपातिकी और (२) परहस्तप्राणातिपातिकी'। अपने हाथसे प्राणियोंका घात करना 'स्वहस्त प्राणातिपातिकी' है और दूसरेके द्वारा प्राणोंका घात कराना 'परहस्तप्राणातिपातिकी' क्रिया है।

यह स्थानांग सूत्र मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें कायिकी आदि पांच क्रियाओंका जो स्वरूप बतलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी प्राणीकी रक्षा करनेके लिये जो शीतल लेश्या प्रकट की जाती है उसमें ये क्रियाएं नहीं लगतीं किन्तु उष्ण लेश्याका प्रयोग करके किसी जीवकी हिंसा करनेमें लगती हैं। किसी जीवको घात करना प्राणातिपातिकी क्रिया है यह क्रिया किसी जीव की रक्षा करनेमें कैसे लग सकती है? क्योंकि जीवोंकी रक्षा करना उनका घात करना नहीं है। किसी जीवका ताड़न आदि करनेसे "पारितापनिकी" क्रिया लगती है परन्तु जो किसीका ताड़न आदि नहीं करता है बल्कि उसकी रक्षा करता है उस रक्षक पुरुषको पारितापनिकी क्रिया किस प्रकार लग सकती है? क्योंकि रक्षा करना परिताप देना नहीं है।

किसी जीवपर द्वेष करनेसे प्राद्वेषिकी क्रियाका लगना बतलाया है अत जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसको प्राद्वेषिकी क्रिया कैसे लग सकती है? क्योंकि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना उस पर द्वेष करना नहीं है। तलवार आदि घातक पदार्थोंके बनाने और उनमें मूठ आदि जोड़नेसे 'आधिकरणिकी क्रियाका लगना कहा है। जो पुरुष किसी मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है वह तलवार आदि घातक पदार्थोंका निर्माण, या उनमें मूठ आदि नहीं जोड़ रहा है फिर उसको 'आधिकरणिकी क्रिया' कैसे लग सकती है? मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना शरीरका दुष्प्रयोग नहीं किन्तु सुप्रयोग करना है अत जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसे कायिकी क्रिया भी नहीं लग सकती। इस लिये भगवान महावीर स्वामीने शीतल लेश्या प्रकट करके जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी उसमें भगवानको क्रिया लगनेकी बात मिथ्या है। स्वयं भ्रम विध्वंसनकारने भी पृष्ठ १८१ पर लिखा है —

"अथ अठे वैक्रिय समुद्घात करी पुद्गल काढ़े ते पुद्गल सूं जेतला क्षेत्रमें प्राण भूत जीव सत्वनी घात हुवे ते जाव शब्दमें जोड़ लाओ छै। ते पुद्गल थी विराधना हुवे तिणसूं उत्कृष्ट पांच क्रिया कही इम वैक्रिय लब्धिफोड़व्यां पांच क्रिया कही। हिवे तेजू

लेश्या फोड़े ते पाठ लिखिए छै" इसके आगे लिखते हैं कि "अथ इहा वैक्रिय समुद्घात करिता पाच क्रिया कही तिमहिज ते जू समुद्घात करिता पाच क्रिया जाणवी"

यह लिख कर जीतमलजीने जीव विराधना होनेसे उत्कृष्ट पाच क्रिया लगना स्वीकार किया है परन्तु गोशालकको प्राण रक्षा करनेके लिये जो भगवान्ने शीतल लेश्या प्रकट की थी उसमें कौन सी जीव विराधना हुई जिससे भगवान्को पाच क्रिया लगेगी ! यह बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये। शीतल लेश्यासे किसी भी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि जीवोंको सुख शान्ति होती है फिर शीतल लेश्यामें उक्त पाच क्रियाओंके लगनेकी बात बिल्कुल मिथ्या है।

पन्नावणा पद ३२ में तेजके समुद्घात होनेसे पाच क्रियाओंका लगना कहा है परन्तु उष्ण तेजो लेश्याके प्रयोगमें ही तेजका समुद्घात होता है शीतल लेश्याके प्रयोगमें नहीं अत शीतल लेश्याके प्रयोगमें तेजके समुद्घातका नाम लेकर उसमें उत्कृष्ट पाच क्रियाओंके लगनेकी स्थापना करना मिथ्या है।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

शीतल लेश्या किसे कहते हैं यह सप्रमाण बतलाइये।

(प्ररूपक)

"अगण्य कारुण्यवशादनुग्राह्य प्रति तेजो लेश्या प्रशमन प्रत्यल शीतल तेजो विशेष विमोचन सामर्थ्यं।"

(प्रवचन सारोद्धार)

अतिशय दयालुताके कारण दया करने योग्य पुरुषके प्रति तेजो लेश्याको शान्त करनेमें समर्थ शीतल तेजो विशेषके छोड़नेकी शक्तिका नाम 'तेजो लेश्या' है। यह शीतल लेश्याका स्वरूप प्रवचन सारोद्धारमें बतलाया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहां उष्ण तेजो लेश्या जलानेका काम करती है वहां शीतल लेश्या शान्तिका कार्य्य करती है। उष्ण तेजो लेश्या जीव हिंसाके लिये चलाई जाती है और शीतल लेश्या जीव रक्षाके लिये चलाई जाती है। जैसे धूप और छाया, परस्पर एक दूसरेसे विरुद्ध गुण वाले हैं उसी तरह ये दोनों लेश्यायें परस्पर विरुद्ध गुण वाली हैं। अत उष्ण तेजो लेश्याके छोड़नेसे जीवोंकी विराधना होती है और जीव विराधना होनेसे उष्ण तेजो लेश्यामें उत्कृष्ट पाच क्रिया लगती हैं परन्तु शीतल तेजो लेश्यासे किसी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि मरण जीवकी रक्षा होती है इसलिये जीव विराधनासे उत्पन्न होने वाली पूर्वोक्त क्रियाएं

शीतल लेश्यामें नहीं लगती। अतः शीतल लेश्याके द्वारा भगवान्ने गोशालककी प्राण रक्षा की थी उसमें भगवानको उत्कृष्ट पांच क्रिया लगनेकी बात मिथ्या समझनी चाहिये।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ११८ पर लिखते हैं—

"अने जो लब्धि फोड़ी गोशालाने बंचायां धर्म हुए तो केवल ज्ञान उपना पछे गोशाला दोय साधा बाल्या त्यांने क्यूं न बचायो। जो गोशालाने बंचाया धर्म छै तो दोय साधां बंचाया घणा धर्म हुवे। तिवारे कोई कहे भगवान केवली था सो दोय साधांरे आयुषो आयो जाण्यो तिणसूं न बंचाया इमकहे तेहनो उत्तर जो भगवान केवल ज्ञानी आयुषो आयो जाण्यो तिणसूं न बंचाया तो और गोतमादिक छद्मस्थ साधु लब्धि धारी घणाई हुन्ता त्यांने आयुषो आयारी खबर नहीं त्यां साधाने लब्धि फोड़ीने क्यूं न बंचाया। (भ्र० पृ० १८९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

केवल ज्ञान होने पर भगवान महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बंचाया था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप बताना मन्द बुद्धिका कार्य्य है। मूल पाठ तथा टीकामें कहीं भी नहीं कहा है कि भगवान महावीर स्वामीने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप जान कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बंचाया था बल्कि टीकाकारने यह साफ साफ लिख दिया है कि गोशालकके द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्यम्भावी था इस लिये भगवानने उनकी रक्षा नहीं की। वह टीका यह है—

"अवश्यम्भावि भावत्वा द्वेत्यवसेयम्"

अर्थात् गोशालकके द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार था इस लिये भगवान उनकी रक्षा नहीं कर सके। यदि रक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार यह स्पष्ट लिख देते कि जीवरक्षामें पाप होता देख कर भगवानने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की परन्तु टीकाकारने ऐसा नहीं कह कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका कारण अवश्य होनहार बतलाया है अतः गोशालक की प्राणरक्षा करने से भगवानको पाप लगनेकी प्ररूपणा मिथ्या है।

भ्रमविध्वंसनकार मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहते हैं परन्तु किसी साधुको विहार करानेमें पाप नहीं कहते ऐसी दशामें भगवान् महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको वहांसे विहार क्यों नहीं करा दिया ? क्योंकि केवल ज्ञानी होनेके कारण उन को यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालक, सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जलावेगा। ऐसी खबर रहने पर भी भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जो वहांसे अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान्को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका गोशालककी कोपाग्निसे जल कर मरना अवश्य भावी भाव है। इसलिये भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करनेमें पाप होना जान कर नहीं।

शास्त्रमें कहा है कि तीर्थकरों में ऐसा अतिशय होता है जिस से उनके निवास स्थानसे १५ योजन तक किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता। सभी प्राणी परस्पर वैर भावको छोड कर मित्र मित्रकी तरह रहते हैं। ऐसा विलक्षण भगवान्का अतिशय होते हुए भी गोशालकने भगवान् महावीर स्वामीके सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया यह होनहारका ही प्रभाव था। अन्यथा भगवान्के अतिशयसे ही यह बात नहीं हो सकती थी। जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे ? । गोशालककी कोपाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान्ने उनकी रक्षा के लिये कुछ प्रयत्न नहीं किया था मरते जीवकी रक्षामें पाप होना जानकर नहीं। अतः सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना उक्त टीका तथा प्रश्न व्याकरणादि सूत्रों से विरुद्ध समझना चाहिये।

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि "केवल ज्ञानी होनेसे कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका आयुपूर्ण होना जानते थे तथापि गौतमादि छद्मस्थ मुनियोंको इस बातका ज्ञान न था। यदि रक्षा करनेमें धर्म था तो उन लोगोंने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा क्यों नहीं की ? इससे जाना जाता है कि जीवरक्षा करनेमें धर्म नहीं है" परन्तु भ्रमविध्वंसनकारकी यह बात भी अज्ञानसे खाली नहीं है क्योंकि चौदह पूर्वधारी साधु छद्मस्थ होने हुए भी उपयोग लगाकर आयुपूर्ण होना जान सकते हैं। धर्मघोष मुनिने छद्मस्थ हो कर भी उपयोग लगा कर धर्मरुचि मुनिका सम्पूर्ण वृत्तांत जान लिया था और उनकी आत्माको सर्वार्थ सिद्धमें देखा था अतः गौतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानमूलक ही है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १८९ पर भगवती सूत्रकी टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ टीकामें पिण इम कह्यो ते गोशालानो रक्षण भगवन्ते कियो ते सराग पणे करी अने सुनक्षत्र सर्वानुभूतिनो रक्षण न करस्ये ते वीतराग पणे करी एहवा गोशालाने बंचायो ते सराग पणो कह्यो पिण धर्म न कह्यो ए सराग पणाना अशुद्ध कार्य्यमें धर्म किम कहिए" (भ्र० पृ० १८९।१९०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सरागपनेके कार्य्यमें धर्म नहीं होता यह भ्रमविध्वंसनकारका कथन अज्ञान से परिपूर्ण है। अपने धर्म, धर्माचार्य्य और दया आदि उत्तम गुणोंमें राग रखना भी सरागताका ही कार्य्य है परन्तु इससे पाप होना शास्त्रमें नहीं कहा है बल्कि शास्त्रमें इसकी प्रशंसा की है। शास्त्रमें ये वाक्य मिलते हैं—

"धम्मायरियपेमाणुरायरत्ता" "अट्ठिमिंजा पेमाणुरायरत्ता" "धम्माणुरागरत्ता" इनके क्रमशः अर्थ ये हैं —

अपने धर्माचार्य्यमें प्रेमानुरागसे रक्त। हड्डी और मज्जाओंमें प्रेम और अनुराग से रंगे हुए। धर्मके तीव्र अनुरागसे रंगे हुए।

ये बात शास्त्रमें प्रशंसाके लिये कही गई हैं परन्तु धर्माचार्य्यमें प्रेमानुराग रखना अपने धर्ममें तीव्र अनुराग रखना और हड्डी तथा मज्जाओंमें धर्माचार्य्यके प्रति प्रेमानुरागसे रक्त होना सरागताके ही कार्य्य हैं इसलिये भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे इन कार्य्योंमें भी पाप ही होना चाहिये क्योंकि ये सरागताके ही कार्य्य हैं। शास्त्रकार ने तो इन कार्य्योंको पाप नहीं किन्तु धर्म जान कर इनकी प्रशंसा की है अतः सरागताके सभी कार्य्यों में पाप बताना अज्ञानका परिणाम है।

वास्तवमें हिंसा झूठ, चोरी और व्यभिचार आदिमें राग रखना बुरा है पाप है परन्तु धर्म, धर्माचार्य्य, अहिंसा, सत्य, तप, संयम और जीव दया आदिमें राग रखना धर्म है पाप नहीं है।

मिथ्यात्वखण्डन रसायन नामक ग्रन्थमें श्रीजयमलजीने लिखा है कि—"कह जिन भेल्या रहा, धरम स्नेह करीने हो। जाव जीव लगि धर्म पर परम स्नेह करु प्रीति हो।

इस पद्यमें जीतमलजी कहते हैं कि छ साधुओंका जन्म भर भीखणजीमें परम प्रेम था। क्या यह सरागताका कार्य्य नहीं है? यदि है तो जीतमलजी और उनके अनुयायी इसे पाप क्यों नहीं मानते? यदि अपने धर्माचार्य्य और धर्ममें राग रखना सरागताका कार्य्य होने पर भी पाप नहीं है तो फिर जीवदयामें राग रखना पापका कार्य्य कैसे हो सकता है?। अत सरागतारूप सभी कार्य्यों को पाप बतला कर भगवान् महावीर स्वामीने दयारूप प्रेमसे जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी उसमें पाप बताना नितान्त मिथ्या समझना चाहिये।

भगवती सूत्रकी जिस टीकाको लिख कर जीतमलजीने भ्रम फैलाया है उसे लिख कर उसका अर्थ किया जाता है जिससे जनताका भ्रम दूर हो जाय।

"इहच यद् गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वाद् भगवतः। यच्च सुनक्षत्र सर्वानुभूति मुनिपुङ्गवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वात् अवश्यं भावि भावत्वाद्वेत्यवसेयम्" (भग० टीका)

अर्थ —

यहां भगवान् ने जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसका कारण यह है कि सराग संयमी होनेके कारण भगवान् बड़े भारी दयारूप प्रेमी थे। सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा जो नहीं करेंगे इसका कारण वीतराग होनेसे लब्धिका प्रयोग न करना, और गोशालकके द्वारा उनके मरणका अवश्य होनहार होना समझना चाहिये। यह उक्त टीकाका अभिप्राय है।

इसी टीकाका नाम लेकर जीतमलजी जीवरक्षामें पाप बतलाते हैं परन्तु इस टीकामें जीवरक्षा करनेसे पाप होना नहीं कहा है। यहां लिखा है कि—"भगवान् ने दयामें परमानुराग होनेके कारण गोशालककी रक्षा की थी"। दयामें अनुराग रखना धर्म है पाप नहीं है इसलिये गोशालककी प्राणरक्षा करनेसे भगवान् को धर्म हुआ पाप नहीं हुआ।

सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करनेका कारण भी टीकाकारने जीवरक्षा करनेमें पाप होना नहीं कहा है किन्तु उस समय वीतराग होनेके कारण भगवान् के लब्धिका प्रयोग नहीं करना, और अवश्य होनहार कारण बतलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीवरक्षामें पाप मानकर भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षाका प्रयत्न नहीं छोड़ा था किन्तु वीतराग होनेके कारण वह लब्धि का प्रयोग नहीं करते थे। यद्यपि लब्धिका प्रयोग किये बिना भी बचाकर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को किनार आदि करके भगवान् उनकी रक्षा कर सकते थे तथापि यह बात अवश्य होने वाली थी इसलिये भगवान् ने उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न नहीं किया। अतएव टीकाकार

ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करने का सिद्धांतभूत कारण बतलाते हुए "अवश्यंभाविभावत्वात्" यह लिखा है। यदि जीवरक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार ऐसा क्यों लिखते वह साफ साफ लिख देते कि जीवरक्षा करनेमें पाप था इसलिये भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की। परन्तु टीकाकारने यह नहीं लिख कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार बतलाया है, इससे यही बात सिद्ध होती है कि गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरण अवश्य होनहार जान कर भगवान् ने उन की रक्षा नहीं की थी। अत उक्त भगवती की टीका का नाम लेकर मरते जीव की रक्षा करने में पाप बताना अज्ञानमूलक है।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्रेरक)

कोई कोई कहते हैं कि जैसे पानीके द्वारा आग बुझानेसे हिंसादि रूप आरम्भ होता है उसी तरह शीतल लेश्याके द्वारा तेजो लेश्याको बुझानेमें भी आरम्भ दोष होता है इस लिये शीतल लेश्याके द्वारा भगवानने जो तेजो लेश्याको शान्त करके गोशालककी प्राण रक्षा की थी इसमें उनको आरम्भ दोष लगा था।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शीतल लेश्याके द्वारा तेजो लेश्याके शान्त करनेमें आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल है। भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठमें उष्ण तेजो लेश्याके पुद्गलोंको अचित्त कहा है। वह पाठ यह है—

"कयरेण भन्ते ! अचित्तावि पोग्गला उ भासन्ति जाव पभासति ? कालो दाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसट्ठा समाणी दूर गता दूर निपताइ देसगता देस निपताइ जहिं जहिं चणं सा निपताइ तहिं तहिं चण ते अचित्तावि पोग्गला उ भासति जाव पभासति।

(भगवती शतक ७ उ० १०)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कौनसे अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ?

(उत्तर) हे कालोदायिन्! क्रोधित हुए अनगार की फेंकी हुई तेजो लेश्या, दूर तक फेंकी हुई दूर और निकटमें फेंकी हुई निकटमें जाकर पड़ती है। जहां जहां वह तेजो लेश्या पड़ती है वहां वहां उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं।

यहां भगवतीके मूल पाठमें तेजो लेश्याके पुद्गलोंको अचित्त कहा है इस लिये अचित्त सचित्त पुद्गलोंका दृष्टान्त देकर शीतल लेश्याके द्वारा इन अचित्त पुद्गलोंको शान्त करनेमें आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १७८ पर ऊपर भगवती शतक २० उ० ९ की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ टीकामें इम कह्यो लब्धिस्फोटेत प्रमादनो सेवयो ते आलोया विना चारित्रनी आराधना न थी ते माटे विराधक कह्यो। इहां पिण लब्धिफोड्या रो प्रायश्चित्त कह्यो। इहां पिण लब्धि फोड्या धर्म न कह्यो। ठाम ठाम लब्धि फोड़नी सूत्रमें वर्जी छै तो भगवन्त छट्ठे गुण ठाणे थका तेजू लब्धि फोड़ीने गोशालाने बचायो तिणमें धर्म किम कहिये। (भ्र० पृ० १८७)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामें जंघाचरण और विद्याचरण लब्धिके विषयमें विचार किया गया है दूसरी लब्धिके विषयमें नहीं। वहां जंघाचरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन कहा है शीतल लेश्याका प्रयोग करना प्रमादका सेवन नहीं कहा है। तथापि यदि कोई दुराग्रह वश सभी लब्धियोंका प्रयोग करना प्रमादका ही सेवन करना बतलावे तो उसे कहना चाहिये कि—शास्त्रमें ज्ञान लब्धि, दर्शन लब्धि, चरित्र लब्धि, क्षीर, मधु, सर्पिरास्रव लब्धि भी कही गई हैं इनका प्रयोग करना भी तुम प्रमादका सेवन क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि इनका प्रयोग करना प्रमादका सेवन करना नहीं है किन्तु गुण है तो उसी तरह शीतल लेश्याका प्रयोग करना भी गुण ही है प्रमादका सेवन करना नहीं है। भगवती सूत्रकी उक्त टीकामें जंघाचरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना ही प्रमादका सेवन करना कहा है शीतल लेश्या लब्धि, ज्ञान, दर्शन, चारित्र लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन नहीं कहा है अत

(अथ प्रायश्चित्ताद्यधिकारः)

———*———

(प्रेरक)

मरते जीवकी रक्षा करनेका समर्थन करने वाले मुनियोंका कहना है कि भगवान महावीर स्वामीको यदि गोशालककी रक्षा करनेमें पाप लगा होता तो उस पापकी निवृत्तिके लिये भगवान प्रायश्चित्त भी करते परन्तु इसके लिये भगवानका प्रायश्चित्त करना शास्त्रमें नहीं कहा है अतः शीतल लेश्याको प्रकट करके गोशालककी रक्षा करनेसे भगवान पर पापका आरोप करना मिथ्या है। इस कथनका खण्डन करनेके लिये जीतमलजी लिखते हैं—

"अथ ईहा सीहो अनगार ध्यान ध्यावता मनमें मानसिक दुःख अत्यन्त उपनो मालुया कच्छमें जाइ मोटे मोटे शब्दे रोयो पांग पाछो पहुंचो वलो पिण तेहनो प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इम होसी तिम भगवान लब्धि फोडी गोशालाने बचायो तेहनो प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इम होसी'   (भ्र० पृ० १९६)

इसी तरह भ्रम० पृ० २०८ तक अति मुक्त अनगार रहनेमि, धम घोषका शिष्य सुमंगल अनगार, और सेलक इन लोगोंका उदाहरण देकर जीतमलजीने कहा है कि इन साधुओंने जैसे प्रायश्चित्तके योग्य कार्य किये थे परन्तु शास्त्रमें इनका प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है इसी तरह भगवान महावीर स्वामीका भी प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है परन्तु जैसे उक्त साधुओंने प्रायश्चित्त किया ही होगा उसी तरह भगवानने भी प्रायश्चित्त किया होगा।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शास्त्रके विधिवाक्यमें जिस कार्यके करनेसे पाप होना कहा है उन्हीके अनुष्ठानसे पाप होता है और उन्हींके लिये प्रायश्चित्त भी कहा गया है परन्तु जिस कार्यके करनेसे शास्त्रकार पाप नहीं बतलाते और प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं करते उस कार्यमें पाप कहना और उसके लिये प्रायश्चित्तकी कल्पना करना अज्ञानका परिणाम है। शीतल लेश्याके प्रयोग करनेसे शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है और इसके लिये कहीं प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं है ऐसी दशामें शीतल लेश्याका प्रयोग करनेसे भगवानको पाप होने और उस पापकी निवृत्तिके लिये उनके प्रायश्चित्त करनेकी कल्पना करना निमूल

समझना चाहिये। शीतलेश्याको प्रकट करके गोशालककी प्राणरक्षा करनेसे भगवानको पाप हुआ ही नहीं धर्म हुआ फिर वह प्रायश्चित्त क्यों करते ? जिस जिसने शास्त्रानुसार प्रायश्चित्तका कार्य किया था उसके प्रायश्चित्त करनेका वर्णन यदि शास्त्रमें नहीं है तो उसकी कल्पना की जा सकती है परन्तु जिसने प्रायश्चित्तके योग्य कार्य ही नहीं किया था उसके प्रायश्चित्त करनेकी कल्पना तो बिलकुल निराधार और उन्मत्त प्रलापकी तरह सर्वथा अनादरणीय है।

जीतमलजीने भ्रम० पृ० २०८ के अनन्तर जो नियंठाका विचार किया है उसके हिसाबसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषके अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि कषाय कुशील निग्रन्थ मूल गुण और उत्तर गुणका अप्रतिसेवी होता है और छद्मस्थ तीर्थङ्कर दीक्षा लेनेके बाद कषाय कुशील ही होते हैं अतः भगवान् महावीर स्वामीको दोषका प्रतिसेवी बतलाना मिथ्या है।

बोल १ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २१४ पर लिखते हैं—

"एकषाय कुशील नियंठाने अपडिसेवी कह्यो ते अप्रमत्त तुल्य अपडिसेवी जणाय छे। कषाय कुशीलमें गुण ठाणा ५ छे छट्ठाथी दशमा ताईं तिहां सातमें आठमें नवमें दशमें गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल चारित्र छे। ते अपडिसेवी छे। अने छट्ठे गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामनो धणी शुभयोग में प्रवर्ते छे ते अपडिसेवी छे"

इत्यादि लिख कर भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणाम का धनी नहीं मान कर उनको दोषका प्रतिसेवी बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकार अपने इस लेखमें षष्ठ गुण स्थान वाले निर्मल परिणामके धनी को दोषका अप्रतिसेवी बतलाते हैं इसलिये इनके इस लेखसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषके अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि आचाराङ्ग सूत्रके मूल पाठमें छद्मस्थावस्थामें भी भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामका धनी कहा है। वह आचारांगका पाठ यह है —

"तएणं समणे भगवं महावीरे वोसिट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं बंभचेरवासेणं खंतिए मुत्तिए समिईए गुत्तिए तुट्ठीए ठाणेणं कम्मेणं सुचरियफलनिव्वाण मुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। एवं विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति दिव्वा वा माणुसा वा तिरिच्छिया वा ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अद्दीण माणसे तिविह मणवयण कायगुत्ते सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ तओणं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारस वासा विइक्कंता तेरसस्स सम्मस्सय वासस्स परियाये वट्टमाणस्स"

(आचारांग श्रु० २ चूलिका ३ भावनाध्ययन)

अर्थ —

इसके अनन्तर अपने शरीरका ममता छोड़े हुए भगवान् महावीर स्वामी अनुत्तर आलय (मकान) से अनुत्तर विहार से, अनुत्तर संयम से अनुत्तर प्रग्रह से, अनुत्तर संवर से, अनुत्तर तपसे, अनुत्तर ब्रह्मचर्य से अनुत्तर क्षान्ति से अनुत्तर त्याग से अनुत्तर सन्मति से, अनुत्तर गुप्ति से अनुत्तर तुष्टि से, अनुत्तर स्थिति से अनुत्तर गमन से सम्यक् आचरण से, मोक्षफलकी प्राप्ति कराने वाले मुक्ति मार्गसे अपनी आत्माको पवित्र करते हुए विचरते थे। इस प्रकार विचरते हुए भगवान्‌को जो कोई दिव्य मानुष और तिर्य्यंच सम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न होता था उसे अनाकुल (नहीं घबड़ाते हुए) और अदीन मानस होकर सहते थे। इस प्रकार विचरते हुए भगवान्‌को बारह वर्ष व्यतीत हुए पश्चात् तेरहवें वर्षके पर्य्यायमें विद्यमान होने पर भगवानको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है।

इस पाठमें भगवान् महावीर स्वामीके संयम, ब्रह्मचर्य्य, तप, क्षान्ति आदि गुण अनुत्तर यानी सबसे उत्कृष्ट कहे गए हैं इससे सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर स्वामी प्रबल श्रेणीके कषाय कुशील निर्ग्रन्थ थे वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे अन्यथा इस पाठमें उनके तप ब्रह्मचर्य और संयम आदि अनुत्तर कैसे कहे जाते?। अत: भगवान् महावीर स्वामी षष्ठ गुण स्थान में अत्यन्त विशिष्ट, निर्मल परिणाम के धनी होने के कारण दोष के अप्रतिसेवी थे प्रतिसेवी नहीं थे। तथापि गोशालककी रक्षा करनेके कारण

(टीका)

"नकषायी अकषायी सदुदयापादित भ्रु कुन्टादि काम्या भावान्। तथा विगता गृद्धि गार्ध्य यस्यासौ विगत गृद्धि: तथा शब्दरूपादिषु इन्द्रियार्थेषु अमूर्च्छितो ध्यायति मनोऽनुकूलेषु न राग मुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूत्। तथा छद्मस्थ ज्ञान दर्शना वरणीय मोहनीयान्तरायात्मक तिष्ठतीति छद्मस्थ इत्येवं भूतोऽपि विविध मनेक प्रकार सदनुष्ठाने पराक्रममाणो प्रमाद कषायादिक सकृदपि न कृतवानिति"

अर्थ —

जिसमें कषाय नहीं है वह अकषायी कहलाता है। भगवान् महावीर स्वामी अकषायी थे क्योंकि कषायके उदयसे उन्होंने किसी पर भी अपनी भृकुटि टेढ़ी नहीं की थी। भगवान् महावीर स्वामी, अनुकूल शब्द आदि विषयोंमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष नहीं करते थे। वह शब्दादि विषयोंमें आसक्त नहीं होकर रहते थे। यद्यपि भगवान् छद्मस्थ यानी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मोंमें स्थित थे तथापि वह विविध प्रकारके शुभ अनुष्ठानमें ही प्रवृत्त रहते थे। उन्होंने एक बार भी कषायादि रूप प्रमादका सेवन नहीं किया था। यह इस गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें छद्मस्थावस्थामें भगवान् महावीर स्वामीका एक बार भी प्रमादका सेवन करना वर्जित किया है अतः जो लोग गोशालककी प्राणरक्षाको प्रमादका सेवन बतलाते हैं वे प्रत्यक्ष उत्सूत्र वादी मिथ्यादृष्टि हैं उनके भ्रमजालमें पड़ कर भगवान् महावीर स्वामीको प्रमादका सेवी बतलाना अज्ञान है।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार आचाराङ्ग सूत्रकी इस गाथाको लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ इहां गणधरां भगवान्रा गुण वर्णन कीधा त्यां गुणामें अवगुणाने किम कहे गुणोंमें तो गुणाने इज कहे (भ्र० पृ० २३१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचाराङ्ग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंमें भगवान्के गुणोंका वर्णन मात्र ही नहीं किन्तु स्वयं भी पाप करने और एक बार भी प्रमाद सेवन करने रूप दोषका निषेध भी किया है। अतः इन गाथाओंसे केवल भगवान्के गुणोंका वर्णन मात्र बतलाना

मिथ्या है। यदि गोशालककी प्राणरक्षा करना, प्रमाद सेवन और पापाचरण होता तो इन गाथाओंमें भगवान्‌के पापाचरण और प्रमाद सेवन करने का खण्डन कैसे किया जाता ? अतः गोशालककी प्राण रक्षा करनेसे भगवान्‌को पापी और प्रमादी कहना अज्ञान है। यदि कोई कहे कि ये गाथायें गणधरोंकी कही हुई हैं तीर्थंकरकी नहीं। इस लिये ये प्रमाण नहीं हो सकतीं तो उसे कहना चाहिये कि गणधरोंने तीर्थंकरसे सुन कर ही शास्त्रकी रचना की है। आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीसे जो कुछ सुना था वही इस प्रकरणमें कहा है इस लिये इन गाथाओंको नहीं मानना मानना सर्वज्ञ केवलीके वाक्यका उल्लङ्घन रूप मिथ्यात्वका सेवन करना है। आचाराङ्ग सूत्रके इसी अध्ययनके आरम्भमें लिखा है—

"सुयमे आउसं तेण भगवया एवमक्खाइ"

अर्थात् हे आयुष्मन्! भगवान महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है तथा इस नवम अध्ययनके आरम्भमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे यह प्रतिज्ञा करते हुए कहा है कि —"अहा सुयं वइस्सामि" अर्थात मैंने जैसा सुना है वैसा ही कहूंगा अतः आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीसे जैसा सुना था वैसा ही इस प्रकरणमें कहा है अपनी ओरसे एक भी बात बनाकर नहीं कही है अतः आचाराङ्ग सूत्रके नवम अध्ययनके चौथे उद्देशेकी आठवीं और पन्द्रहवीं गाथामें कही हुई बातको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यको नहीं मानने रूप मिथ्यात्वका सेवन समझना चाहिये।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३२ पर उवाइ सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"जे साधामे गुण हुन्ता ते वखाण्या पर्ं इम न जाणि ए जे वीर रा साधुरे वड़ो आतध्यान आवे इज नहीं मोठा परिणामे क्रोधादिक आवे इज नहीं इम नथी कदाचित् उपयोग चूका दोष लागे पर गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे तिम गणधरा भगवान रा गुण किया तिणमें तो गुण इज वखाण्या जतनो पाप न कीधो तहिज आख्यो कह्यो पर गुण में अवगुण किम कहे।" (भ्र० पृ० २३२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

"तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ अन्तेवासी बहवे समणा भगवन्तो अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया राइण्ण णाय कोरव्व खत्तिय पव्वइया भडा जोहा सेणावइ पसत्थारो सेट्ठी इब्भा अण्णेय बहवे एवमाइणो उत्तम जाति कुल रूव विणय विण्णाण वण्ण लावण्ण विक्कम पहाण सोभग्ग कन्तिजुत्ता बहु धण धण्णणिचय परियालफिडिया णरवइ गुणातिरेका इच्छियभोगा सुहसम्पललिया किंपाक फलोपमञ्च मुणिय विसयसोक्ख जलबुब्बुअ समाण कुसग्ग जलबिन्दु चञ्चल जीविय च णाऊण अद्धुवमिण रयमिव पडग्गलग्ग संविधुणित्ता ण चइत्ता हिरण्ण जाव पव्वइया अप्पेगइया अद्धमास परियाया अप्पेगइया मास परियाया एव दुमास तिमास जाव एक्का रस अप्पेगइया अनेक वास परियाया सजमेण तपसा अप्पाण भावे माणाविहरन्ति"

(उवाई सूत्र)

अथ —

उस समय भगवान महावीर स्वामीके पास बहुतसे शिष्य विद्यमान थे । जिनमें कोई लो उग्र वंशमें उत्पन्न, कोई भाग वंशज कोई राजन्य, कोई ज्ञात वंशज, कोई कुरु वंशज कोई क्षत्रिय वंशज कोई चार भट योद्धा, और कोई सेनापति कोई धर्मशास्त्र पाठी, कोई सेठ, कोई इभ्य (बड़े धनवान) इस प्रकार उत्तम जाति कुल रूप विनय विज्ञान वर्ण लावण्य, विक्रम सौभाग्य और कान्तिसे युक्त धन धान्य परिवार दासी दास आदिके द्वारा गृहवास कालमें बड़े बड़े धनवान से भी श्रेष्ठ तथा विभव एवमें राजाओंसे भी बढ़े चढ़े इच्छानुरूप भोग पाये वाले उसमें पाये हुए विषय सुखको विषवृक्षके फलके समान बुरा और कुशाग्र भाग भागमें लगे हुए जल बिन्दुकी तरह जीवनको अति चंचल जान कर अनित्य विषय सुख और धन धान्य आदिको कपड़े में लगी हुई धूलिके समान झाड़कर हिरण्य सुवर्ण आदिको छोड़ कर प्रव्रजित (साधु) हो गये थे । इनमें कोई अर्ध मासके कोई एक मासके कोई दो मासके कोई तीन मासके यावत् ११ मास के पर्याय वाले थे । कोई अनेक दिनके पर्याय वाले थे । वे सभी शिष्य संयम और तपस्यासे अपनी आत्माको पवित्र करते हुए विचरते थे ।

(यह उवाई सूत्रके उक्त मूलका अर्थ है)

इस पाठमें यह नहीं कहा है कि "भगवान् महावीर स्वामीके वे सब शिष्य कभी भी प्रमादका सेवन नहीं करते थे । तथा इन लोगोंने कभी पाप नहीं किया था । इस

मिथ्या है। यदि गोशालककी प्राणरक्षा करना, प्रमाद सेवन और पापाचरण होता तो इन गाथाओंमें भगवान्‌के पापाचरण और प्रमाद सेवन करने का खण्डन कैसे किया जाता? अतः गोशालककी प्राण रक्षा करनेसे भगवान्‌को पापी और प्रमादी कहना अज्ञान है। यदि कोई कहे कि ये गाथायें गणधरोंकी कही हुई हैं तीर्थङ्करकी नहीं। इस लिये ये प्रमाण नहीं हो सकतीं तो उसे कहना चाहिये कि गणधराने तीर्थङ्करोंसे सुन कर ही शास्त्रकी रचना की है। आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीसे जो कुछ सुना था वही इस प्रकरणमें कहा है इस लिये इन गाथाओंको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यका उल्लङ्घन रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है। आचाराङ्ग सूत्रके इसी अध्ययनके आरम्भमें लिखा है—

"सुयमे आउसं तेण भगवया एवमक्खायं"

अर्थात् हे आयुष्मन्! भगवान महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है तथा इस नवम अध्ययनके आरम्भमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे यह प्रतिज्ञा करते हुए कहा है कि —"अहा सुयं वइस्सामि" अर्थात मैंने जैसा सुना है वैसा ही कहूंगा अतः आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीसे जैसा सुना था वैसा ही इस प्रकरणमें कहा है अपनी ओरसे एक भी बात बनाकर नहीं कही है अतः आचाराङ्ग सूत्रके नवम अध्ययनके चौथे उद्देशेकी आठवीं और पन्द्रहवीं गाथामें कही हुई बातको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यको नहीं मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श समझना चाहिये।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३२ पर उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"जे साधामे गुण हुन्ता ते वखाण्या पर इम न जाणि ए श्री वीर रा साधुरे कदे आर्तध्यान आवे इम नहीं मोठा परिणामे क्रोधादिक आवे इम नहीं इम नथी कदाचित् उपयोग चूका दोष लाग पर गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे तिम गणधर भगवान रा गुण किया तिणमें तो गुण इम वखाण्या जेतलो पाप न कीधो तेहिज आख्यो कह्यो पर गुण में अवगुण किम कहे।" (भ्र० पृ० २३२)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

फिर होकापुत्र होकर राजगृह को छोड़ कर चम्पानगरीमें आया था। उस समय उसे माता पिताका विनीत कहना ठीक ही है परन्तु उस पाठमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजाने माता पिताके साथ कभी भी अविनय नहीं किया था। इसलिये उवाई सूत्रके इस पाठसे कौणिकके अविनयी होनेका निषेध नहीं किया जा सकता परन्तु भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आचारांग सूत्रमें गाथाएं कही गई हैं उनमें साफ साफ भगवान् में पाप और प्रमाद होनेका निषेध किया गया है ऐसी दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् में पाप और प्रमाद थे" क्योंकि यह कहना प्रत्यक्ष ही शास्त्रसे विपरीत बोलना है अत कौणिक वाले पाठके उदाहरणसे भगवान् में पाप और प्रमादका स्थापन करना उन्मूत्रवादियोंका कार्य समझना चाहिये।

[बोल छट्ठा समाप्त]

(प्रश्न)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३४ पर उवाई सूत्र प्रश्न २० का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे श्रावकने धर्मरा करणहार कह्या ते तो स्यूं अधर्म न करे काइ। वा मिश्र, व्यापार, संग्राम आदिक अधर्म छै ते अधर्म ना करणहार छै। पिण ते श्रवकारे गुण बखानम अवगुण किम कहे' इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं "तिम भगवान् रे गुण वरणवें एकिरखोहीने अवगुण ना वर्णन किम करे" (भ्र० पृ० २३४)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रमें श्रावकोंके सम्बन्धमें जो पाठ आया है उसका उदाहरण देकर भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है। उवाई सूत्र के श्रावक सम्बन्धी पाठमें साफ साफ लिखा है कि श्रावक अट्ठारह पापोंसे देशसे हटे हुए और देशसे नहीं हटे हुए होते हैं इसलिये इस पाठसे ही श्रावकोंका देशसे पाप सेवन करना सिद्ध होता है परन्तु भगवान् के विषयमें जो आचारांगमे गाथाएं कही हैं उन मे स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमाद सेवन करने का निषेध किया है अत श्रावक सम्बन्धी पाठके उदाहरणसे भगवान् मे पाप और प्रमाद का स्थापन करना अज्ञान है।

दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद छद्मस्थदशामें कषायकुशील निर्ग्रन्थ थे। कषाय कुशील निर्ग्रन्थ, मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं

लिये भगवान् महावीर स्वामीके इन शिष्योंमें पाप और प्रमादका होना सम्भव है, परंतु भगवान् महावीर स्वामीमें नहीं क्योंकि भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आचा रांगकी गाथाएं लिखी गई हैं उनमें साफ साफ भगवानमें पाप और प्रमाद का निषेध किया है। अतः उवाई सूत्रके इस पाठसे आचारांग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंकी तुल्यता बता कर भगवानमें छद्मस्थावस्थामें पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है।

उवाई सूत्रमें यदि यह कहा होता कि "भगवान् महावीर स्वामी के शिष्योंने कभी भी पाप और प्रमादका सेवन नहीं किया था" तो अवश्य यह बात मानी जाती कि भगवान्के शिष्यगण कभी भी पाप और प्रमाद नहीं किया था परन्तु मूलपाठमें ऐसा नहीं कहा गया है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीके शिष्योंमें पाप और प्रमाद होनेका खण्डन नहीं किया जा सकता लेकिन भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो आचा रांगकी उक्त गाथाओंमें साफ साफ लिखा है कि "भगवान्ने छद्मस्थावस्थामें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था।" ऐसी दशामें जो भगवान् महा वीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करता है वह उत्सूत्रवादी मिथ्यादृष्टि है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३३ पर उवाई सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे कौणिकने सर्व राजाना गुण सहित कह्यो, माता पितानो विनीत कह्यो अने निरावलियामें कह्यो, जे कौणक श्रेणिकने वेडिबन्धन देई पोते राज्य बैठो तो जे श्रेणिकने वेडी बन्धन बांध्यो ते विनीत पणो नहीं ते तो अविनीत पणोइज छै। पिण उवाईमें कौणिकना गुण वरणव्या तिणमें जेतलो विनीतपणो तेहिज वरण्यो अविनीत पणो गुण नहीं तमणी गुण कहिणोमें तेहनो कथन कियो नहीं तिमगणधरां भगवान्‌रागुण किया त्यां गुणामें जेतला गुण हुन्ता तेहिज गुण वरणव्या पर लब्धि फोडी ते गुण नहीं ते अवगुणरो कथन गुणामें किम करै" (भ्र० पृ० २३३)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारका यह कथन भी अज्ञानसे परिपूर्ण है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें कौणिक राजाके अप्पराजत्वमें विराजमान कालका गुण वर्णन किया है। कौणिक राजा अप्पराजत्वमें जब रहने लगा था तब वह माता पिताका विनीत हो गया था अतएव वह

पितृ शोकाकुल होकर राजगृह को छोड़ कर चम्पानगरीमें आया था। उस समय उसे माता पिताका विनीत कहना ठीक ही है परन्तु उस पाठमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजाने माता पिताके साथ कभी भी अविनय नहीं किया था। इसलिये उवाइ सूत्रके इस पाठसे कौणिकके अविनयी होनेका निषेध नहीं किया जा सकता परन्तु भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आचारांग सूत्रमें गाथाएं कही गई हैं उनमें साफ साफ भगवान् में पाप और प्रमाद होनेका निषेध किया गया है ऐसी दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् में पाप और प्रमाद थे" क्योंकि यह कहना प्रत्यक्ष ही शास्त्रसे विपरीत बोलना है अतः कौणिक वाले पाठके उदाहरणसे भगवान् में पाप और प्रमादका स्थापन करना उत्सूत्रवादियोंका कार्य समझना चाहिये।

[बोल छट्ठा समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३४ पर उवाई सूत्र प्रश्न २० का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे श्रावकने धर्मरा करणहार कह्या ते तो रूडू अधम न करे कर्ता। वाणिज्य, व्यापार, संग्राम आदिक अधर्म छै ते अधम ना करणहार छै। तिण ते श्रावकरो गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे' इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं "तिम भगवान् रे गुण वर्णनमें एकिरकोडीने अवगुण ना वर्णन किम करे" (भ्र० पृ० २३४)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रमें श्रावकके सम्बन्धमें जो पाठ आया है उसका उदाहरण देकर भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है। उवाई सूत्र के श्रावक सम्बन्धी पाठमें साफ साफ लिखा है कि श्रावक अठारह पापोंसे देशसे हटे हुए और देशसे नहीं हटे हुए होते हैं इसलिये इस पाठसे ही श्रावकोंका देशसे पाप सेवन करना सिद्ध होता है परन्तु भगवान् के विषयमें जो आचारांगमें गाथाएं कही हैं उनमें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमाद सेवन करने का निषेध किया है अतः श्रावक सम्बन्धी पाठके उदाहरणसे भगवान्में पाप और प्रमाद का स्थापन करना अज्ञान है।

दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद छद्मस्थदशामें कषायकुशील निर्ग्रन्थ थे। कषाय कुशील निर्ग्रन्थ, मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं

कुशील नियण्ठा भी नहीं था। अन्यथा वह वचन बोलनेमें क्यों चूक जाते ? अतएव उपासक दशांग सूत्रमें जहां गोतम स्वामीका गुण वर्णन किया है वहां उनको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धनी नहीं कहा है।

कोई कोई कहते हैं कि 'भगवती सूत्र, उपासक दशांग सूत्रसे पहलेका बना है उस में गोतम स्वामीको चार ज्ञान और चौदह पूर्व का धारक बतला दिया है इसीलिये उपासक दशांगमें गोतम स्वामीको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धारक नहीं कहा है क्योंकि ये बातें भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं। जो बात भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं उसे फिर उपासक दशांगमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ?'।

उनसे कहना चाहिये कि यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण गोतम स्वामीके चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन उपासक दशांग सूत्रमें नहीं किया गया है तो भगवतीसूत्र में जिन जिन गुणोंका वर्णन किया है उन सभी का वर्णन उपासक दशांग सूत्रमें नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होकर भगवतीमें कहे हुए कई गुणोंका उपासक दशांग सूत्रमें वर्णन किया है और कई गुणोंका नहीं किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्रमें समुच्चय रूपसे सभी गुणोंका वर्णन किया गया है और उपासक दशांग सूत्रमें आनन्दके पास जाते समय गोतम स्वामीमें जितने गुण थे उन्हींका वर्णन है। नहीं तो उपासक दशांगमें फिर उन्हीं गुणोंके कहनेकी क्या आवश्यकता थी जो भगवती में कहे जा चुके हैं।

भगवती सूत्रके साथ उपासक दशांग सूत्रके पाठमें केवल इतना ही अन्तर है कि भगवतीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्वके साथ अन्य गुणोंका कथन है और उपासक दशांगमें अन्य गुणोंका वर्णनके साथ चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन नहीं है। इसके सिवाय भगवती सूत्र और उपासक दशांग सूत्र के पाठों मे कुछ भी अन्तर नहीं है।

देखिये भगवतीका पाठ यह है—

"तेण कालेण तेण समएण्ण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूति नाम अनगार गोतम गोत्तेण सत्तुसेहे समच उरस्स सट्ठाण सट्ठिए वज्जरिसह नाराय संघयणे कणग पुल्कणिघस पह्म गोर उग्ग तवे दित्त तवे तत्त तवे महा तवे उराल घोरे घोर गुणे घोर तवस्सी घोर बम्भचेर वासी उच्छूढ सरीरे संखित्तविउलतेउ ल्लेस्से चउद्दस पुव्वी चउण्णाणोवगये सव्वक्खर सन्निवाई"

(भ० श० १ उ० १)

"तेणं कालेणं तेण समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूइ नाम अणगारे गोयम गोत्तेण सत्तुसेहे समचउरंससट्ठाणसट्ठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणकपुलकणिघस पह्म गोरे उग्गतवे दित्ततवे घोर तवे उराले घोर गुणे घोर तवस्सी घोर बभचेर वासी उच्छूढ सरीर सखित्त विउल तेउलेस्से छट्ठ छट्ठेण अणिखित्तेण तवोपकमेण संजमेणं तवसा अप्पाणं भावे माणे विहरइ"

(उपासक दशाग)

इस पाठमें भगवती सूत्रोक्त गोतम स्वामीके "चउद्दस पूव्वी" "चउणाणोवगए" "सव्वक्खर सन्निवाई" इन तीन विशेषणोंको छोड़ कर बाकी सभी विशेषण कहे गये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस समय गोतम स्वामी आनन्दके घर पर गये थे उस समय उनमे चौदह पूर्व और चार ज्ञान नहीं थे। यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण इन तीन विशेषणोंका कथन उपासक दशागमें इस पाठमें न माना जाय तो फिर उपासक दशाग सूत्रमे अन्य विशेषणोंका कथन भी नहीं होना चाहिये क्योंकि भगवतीमें वे सभी कहे जा चुके हैं अत जिस अवस्थाका गुण वर्णन करनेके लिये उपासक दशागका पाठ कहा गया है उस समय गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे यही बात सिद्ध होती है।

जो बात पूर्वके अङ्गोंमें वर्णन की गई हैं वे सभी उत्तरके अङ्गोंमें समझी जायें एसा कोई नियम नहीं है क्योंकि आचाराग सूत्रके दूसरे श्रुत स्कन्धमें भगवान महावीर स्वामीमें केवल ज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन किया गया है तथापि भगवती सूत्रके १५ वें शतकमे प्रसङ्गवश फिर भी भगवान्‌के छद्मस्थपनेका वर्णन है। भगवती पाचवा अङ्ग है और आचाराङ्ग पहला है। उसी तरह भगवतीमें गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्वका वर्णन होने पर भी प्रसङ्गवश उपासक दशाग सूत्रमें गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व न होनेके समयकी बात कही गयी है।

यदि भगवतीमें कहे हुए गोतम स्वामीके सभी गुणोंको उपासक दशाग सूत्रमें बतलाना होता तो "जाव" शब्दसे भगवतीके पाठका संकोच करके उपासक दशाग सूत्रमें इस तरह कह देते कि "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभूई नामं अणगारे जाव विहरइ" परन्तु शास्त्रकारको भगवतीमें कहे हुए सभी विशेषणोंके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं थी अतएव जाव शब्दसे भगवती

के पाठका यहां सङ्कोच नहीं किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आनन्द श्रावक को उत्तर देते समय गोतम स्वामी चौदह पूर्व और चार ज्ञानके धनी नहीं थे अतः गोतम स्वामीके छद्मस्थ भगवान् महावीर स्वामीको चूका हुआ बताना मिथ्या है।

(बोल ८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २१३ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—दृष्टिवादरो धणी पिण वचनमें स्खलाय जाय तो और साधुने हसनो नहीं। ए दृष्टिवादरो जाण चूके तिण में पिण कषाय कुशील नियंठो छै"
(भ्र० पृ० २१३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारने दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका अशुद्ध अर्थ किया है इसलिये वह गाथा लिखकर उसका शुद्ध अर्थ किया जाता है—

आयार पन्नत्तिधरं दिट्ठिवाय महिज्जगं
वायविक्खलियं नच्चा न तं उवहसे मुणी"
(दशवैकालिक अ० ८ गाथा ५०)

(टीका)

'आयार' त्ति सूत्रम्। आचार प्रज्ञप्तिधर मिति आचार धरं स्त्रीलिंगादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरं तान्येव सविशेषाणीत्येवं भूतं। तथा दृष्टिवाद मधीयानं प्रकृति प्रत्यय लोपागम वर्ण विकार काल कारक वेदिनं वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा विविध मनेकैः प्रकारैः लिङ्ग भेदादिभि स्खलितं विज्ञाय न तमाचारादि धर मुपहसेन्मुनि अहोनु खल्वाचा रादिधरस्यवाचि कौशल मित्येवम् इह च दृष्टिवाद मधीयान मित्युक्त मत इदं गम्यते— नाधीत दृष्टिवादं तस्य ज्ञानाप्रमादातिशयेन स्खलनासम्भवात्। यन्वेवं भूतस्यापि स्खलितं भवति नचैनमुपहसेत् दित्युपदेशः ततोऽन्यस्य सुतरां भवतीति नासौ हसितव्य इति सूत्रार्थः।'

अर्थ —

जो स्त्रीलिङ्ग आदिको जानता है उसे आचारधर कहते हैं और जो विशिष्ट रूपसे स्त्रीलिङ्ग आदि जानता है उसे प्रज्ञप्तिधर कहते हैं। जो मुनि आचारधर और प्रज्ञप्तिधर हैं तथा दृष्टिवादका

अध्ययन कर रहे हैं, प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, काल और कारकका जानते हैं वह यदि बोलते समय लिङ्ग आदिसे अशुद्ध बोल देवे तो उन पर हास्य नहीं करना चाहिये। यह नहीं कहना चाहिये कि अहो ! आचारादि धर मुनिका इस प्रकार वाक्कौशल है ! इस गाथामें "दृष्टिवाद मधीयान" इस वाक्यमें वर्तमान कालका प्रयोग करके यह बतलाया गया है कि जिस मुनिने दृष्टिवादका अध्ययन करना समाप्त नहीं किया है किन्तु दृष्टिवादका अध्ययन अभी कर रहा है उससे यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये। जिसने दृष्टिवादको पढ़ कर समाप्त कर दिया है उससे वाक् स्खलन होना असम्भव है। दृष्टिवादको पढ़ कर जिसने समाप्त कर दिया है उसमें ज्ञान और अप्रमादका बहुत ज्यादा सद्भाव होता है अतः वह भूल नहीं कर सकता है। इस पाठमें यह उपदेश किया गया है कि दृष्टिवादका अध्ययन करने वाले मुनिसे यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आचार प्रज्ञप्ति धर मुनिसे जब कि वाक् स्खलन होता है तब फिर दूसरेसे वाक् स्खलन होना तो एक साधारण बात है इसलिये यदि दूसरेसे भी वाक् स्खलन हो जाय तो उस पर हास्य नहीं करना चाहिये।

यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

यहां "दृष्टिवाद मधीयान" इस वाक्यमें वर्तमान कालका प्रयोग देकर दृष्टिवादको पढ़ते हुए मुनिका वाक् स्खलन होना बतलाया है, जिसने दृष्टिवादको पढ़ कर समाप्त कर दिया है उसका वाक् स्खलन होना नहीं कहा है अतः इस गाथाका नाम लेकर चौदह पूर्वधारीको चूक होनेकी सिद्धि करना मिथ्या है। चौदह पूर्वधारी दृष्टिवादको पढ़ा हुआ होता है अतः वह कदापि चूक नहीं सकता है। किन्तु जो अभी दृष्टिवादको पढ़ रहा है उसीका चूकना इस गाथामें कहा है।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारका मत है कि कषाय कुशील निग्रन्थमें छः समुद्घात और पांच शरीर शास्त्रमें कहे हैं। और वैक्रियलब्धिका प्रयोग करनेवालेको बिना आलोचना किये मरने पर विराधक कहा है तथा वैक्रियलब्धि और आहारक लब्धिके प्रयोग करनेसे पांच क्रियाका लगना शास्त्रमें कहा है अतः कषाय कुशील निग्रन्थ भी वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करता हुआ दोषका प्रतिसेवी होता है इसलिये सभी कषाय कुशीलोंको दोष अप्रतिसेवी बतलाना मिथ्या है।

इसका क्या समाधान ?

(प्रश्नपत्र)

कषाय कुशीलमें छ समुद्घात और पांच शरीर पाये जाते हैं तथापि भगवती शतक २५ उद्देशा ६ मे उसे दोषका अप्रतिसेवी कहा है। वह पाठ यह है—

"कसाय कुसीलेणं पुच्छा गोयमा ! नो पडिसेवए होज्जा अप डिसेवए होज्जा"

(भगवती शतक २५ उ० ६)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् । कषाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गौतम ! कषाय कुशील दोष का अप्रतिसेवी होता है प्रतिसेवी नहीं होता है।

इस पाठमें कषाय कुशीलको साफ साफ दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इसलिये छ समुद्घात और पाच शरीरके पाये जाने पर भी कषाय कुशील दोषका अप्रतिसवी ही होता है प्रतिसेवी नहीं। यदि कोई पूछे कि "कषाय कुशीलमें जब कि छ समुद्घात और पाच शरीर पाये जाते हैं तब वह दोषका अप्रतिसेवी कैसे हो सकता है ?" तो उसे कहना चाहिये कि दोषका प्रतिसेवन परिणामके अधीन होता है कार्य्यके अधीन नहीं होता। जैसे कि वीतराग साधुके पैरके नीचे आकर यदि कोई जानवर मर जाय तो वीतरागको एर्य्यापथिकी (पुण्य बन्ध) क्रिया लगती है और सरागी साधुके पैरके नीचे आकर कोई जानवर मर जाय तो उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है। यहा पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेमें कोई भेद नहीं है परन्तु परिणाममें भेद होनेसे वीतरागको तो पुण्य बन्ध और सरागको सम्परायिकी क्रिया होती है। वीतरागका परिणाम निर्मल है इसलिये उसके पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेसे उसे पुण्यबन्धकी क्रिया होती है और सराग साधुका परिणाम वैसा निर्मल नहीं है इस लिये उसके पैरके नीचे जानवरके मरनेसे उसे साम्परायिकी क्रिया लगती है उसी तरह कषाय कुशीलका परिणाम निर्मल होता है इसलिये छ समुद्घात और पाच शरीरके पाए जानेपर भी वह दोषका अप्रतिसेवी ही होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील, कषाय कुशीलकी तरह निर्मल परिणाम वाले नहीं होते इस लिये ये दोषके प्रति सेवी होते हैं। यदि छ समुद्घात और पाच शरीरके पाये जानेसे ही दोषका प्रति सेवी हो जाता तो फिर बकुश और प्रतिसेवना कुशीलकी तरह कषाय कुशील

को भी शास्त्रकार दोषका प्रतिसेवी बतलाते परन्तु शास्त्रकारने साफ साफ कषाय कुशील को दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इस लिये कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी कहना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

[बोल १० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कारका कहना है कि "जैसे भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ६ में संवृत (साधु) को यथार्थ स्वप्न आना कहा है और उसीको आवश्यक सूत्रमें मिथ्या स्वप्न भी आना कहा है इसलिये जैसे संवृत साधु दो तरहके होते हैं एक सच्चा स्वप्न देखनेवाले और एक झूठा स्वप्न देखनेवाले, वैसी तरह कषाय कुशील भी दो तरहके होते हैं एक दोषका प्रतिसेवन नहीं करने वाले और दूसरे दोषका प्रतिसेवन करने वाले।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

संवुडा साधुका दृष्टान्त देकर कषाय कुशीलको दो तरहका बतलाना अज्ञान है। जिस संवुडा साधुका नाम लेकर भगवती शतक १६ उद्देशा ६ में सच्चा स्वप्न देखना कहा है उसी संवुडाका नाम लेकर आवश्यक सूत्रके चौथे अध्ययनमें मिथ्या स्वप्न देखना भी कहा है इस लिये संवुडा साधुका द्विविध होना शास्त्रसे ही सिद्ध होता है परन्तु कषाय कुशीलका द्विविध होना शास्त्रसे नहीं सिद्ध होता क्योंकि जिस कषाय कुशीलका नाम लेकर भगवती शतक २५ उद्देशा ६ मे दोषका अप्रतिसेवी कहा है फिर उसी कषाय कुशीलका नाम लेकर शास्त्रमें कहीं दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा है अतः संवुडाकी तरह कषाय कुशीलको दो तरहका बतलाना अप्रमाणिक है।

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २१७ पर भगवती शतक ५ उद्देशा ४ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो —अनुत्तर विमानरा देवता उदीर्ण मोह नथी अने क्षीण मोह नथी उपशान्त मोह छै, इम कह्यो । इहां मोहने उपशमायो कह्यो । अने उपशान्त मोहनो ११वें गुण ठाणे छै अने देवता तो चौथे गुण ठाणे छै तिहांतो मोहनो उदय छै तेह थी समय समय सात २ कर्म लागे छै । मोहनो उदयनो दशमें गुणठाणे ताइं छै अने इहां तो देवता ने उपशान्त मोह कह्यो ते उत्कट वेद मोहनी आश्री कह्यो तिः। देवताने परिचारणा नथी

ते माटे बहुल वेद मोहनी आश्री उपशान्त मोह कह्यो। पिण सर्वथा मोह आश्री उपशान्त मोह न थो कह्यो" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं "तिम कषाय कुशीलने अपडिसेवी कह्यो ते पिण विशिष्ट परिणाम आश्री अपडिसेवी कह्यो पिण सब कषाय कुशील चारित्रिया अपडिसेवी नहीं" (भ्र० पृ० २१७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुत्तर विमानवासी देवनाओंके विषयमें जो पाठ आया है उसका उदाहरण देकर कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी कहना अज्ञान है। अनुत्तर विमानवासी देवता चौथे गुण स्थानके धनी हैं इसलिये उनमें मोहका पूर्ण उपशम होना असम्भव है अतः उन्हें उपशान्त मोह कहनेका आशय यही हो सकता है कि उनमें उत्कट वेद मोहनीय का अभाव है परन्तु कषाय कुशीलके विषयमें यह उदाहरण नहीं घटता क्योंकि कषाय कुशील को कहीं भी दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा है।

यदि किसी जगह कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी कहा होता अथवा किसी दूसरे प्रमाणसे भी कषाय कुशीलका प्रतिसेवी होना जाना जाता तो भगवतीके २५ वें शतक और छट्ठे उद्देशेके पाठका यह अभिप्राय माना जा सकता था कि कषाय कुशील जो उच्च कोटिके हैं उनकी अपेक्षासे ही भगवतीमें दोषका अप्रतिसेवी कहा है परन्तु कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बतानेवाला न कोई मूलपाठ ही कहीं मिलता है और न किसी दूसरे प्रमाणसे ही कषाय कुशीलका प्रतिसेवी होना सिद्ध होता है। ऐसी दशामें अनुत्तर विमानवासी देवनाओंके पाठका उदाहरण देकर कषाय कुशीलके सम्बन्धमें आये हुए पाठका यह अभिप्राय बतलाना कि "जो उच्च श्रेणीके कषाय कुशील हैं उन्हीं को दोषका अप्रतिसेवी बतलाना इस पाठका आशय है", बिल्कुल मिथ्या है।

सभी कषाय कुशील यदि दोषके अप्रतिसेवी नहीं होते तो कदापि भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में कषाय कुशील मात्रको दोषका अप्रतिसेवी नहीं कहते। अथवा टीकामें तथा किसी दूसरी जगह मूलपाठमें ही इसका खुलासा अवश्य कर देते परन्तु कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी नहीं होता है इसीलिये शास्त्रकारने सामान्य रूपसे सभी कषाय कुशील को दोषका अप्रतिसेवी ही कहा है अतः कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बताने के लिये विविध कुतर्कों का आश्रय लेना दुराग्रहका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १८८ पर ठाणाग सूत्र ठाणा ७ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"अथ अठे पिण इम कह्यो सात प्रकारे छद्मस्थ जाणिये अने सात प्रकारे केवली जाणिए। केवली तो ए सातुइ दोष न सेवे ते भणी न चूके अने छद्मस्थ सात दोष सेवे छै" (भ्र० पृ० १८८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूलपाठसे भगवान् महावीर स्वामीका दोष सेवन करना नहीं सिद्ध होता है क्योंकि सभी छद्मस्थ दोषके प्रतिसेवी होते ही हैं ऐसा कोई नियम ठाणाङ्ग ठाणा सातमे नहीं कहा है। वहांके मूलपाठका यही आशय है कि छद्मस्थोंमें सात दोषों का सम्भव होता है केवलियोंमें नहीं। सातवें गुण स्थानसे लेकर बारहवें गुण स्थान तक के जीव छद्मस्थ ही होते हैं परन्तु वे दोषोंका सेवन नहीं करते क्योंकि उनका परिणाम बहुत ही निर्मल होता है उसी तरह छट्ठा गुण स्थान वाले जो विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी होते हैं वे भी दोषके प्रतिसेवी नहीं होते। यह बात भ्रमविध्वंसनकारने भी भ्र० पृ० २१४ पर लिखी है जैसे कि —

"अने छठे गुण ठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ट निर्मल परिणामनो धणी शुभयोगमें प्रवर्त्त छै"

भगवान् महावीर स्वामी षष्ठ गुण स्थानमें अतिविशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे इसलिये वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे। भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ दशामें अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे यह बात प्रमाणके साथ पहले कही जा चुकी है और आचाराङ्ग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया गया है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थ दशामें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था अतः ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूलपाठका नाम लेकर भगवान्‌में चूक होनेकी प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये।

यदि कोई दुराग्रही सभी छद्मस्थोंमें सात दोषोंका अवश्य सद्भाव बतावे तो उसे कहना चाहिये कि छद्मस्थ तो सातवें गुणस्थान वाले तथा ८।९।१०।११ और बारहवें गुण स्थान वाले भी होते हैं फिर तुम उन्हें भी दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं मानते ?। यदि सातवें आठवें आदि गुण स्थान वाले अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी होनेसे दोषका प्रतिसेवी नहीं होते तो उसी तरह षष्ठ गुण स्थान वाला भी अतिविशिष्ट

निर्मल परिणामका धनी दोषका प्रतिसेवी नहीं होता। भगवान् महावीर स्वामी षष्ठ गुण स्थानमें अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे इसलिये वह दोषका प्रतिसेवी नहीं थे अतः गोशालककी रक्षा करनेके कारण भगवान्को चूका हुआ बतलाने वाले अज्ञानी और अनुकम्पाके द्रोही हैं।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्र० पृ० ३२२ पर लिखते हैं —

"गोशालाने लिब्ध बताई, लेश्या सिखाइ, दीक्षा दीधी ए सर्व उपयोग चूकने कार्य्य कीधा। जो उपयोग देवे अने जाने ए लिब्ध फोड़नारसी तो लिब्धबतावाइज क्याने बिन उपयोग दिया विना एकार्य्य किया छै" (भ्र० पृ० २२२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थपनेमें गोशालकको लिब्ध बताया, दीक्षा दी और लेश्या सिखाई यह सब कार्य्य यदि भगवान्का चूकना है तो केवल ज्ञान होने पर भगवान् महावीर स्वामीने गोशालककी मृत्यु बताई, जामालीको दीक्षा दी और काली आदि दश रानियोंको उनके पुत्रोंका मरण बताया था यह सब कार्य्य उनका चूकना क्यों नहीं मान लेते ? क्योंकि इन कार्य्यों का परिणाम भी बहुत बुरा हुआ था। गोशालक अपने मरणका समय आया जान कर बहुत भयभीत हुआ था। जामाली कुशिष्य हुआ और काली आदि दश रानियां पुत्र मरण सुन कर भगवान के समवसरणमें ही मूर्च्छित होकर गिर गयीं थीं। इसी तरह भगवान् नेमिनाथजीने केवल ज्ञान होने पर संवकसे सोमिल ब्राह्मणका मरण बतलाया था जिसका फल यह हुआ कि सोमिल को श्रीकृष्णने मार डालकर घसीट वाया और घसीटनेकी लकीर जो पृथ्वी पर पड़ी थी उस पर पानी छिड़क वाया फिर इस कार्य्यको भगवान् नेमिनाथजी का चूकने में क्यों नहीं मान लेते ?

यदि कहो कि—केवल ज्ञानी पुरुष, अतीन्द्रियार्थ दर्शी अपरिमित ज्ञानी कल्पातीत और आगम व्यवहारी होते हैं वह जो करते हैं उसका रहस्य वही जानते हैं इसलिये सूत्र व्यवहारके कल्पानुसार उनके कार्य्यको बुरा नहीं कहा जा सकता तो उसी तरह छद्मस्थ तीर्थकर भी आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इसलिये सूत्र व्यवहारीके कल्पका नाम लेकर उनके कार्य्यको भी बुरा नहीं कह सकते अतः गोशालकको लिब्ध

बताने, दीक्षा देने आदि कार्य्यों को भगवान्के चूकनेमें प्रमाण देना अविवेकका परिणाम जानना चाहिये ।

[बोल १३ वां]

(प्रेरक)

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

छद्मस्थ तीर्थङ्कर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस विषयमें भगवती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है । वह पाठ यह है—

"कषाय कुशीले पुच्छा गोयमा ! जिण कप्पे वा होज्जा, थेर कप्पे वा होज्जा कप्पातीते वा होज्जा"

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कषाय कुशील निग्रन्थमें कितने कल्प होते हैं ?

(उत्तर) हे गौतम ! कषाय कुशील निग्रन्थ जिन कल्पी भी होते हैं स्थविर कल्पी भी होते हैं और कल्पातीत भी होते हैं ।

यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इस पाठमें कषाय कुशीलमें तीन कल्प कहे हैं—जिन कल्प, स्थविर कल्प और कल्पातीत । इनमें कल्पातीत कषाय कुशील नियण्ठा, केवल छद्मस्थ तीर्थंकरमें ही होता है दूसरमें नहीं यह टीकाकारने लिखा है वह टीका यह है —

"कल्पातीतवा कषाय कुशीलो भवेत् । कल्पातीतस्य छद्मस्थ तीर्थंकरस्य सकषायत्वात् ।"

अर्थात् कषाय कुशील निग्रन्थ, कल्पातीत भी होता है क्योंकि छद्मस्थ तीर्थंकर कषाय कुशील होते हैं और वह कल्पातीत हैं ।

उक्त पाठ और उसकी उक्त टीकामें छद्मस्थ तीर्थंकरको कल्पातीत कहा है । कल्पातीत वह है जो जिन कल्प और स्थविर कल्पका उल्लंघन किया हुआ है । भगवतीकी टीकामें लिखा हुआ है कि "कल्पातीतानि जिन कल्प स्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र" अर्थात् जिन कल्प और स्थविर कल्पसे भिन्नको कल्पातीत कहते हैं । कल्पम् अतीताः कल्पातीताः" इस व्युत्पत्तिसे, जो कल्पका उल्लंघन किया हुआ है यानी जिन पर शास्त्रीय [illegible] नहीं है वह कल्पातीत है । [illegible]

बतलाये हैं । जिन कल्प और स्थविर कल्प । शेष सभी कल्प इनमें ही अन्तर्भूत हैं इस लिये जिन कल्पी और स्थविर कल्पी ही शास्त्रीय मर्य्यादाके अधिकारी होते हैं, जो कल्प को उल्लंघन किया हुआ है वह नहीं होता । भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही कल्पातीत हो गये थे इस लिये जैसे केवल ज्ञान होने पर कल्पातीत और आगम व्यवहारी होनेसे उनके कार्य्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोषमें नहीं कह सकते हैं उसी तरह उनके छद्मस्थपनेके कार्य्यको भी दोषमें नहीं कह सकते । जैसे केवल ज्ञान होनेपर जा-माली आदिको दीक्षा देने आदि कार्य्य भगवानने किये थे और वे कार्य्य उनके दोषमें नहीं थे उसी तरह उनके छद्मस्थपनमें गोशालकको दीक्षा देने लिब्ध बताने आदि कार्य्य भी दोष या चूकनमें नहीं थे । अतः गोशालकको लिब्ध बताने दीक्षा देने आदि कार्य्य को भगवानकी चूकनेमें प्रमाण देना अज्ञान है ।

बोल १४ समाप्त

(प्रेरक)

भगवान महावीर स्वामी छद्मस्थपनेमें आगम व्यवहारी और कल्पातीत थे इस लिये सूत्र व्यवहारीक कल्पानुसार उनके कार्यों को दोषमें नहीं कहा जा सकता यह ज्ञात हुआ, अब व्यवहारोंका भेद बतलाइये ?

(प्ररूपक)

भगवती व्यवहार सूत्र और ठाणांग सूत्रमें व्यवहारका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है—

"कइ विहेण भन्ते ! ववहारे पन्नत्ते ? गोयमा ! पंचविहे ववहारे पन्नत्ते तंजहा आगमे, सुए आणा, धारणा, जीए । जहासे तत्थ आगमेसिया आगमेण ववहारं पट्ठवेज्जा णोयसे तत्थ आगमेसिया जहा से तत्थ सुए सिया सुएण ववहारं पट्ठवेज्जा । णोयासे तत्थ सुएसिया जहा से तत्थ आणासिया आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा । णोयसे तत्थ आणासिया जहा से तत्थ धारणासिया धारणाएण ववहारं पट्ठवेज्जा । णोयसे तत्थ धारणासिया जहा से तत्थ जीएसिया जीएण ववहारं पट्ठवेज्जा"

(भग० श० ८ व्यवहार उ० १० ठाणांग ठा० ५)

अथ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! व्यवहार के प्रकारका होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! व्यवहार पांच प्रकारका होता है ।

(१) आगम व्यवहार (२) श्रुत व्यवहार (३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार (५) जित व्यवहार । जहां केवल आदि छ आगमोंमेंसे कोई आगम विद्यमान हो वहां प्रायश्चित्त आदि व्यवस्था आगमसे दी जाती है श्रुत आदिसे नहीं । जहां आगम न हो वहां श्रुत व्यवहारसे व्यवस्था देना चाहिये आज्ञा आदिसे नहीं । जहां श्रुत न हो वहां आज्ञासे, जहां आज्ञा न हो वहां धारणासे, जहां धारणा न हो वहां जितसे व्यवस्था देनी चाहिये परन्तु आगमके होने पर धारणासे और धारणाके होने पर जितसे व्यवस्था नहीं देनी चाहिये । यह उक्त पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें व्यवहारके आगम आदि छ भेद बतला कर पूर्व पूर्वके सद्भावमें उत्तर उत्तरसे व्यवस्था देनका निषेध किया है इसी तरह आगमोंमें भी केवल ज्ञानके रहते पर शेष पांच आगमोंसे और मन पर्य्यवज्ञान रहते चार थागमें एवं अवधिके रहने पर शेष तीन से, चौदह पूर्वके रहते शेष दोसे और दश पूर्व रहने पर शेष नव पूर्वसे और नव पूर्वके रहने पर श्रुत आदिसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है अतः छद्मस्थतीर्थंकरमें आगम व्यवहारके होनेसे श्रुतादि व्यवहारानुसार उनमें दोषकी स्थापना नहीं की जा सकती। भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही मन पर्य्यव ज्ञानके धनी हो गये थे इस लिये उनको श्रुतादि व्यवहारोंसे आचरण करनेकी कोई आवश्यकता न थी उनके सभी व्यवहार आगम व्यवहारके अनुकूल ही होते थे अतः उनके कार्य्यको श्रुतादि व्यवहारके अनुसार समालोचना करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

भ्रम विध्वंसन कारने भी अपने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध नामक ग्रन्थमें आगम व्यवहारके रहने पर श्रुतादि व्यवहारोंसे कार्य्य न होनका उल्लेख किया है ।

(प्रश्न)

दशवर्षा पछे भगवनो भगवो व्यवहार उद्देशा १० कह्यो तो घनो नवमासे ११ अंग भण्यो किम् ?

(उत्तर)

वीरनी आज्ञाइ दोष नहीं त ठाम आगम व्यवहार प्रवर्ततो सूत्र व्यवहाररो काम नहीं । व्यवहार उद्देश १० तथा ठाणाङ्ग ठाणा ५ कह्यो जिवार आगम व्यवहार हुवै तिवार आगम व्यवहार थापणो अने आगम व्यवहार न हुवै तिवार सूत्र व्यवहार थापवो इम कह्यो"

(प्रश्नोत्तर तत्व बोध उत्तर नं० १२३)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन्! व्यवहार के प्रकारका होता है?

(उत्तर) हे गौतम! व्यवहार पांच प्रकारका होता है।

(१) आगम व्यवहार (२) श्रुत व्यवहार (३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार (५) जीत व्यवहार। जहाँ केवल आदि छः आगमोंमेंसे कोई आगम विद्यमान हो वहां प्रायश्चित्तादि व्यवस्था आगमसे दी जाती है श्रुत आदिसे नहीं। जहाँ आगम न हो वहां श्रुत व्यवहारसे व्यवस्था देनी चाहिये आज्ञा आदिसे नहीं। जहाँ श्रुत न हो वहां आज्ञासे, जहाँ आज्ञा न हो वहां धारणासे, जहाँ धारणा न हो वहां जीतसे व्यवस्था देनी चाहिये परन्तु आगमके होने पर धारणादि और धारणाके होने पर जीतसे व्यवस्था नहीं देना चाहिये। यह उक्त पाठका अर्थ है।

इस पाठमें व्यवहारके आगम आदि छः भेद बतला कर पूर्व पूर्व के अभावमें उत्तर उत्तरसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है इसी तरह आगमोंमें भी केवल ज्ञानके रहते पर शेष पांच आगमोंसे और मन पर्य्यवके रहते शेष चार आगम एवं अवधिके रहने पर तीन ज्ञान से, चौदह पूर्वके रहते शेष दोसे और दश पूर्वके रहने पर शेष नव पूर्वसे और नव पूर्वके रहने पर श्रुत आदिसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है अत: छद्मस्थतीर्थंकरमें आगम व्यवहारके होनेसे श्रुतादि व्यवहारानुसार उनमें दोषकी स्थापना नहीं की जा सकती। भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही मन पर्य्यव ज्ञानके धनी हो गये थे इस लिये उनको श्रुतादि व्यवहारोंसे आचरण करनेकी कोई आवश्यकता न थी उनके सभी व्यवहार आगम व्यवहारके अनुकूल ही होते थे अतः उनके कार्य्योंको श्रुतादि व्यवहारके अनुसार समालोचना करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

भ्रम विध्वंसन कारने भी अपने प्रश्नोत्तर तत्वबोध नामक ग्रन्थमें आगम व्यवहारके रहने पर श्रुतादि व्यवहारोंसे कार्य्य न होनेका उल्लेख किया है।

(प्रश्न)

दशवा पछे भगवन्तो भगवो व्यवहार उद्देशा १० कह्यो तो धनो नवमासे ११ अंग भण्यो किम्?

(उत्तर)

वीरनी आज्ञाइ दोष नहीं तठामे आगम व्यवहार प्रवर्ततो सूत्र व्यवहारनो काम नहीं। व्यवहार उद्देश १० तथा ठाणाङ्ग ठाणा ५ कह्यो जिवारे आगम व्यवहार ह्वै तिवारे आगम व्यवहार थापवो अने आगम व्यवहार न ह्वै तिवारे सूत्र व्यवहार थापवो इम कह्यो"

(प्रश्नोत्तर तत्व बोध उत्तर नं० १२३)

ऊपर लिखे हुए जीतमलजीके लेखमें आगम व्यवहारके होनेपर सूत्र व्यवहारका उपयोग नहीं किया जाना साफ साफ लिखा है और महावीर स्वामीके समयमें आगम व्यवहारका ही उपयोग होना भी लिखा है तथापि सूत्र व्यवहारानुसार भगवानमें दोष कायम करना इनका अपने कथनसे ही विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल १५ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २२४ पर भगवती शतक १५ में की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ टीकामें पिण कह्यो ए अयोग्य भगवान अंगीकार कियो ते अक्षीण राग-पणे करी तेहना परिचय करी स्नेह अनुकम्पाना सद्भावथी अने छद्मस्थ छै ते माटे आगा-मियां कालना दोषना अजाण थकी अंगीकार कीधो कह्यो राग परिचय स्नेह अनुकम्पा कही ते स्नेह अनुकम्पा कहो अने भाव मोह अनुकम्पा कहो जो एकार्थ करवायोग्य हुवे तो इम बखान कहिता" (भ्र० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ में की टीकासे महावीर स्वामीका चूकना नहीं सिद्ध होता क्योंकि वहां टीकाकारने लिखा है कि "अवश्यभाविभावत्वाद्वैतस्यायस्यतिविभावनयम्" अर्थात् भगवानसे गोशालकका स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये भगवानने उसे स्वीकार किया। यह लिखकर टीकाकारने भगवानको चूक जाने का स्पष्ट रूपसे निषेध किया है तथापि इस टीकासे भगवानको चूकनेकी सिद्धि करना अज्ञान है ।

यदि कोई कहे कि इस टीकामें गोशालकको स्वीकार करनेके दो कारण और भी बतलाये हैं। पहले तो गोशालकके ऊपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करना कारण कहा है और साधुको किसी पर स्नेह करना गुण नहीं किन्तु दोष है तो उसे कहना चाहिये कि अनुकम्पाके ऊपर [illegible] भी पापर स्नेह करना बुरा नहीं किन्तु गुण है। [illegible] स्नेह करना ही बुरा कहा है गुणके साथ स्नेह करना बुरा नहीं है अतः गोशालकके ऊपर जो भगवानने स्नेहपूर्ण अनुकम्पा की थी [illegible] परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि गोशालक [illegible] अयोग्य व्यक्ति था उसपर स्नेह करना अवश्य बुरा था तो इसका उत्तर देते हुए टीकाकार लिखते हैं कि छद्मस्थतया [illegible]

अथ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! व्यवहार के प्रकारका होता है ?

(उत्तर) हे गौतम ! व्यवहार पांच प्रकारका होता है ।

(१) आगम व्यवहार (२ श्रुत व्यवहार (३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार (५) जित व्यवहार । जहां केवल आदि छ आगमोंमेंसे कोई आगम विद्यमान हो वहां प्रायश्चित्तादि व्यवस्था आगमसे दी जाती है श्रुत आदिसे नहीं । जहां आगम न हो वहां श्रुत व्यवहारसे व्यवस्था देनी चाहिये आज्ञा आदिसे नहीं । जहां श्रुत न हो वहां आज्ञासे, जहां आज्ञा न हो वहां धारणासे, जहां धारणा न हो वहां जितसे व्यवस्था देनी चाहिये परन्तु आज्ञाके होने पर धारणासे और धारणाके होने पर जितसे व्यवस्था नहीं देनी चाहिये । यह उक्त पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें व्यवहारके आगम आदि छ भेद बतला कर पूर्व पूर्वके सद्भावमें उत्तर उत्तरसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है इसी तरह आगमोंमें भी केवल ज्ञानके रहने पर शेष पांच आगमोंसे और मन पर्य्यायके रहते शेष चारसे एवं अवधिके रहने पर शेष तीनसे, चौदह पूर्वके रहते शेष दोसे और दश पूर्वके रहने पर शेष नव पूर्वसे और नव पूर्वके रहने पर श्रुत आदिसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है अतः छद्मस्थतीर्थंकरमें आगम व्यवहारके होनेसे श्रुतादि व्यवहारानुसार उनमें दोषकी स्थापना नहीं की जा सकती। भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही मन पर्य्यव ज्ञानके धनी हो गये थे इस लिये उनको श्रुतादि व्यवहारोंसे आचरण करनेकी कोई आवश्यकता न थी उनके सभी व्यवहार आगम व्यवहारके अनुकूल ही होते थे अतः उनके कार्य्यको श्रुतादि व्यवहारके अनुसार समालोचना करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

भ्रम विध्वंसन कारने भी अपने प्रश्नोत्तर तत्वबोध नामक ग्रन्थमें आगम व्यवहारके रहने पर श्रुतादि व्यवहारोंसे कार्य्य न होनेका उल्लेख किया है ।

(प्रश्न)

दशवया पछे भगवन्तो भगवो व्यवहार उद्देशा १० कह्यो तो धनो नवमासे ११ अंग भण्यो किम् ?

(उत्तर)

बारनी आज्ञाइ दोष नहीं त ठामे आगम व्यवहार प्रवर्ततो सूत्र व्यवहाररो काम नहीं । व्यवहार उद्देशा १० तथा ठाणाङ्ग ठाणा ५ कह्यो जिवारे आगम व्यवहार हुवे तिवारे आगम व्यवहार थापवो अने आगम व्यवहार न हुवे तिवारे सूत्र व्यवहार थापवो इम कह्या"

(प्रश्नोत्तर तत्व बोध उत्तर नं० १२३)

का नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी कल्पना करना निर्मूल तथा निराधार समझना चाहिये।

[बोल १६ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २२४ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ की टीकामें लिखी हुई गाथाको लिख कर उसकी साक्षी देते हुए लिखते हैं—

"तथा छद्मस्थ तीर्थंकर दीक्षा लेवे जिण दिन साथे कोई दीक्षा ल्ये तेनो टीक छै पिण तठापछे केवल ज्ञान ऊपना पहिला औरने दीक्षा देवे नहीं ठाणाङ्ग ठाणा ९ अर्थमें एहवी गाथा कही छै। (भ्र० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथाका नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी प्ररूपणा मिथ्या है। प्रथम तो यह गाथा कहीं मूलपाठ या किसी प्रमाणिक टीकामें नहीं पायी जाती इस लिये यह गाथा प्रमाण नहीं मानी जा सकती। दूसरी बात यह है कि उस गाथामें "नय सोसवग्गं दिक्खंति" यह लिखा है अर्थात् "छद्मस्थ तीर्थंकर शिष्य वर्गको दीक्षा नहीं देते।" यहां शिष्य वर्गको दीक्षा देनेका निषेध किया है किसी एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है अतः इस गाथासे भी एक व्यक्ति (गोशालक) को दीक्षा देनेसे भगवानका चूकना नहीं सिद्ध हो सकता। अतः किसी अज्ञात व्यक्तिकी बनाई हुई इस गाथाका नाम लेकर भगवान्‌का चूक जानेका समर्थन करना अज्ञान है।

वास्तवमें छद्मस्थ तीर्थंकर, वीतराग तीर्थंकरके समान ही कल्पातीत होते हैं इस लिये उनके कार्य्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि शास्त्रीय कल्प कल्पस्थित साधुओं पर ही लगता है कल्पातीत पर नहीं। कल्पातीत साधु अपने ज्ञानमें जैसा देखते हैं वैसा ही करते हैं, यह उनका दोष नहीं किन्तु गुण है। ठाणाङ्ग ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथा, तीर्थंकरोंका कल्प नहीं बतलाती है कि "अमुक अमुक कार्य्य तीर्थंकरको कल्पता है और अमुक अमुक नहीं" क्योंकि कल्पातीतका कोई कल्प नहीं होता। तीर्थंकर लोग छद्मस्थ अवस्थामें प्रायः जो कार्य्य करते हैं उसका वर्णनमात्र इस गाथामें किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर तीर्थंकरमें अन्य कार्य्य करके उन्हें चूकनेकी कल्पना करना मिथ्या है।

(बोल १७ वां समाप्त)

गमात्" अर्थात् जिस समय भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था उस समय गोशालक अयोग्य नहीं था किन्तु पीछे अयोग्य हुआ इस बातकी खबर भगवानको नहीं थी क्योंकि भगवान छद्मस्थ होनेके कारण भावी दोषको नहीं जानते थे।

यह लिखकर टीकाकार भगवानके चूकनेका स्पष्ट रूपसे निषेध कर रहे हैं। क्योंकि भविष्य कालका दोष नहीं जानने वाला कोई पुरुष वर्तमान कालमें किसीको अयोग्य नहीं जान कर यदि उसपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करे तो इसमें उसका क्या दोष है? अतः भविष्य कालके दोषको नहीं जान कर भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था यह भगवानका चूकना नहीं किन्तु दयालुता है। इसके आगे टीकाकारने भगवानके दोषका खण्डन करनेके लिये तीसरा हेतु अवश्य होनहार बतलाया है सो पहले लिख दिया गया है। यह तीसरा हेतु इस लिये दिया गया है कि पहलेके दो हेतुओंमें अरुचि है। पहले हेतुमें अरुचि यह है कि "गोशालक अयोग्य था उसपर भगवानने स्नेह क्यों किया?" इस अरुचिके कारण पहला हेतुको छोड कर टीकाकार दूसरा हेतु बतलाते हैं कि गोशालकके भविष्यमें अयोग्य होनेका भगवानको ज्ञान नहीं था क्योंकि वे छद्मस्थ थे इस लिये भगवानने गोशालकको स्वीकार किया। इस हेतुमें भी यह अरुचि आती है कि भगवान छद्मस्थ होकर भी भविष्यकी बात जान सकते थे जैसे कि उन्होंने गोशालकको बतलाया था कि इस तिलमें इतने दाने होंगे इत्यादि। अतः टीकाकारने पूर्वके दोनों हेतुओंसे सन्तुष्ट न होकर तीसरा हेतु दिया है और तीसरा हेतु देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि गोशालकको भगवानके द्वारा स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये इसमें भगवानका कुछ भी दोष नहीं है। आगम व्यवहारी पुरुष भावी बातको अपने ज्ञान द्वारा जान कर उसका अनुष्ठान करते हैं इसमें उनका कुछ दोष नहीं होता जैसे कि केवल ज्ञान होनेपर भावीको जानकर ही भगवानने जमालीको दीक्षा दी थी इसी तरह गोशालकके विषयमें भी समझना चाहिये। अतः भगवती शतक १५ की टीका

नोट—भगवती शतक १५ की टीकामें भगवानके दोषका खण्डन किया है चूक जाना नहीं बतलाया है अन्यथा टीकाकार गोशालकको स्वीकार करना अवश्यम्भावी क्यों बतलाते। परन्तु दो हेतुमात्र भी यही बात कही है उसमें भी दोषका खण्डन है किया गया है समर्थन नहीं। क्योंकि एक ही विषयमें टीकाकार दो राय नहीं दे सकते यदि दो राय देवें तो स्थाणुवा पुरुषोवा की तरह उनकी बात संशयात्मक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकती।

का नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी कल्पना करना निर्मूल तथा निराधार समझना चाहिये।

[बोल १६ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २२४ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ की टीकामें लिखी हुई गाथाको लिख कर उसकी साक्षी देते हुए लिखते हैं—

"तथा छद्मस्थ तीर्थंकर दीक्षा लेवे जिण दिन साथे कोई दीक्षा लेवे तेनो ठीक छे पिण तठापछे केवल ज्ञान ऊपना पहिला औरने दीक्षा देवे नहीं ठाणाङ्ग ठाणा ९ अर्थमें एहवी गाथा कही छै। (भ्र० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथाका नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी प्ररूपणा मिथ्या है। प्रथम तो यह गाथा कहीं मूलपाठ या किसी प्रामाणिक टीकामें नहीं पायी जाती इस लिये यह गाथा प्रमाण नहीं मानी जा सकती। दूसरी बात यह है कि इस गाथामें "नय सीसवग्गं दिक्खंति" यह लिखा है अर्थात् "छद्मस्थ तीर्थंकर शिष्य वर्गको दीक्षा नहीं देते।" यहां शिष्य वर्गको दीक्षा देनेका निषेध किया है किसी एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है अतः इस गाथासे भी एक व्यक्ति (गोशालक) को दीक्षा देनेसे भगवानका चूकना नहीं सिद्ध हो सकता। अतः किसी अज्ञात व्यक्तिकी बनाई हुई इस गाथाका नाम लेकर भगवानके चूक जानेका समर्थन करना अज्ञान है।

वास्तवमें छद्मस्थ तीर्थंकर, वीतराग तीर्थंकरके समान ही कल्पातीत होते हैं इस लिये उनके कार्य्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि शास्त्रीय कल्प कल्पस्थित साधुओं पर ही लगता है कल्पातीत पर नहीं। कल्पातीत साधु अपने ज्ञानमें जैसा देखते हैं वैसा ही करते हैं, यह उनका दोष नहीं किन्तु गुण है। ठाणाङ्ग *ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथा, तीर्थ करोंका कल्प नहीं बतलाती है कि* "अमुक अमुक कार्य्य तीर्थ करको कल्पता है और अमुक अमुक नहीं" क्योंकि कल्पातीतका कोई कल्प नहीं होता। तीर्थ कर लोग छद्मस्थ अवस्थामें प्रायः जो कार्य्य करते हैं उसका *वर्णनमात्र इस गाथामें किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर तीर्थ करमें कल्प कायम* करके उन्हें चूकनेकी कल्पना करना मिथ्या है।

(बोल १७ वा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३५ पर लिखते हैं—

"अने कई एक पाखण्डी कहे गोतमने भगवान कह्यो हे गोतम ! बारह वर्ष तेरह पक्षमें मोने किञ्चिन्मात्र पाप लाग्यो नहीं त झूठरा बोलनहार छै" (भ्र० पृ० ३३५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

बारह वर्ष और तेरह पक्षमें दोष नहीं लगनेकी बात भगवान्ने सुधर्मा स्वामीसे कही थी और सुधर्मा स्वामीने यह बात भगवानसे सुन कर जम्बू स्वामीसे आचारांगमें कही है। आचारांग सूत्रके प्रथम श्रुत स्कन्धके नवम अध्ययनमें पहले पहल सुधर्मा स्वामी ने कहा है—

"अहा सुयं वदस्सामि" अर्थात् जैसा मैंने सुना था वैसा ही कहूंगा। इससे ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीके मुखसे उनके छद्मस्थावस्थाका वृत्तान्त सुन कर उसका वर्णन आचारांग सूत्रमें जम्बू स्वामीसे किया है। अतएव आचारांगके आरम्भमें ही यह लिखा है कि "सुयमे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं" अर्थात् 'हे आयुष्मन ! भगवान महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है' इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुनी हुई बातोंका ही आचारांगमें जम्बू स्वामीसे वर्णन किया है अतः सुधर्मा स्वामीकी आचारांगमें कही हुई सब बातें भगवानकी ही कही हुई समझनी चाहिये। उन बातोंको न मानना सुधर्मा स्वामीकी ही नहीं किन्तु साक्षात् तीर्थ करकी बातको न मानना है। आचारांग सूत्रमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कहा है कि—

"एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसिय तेरस वासे। राइं दिवंपि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ"

(आचारांग श्रु० १ अ० ९ उ० २ गाथा ४)

अर्थात् मुनि भगवान् महावीर स्वामी इन स्थानोंपर निवास करते हुए तेरहवें वर्ष पर्यन्त रात दिन संयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहते थे और प्रमाद रहित होकर धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान करते थे।

इस पाठमें तेरहवें वर्ष पर्यन्त भगवानको प्रमाद रहित होकर रहना लिखा है। तथा आगे चलकर एक बार भी प्रमाद करनेका निषेध किया है। वह गाथा यह है—

"अकसाई विगयगेही सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई। छउमत्थोवि परक्कममाणो न पमायं सइं पि कुव्वीत्था"

इस गाथामें छद्मस्थपनेमें भगवान्‌के एक बार भी प्रमाद सेवन करनेका निषेध किया है और यह बात साक्षात् महावीर स्वामीसे सुनकर ही सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कही थी इस लिये इस बातको न मानकर भगवानमें प्रमाद सेवन करनेका दोष लगाना केवलीके वाक्यको न मानने रूप मिथ्यात्वका सेवन करना है परन्तु कोई संसारी जीव केवलीके वाक्यका तिरस्कार करनेमें शंका नहीं करते । आचारांग सूत्रके प्रमाणसे जब कि भगवानके न चूकनेकी बात स्पष्ट सिद्ध होती है तब इसका पक्ष करनेके लिये जीतमलजीने अपने मनसे गढ़ कर यह बतलाया है कि 'गौतम स्वामीसे भगवानने १२ वर्ष और तेरह पक्ष तक पाप नहीं लगनेकी बात नहीं कही है ।

अस्तु, भगवानने गौतम स्वामीसे नहीं कही परन्तु सुधर्मा स्वामीने तो कही है फिर तुम इसे क्यों नहीं मानते ? बात तो सच्ची ही है । सच्ची बातको छिपानेके लिये अपने मनसे उसमें एक मिथ्या बात लगा देना कहांका पाण्डित्य है ?

(बोल १८ समाप्त)

(प्रेरक)

भगवान्‌को छद्मस्थपनेमें दश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त तक भगवान्‌को निद्रा आई थी । निद्रा लेना प्रमादका सेवन करना है फिर आचारांग सूत्रकी गाथामें यह क्यों कहा गया कि भगवानने छद्मस्थपनेमें एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ?

(प्ररूपक)

भगवान महावीर स्वामीको दश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त तक थोड़ी निद्रा भी आई थी पर वह निद्रा द्रव्य निद्रा थी भाव निद्रा नहीं । मिथ्यात्व और अज्ञानको शास्त्रमें भाव निद्रा कहा है । केवल सोने मात्रको नहीं कहा । सोना तो द्रव्य निद्रा है वह शास्त्रीय विधानानुसार लेता हुआ साधु दोषका सेवन करने वाला नहीं होता । यह बात भ्रमविध्वंसनकारको भी मान्य है उन्होंने लिखा है कि 'निद्रा' भाव निद्राथी तो पाप लागे छे अने द्रव्य निद्राथी तो जीव हुवे छे (भ्र० पृ० १८९)

अतः भगवानको द्रव्य निद्रा लेनेसे प्रमादका सेवन करने वाला नहीं कहा जा सकता है । अतः आचारांग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथामें जो भगवानके एक बार भी प्रमाद सेवन नहीं करनेका कथन है वह अक्षरशः सत्य है इसे न मान कर भगवानको चूक जाने या प्रमाद सेवन करनेका दोषारोपण करना मिथ्या दृष्टियोंका काम है ।

(बोल १९ वां)

इति प्रायश्चित्ताधिकारः ।

(अथ लेश्याधिकारः)

(प्रेरक)

लेश्या किसे कहते हैं ?

(प्ररूपक)

लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या। कृष्णादिद्रव्य सांनिध्य जनितो हि आत्मनः परिणाम विशेषे। "कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्परिणामोय आत्मनः। स्फटिकस्ये तत्राय लेश्या शब्द प्रयुज्यते" ॥१॥

अर्थात् जिसके द्वारा आत्माका कर्मोंके साथ सम्बन्ध होता है उसे लेश्या कहते हैं। अथवा कृष्णादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिक मणिकी तरह जो आत्माका परिणाम विशेष होता है उसे लेश्या कहते हैं। वह लेश्या दो प्रकारकी होती है एक द्रव्य लेश्या और दूसरी भाव लेश्या। भाव लेश्या मुख्य रूपसे द्रव्यके संसर्गसे पैदा होने वाला आत्माका परिणाम है और द्रव्य लेश्या मुख्य रूपसे पुद्गलका परिणाम (पर्याय) है।

(प्रेरक)

संयमधारी साधुओंमें कितनी लेश्याये होती हैं।

(प्ररूपक)

संयमधारी साधुओंमें तेज पद्म और शुक्ल ये तीन भाव लेश्याये होती है, कृष्ण नील और कापोत भाव लेश्याये नहीं होतीं। भगवती शतक १ उद्देशा १ में यह लिखा है इस लिये वहांका पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है।

"सलेस्सा जहा ओहिया किण्हलेसस्स नीललेसस्स काउलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं पमत्ता अपमत्ता न भाणियव्वा। तेउलेसस्स पम्हलेसस्स सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धा न भाणियव्वा।"

(भ० श० १ उ० १)

(टीका)

[illegible] 'भीया हि अपार्थ' इत्यादि [illegible]

[illegible] । कृष्णादिद्रव्या [illegible]

गत्त तत्र "किण्हलेस्सस" इत्यादि कृष्णलेश्यस्य नीललेश्यस्य कापोत लेश्यस्यच जीव राशेर्दण्डको यथौधिकजीवदण्डकस्तथाऽध्येतव्य प्रमत्ता प्रमत्त विशेषण वर्ज्यं कृष्णादि वृद्धि भावलेश्यासु संयतत्वंनास्ति यच्चोच्यते पुव्वं पडिवन्नाओ पुण अन्नेयरेउ लेस्साए' त्ति तद्द्रव्य लेश्यां प्रतीत्येतिमंतव्यम्। ततस्तासु प्रमत्ताद्यभाव । तत्रसूत्रोच्चारण मेवम्। "किण्हलेस्साण भन्ते ! जीवा किं आयारंभा परारंभा तदुभयारंभा अणारंभा ?। गोयमा ! आयारंभावि जावणो अणारंभा, सेकेणट्ठेण भन्ते ! एव वुच्चइ ? गोयमा ! अविरयं पडुच्च" एवं नील कापोतलेश्या दण्डकावपीति। तथा तेजोलेश्या दे आवशादण्डका यथौधिक जीवास्तथा वाच्य नवरं तेषु सिद्धावाच्या सिद्धानामल इयत्वात् तच्चैवं "तेउलेस्साण भन्ते ! जीवा किं आयारंभा ४ गोयमा ! अत्थेगइया आयारंभावि जावणो अनारंभा। अत्थेगइया नोआयारंभा जाव अणारंभा। सेकेणट्ठेण भन्ते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! दुविहा तेउलेस्सा पन्नत्ता संजयाए असंजयाए"

इस टीकाके अनुसार मूल पाठका अर्थ यह है—

अर्थात् जीव दो प्रकारका होता है एक सलेश्य और दूसरा अलेश्य। सलेश्य जीवोंका वर्णन सामान्य जीवोंका वर्णनके समान जानना चाहिये। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवोंका वर्णन भी समुच्चय जीवोंका वर्णनके समान ही जानना चाहिये परन्तु इनमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते क्योंकि कृष्ण नील और कापोत भाव लेश्याओंमें संयतपना (साधुपना) नहीं होता। कहीं कहीं साधुओं में इन लेश्याओंका भी उल्लेख है वह द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये भावलेश्याकी अपेक्षासे नहीं अत कृष्ण नील और कापोत इन तीन भाव लेश्याओंमें प्रमत्त और अप्रमत्त रूप दो भेद नहीं करने चाहिये। कृष्णादि लेश्याओंमें सूत्रका उच्चारण इस प्रकार करना चाहिये। "कण्हलेस्साण भन्ते ! जीवा" इत्यादि।

अर्थात् हे भगवन् ! कृष्ण लेश्यावाले जीव आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं या अनारंभी होते हैं ?

(उत्तर) हे गौतम ! कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते।

*(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले जीव अनारंभी नहीं होते किन्तु आत्मा-*रंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गौतम ! कृष्णलेश्या वाले जीव, अविरतिकी अपेक्षासे आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते। इसी तरह नील और कापोतलेश्या वाले जीवोंको भी समझना चाहिये।

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवोंको समुच्चय जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु इनमें सिद्ध जीवोंको न कहना चाहिये क्योंकि सिद्ध जीवोंमें कोई लेश्या नहीं होती।

तेजोलेश्याके विषयमें सूत्रका पाठ इस प्रकार है —

"तेउलेस्साण भन्ते! जीवा किं आयारम्भावि जाव अणारम्भा? गोयमा! अत्थेगइया आयार म्भावि जाव णो अणार म्भा अत्थेगइया णो आयार म्भा जाव अणार म्भा। सेकेणट्ठेण भन्ते! एवं वुच्चइ? गोयमा! दुविहा तेउलेस्सा पण्णत्ता संजयाए असंजयाए"

(भ० सू०)

अर्थ.—

हे भगवन्! तेजोलेश्या वाले जीव, आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी होते हैं या अनारंभी होते हैं?

(उ०) हे गौतम! तेजोलेश्या वाले कोई कोई जीव, आत्मारम्भी परारंभी और तदुभयारम्भी होते हैं अनारम्भी नहीं होते और कोई कोई अनारंभी होते हैं आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी नहीं होते।

हे भगवन्! तेजोलेश्या वाले जीवों में यह दो भेद क्यों होते हैं?

हे गौतम! तेजोलेश्यावाले जीव दो तरहके होते हैं एक संयत और दूसरे असंयत। संयत भी दो प्रकार के होते हैं प्रमादी और अप्रमादी। अप्रमादी आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी नहीं होते अनारंभी होते हैं परन्तु प्रमादी अशुभ योगी साधु, अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते।

यह भगवतीके मूलपाठ और टीकाका अर्थ है।

इस पाठमें कहा है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्या वाले जीवोंको औधिक दण्डकके जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु विशेष इतना है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते।

इस मूलपाठको बातका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—

"कृष्णादिषुहि अप्रशस्तभाव लेश्यासु संयतत्वं नास्ति"

अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत, इन भाव लेश्याओंमें साधुपना नहीं होता इसलिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में प्रमादी और अप्रमादी, ये दो भेद वर्जित किये गये हैं।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका साफ साफ निषेध किया है इसलिये साधुओंमें तेज पद्म और और शुक्ल, ये तीन भाव लेश्या ही होती हैं कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्या नहीं अतः साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका सद्भाव बताना उक्त मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४२ पर लिखते हैं—

"अथ अठे ओघिक पाठ कह्यो—तिणमें संयतिरा भेद प्रमादी अप्रमादी किया। अने कृष्ण नील कापोत लेश्याने ओघिकनो पाठ कह्यो तिम कहिवो पिण एतलो विशेष संयतिरा प्रमादी अप्रमादी ए दो भेद न करवा ते किम् प्रमत्तमें कृष्णादिक तीन लेश्या हुए अने अप्रमत्तमें न हुवे ते माटे दो भेद वर्ज्या" (भ्र० पृ० २४२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीजीके उक्त मूल पाठमें "पमत्ता पमत्तान भाणियव्वा" यह जो वाक्य आया है उसका टीकानुसार यही अर्थ है कि कृष्ण नील और कापोत, इन तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधु नहीं होते किन्तु साधुसे भिन्न जीव इनमें होते हैं। अतः कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें प्रमादी साधुका सद्भाव बताना मिथ्या है।

यदि शास्त्रकारको उक्त तीन भाव लेश्याओंमें केवल अप्रमादीको ही वर्जित करना इष्ट होता तो वह "पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा" ऐसा नहीं लिख कर "अपमत्ता नभाणियव्वा" यही लिख देते। इस प्रकार लिखनेसे कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादीका होना और अप्रमादीका न होना साफ साफ मालूम हो जाता परन्तु शास्त्रकारने ऐसा नहीं लिख कर "पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा" यह लिखा है इसका तात्पर्य्य यही है कि कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनो ही प्रकारके संयत नहीं होते और टीकाकारने भी मूल पाठका यही अर्थ स्पष्टरूपसे बतलाया है तथा इस पाठका टब्बा अर्थ भी कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकारके संयतोंका निषेध करता है वह टब्बा अर्थ यह है—

"एतलो विशेष प्रमत्त अप्रमत्त वर्जित कहिवा। कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याने विषे संयतपणो न थी"

इस टब्बा अर्थमें साफ साफ लिखा है कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें साधुपना नहीं होता इसलिये इन लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकारके संयत वर्जित किये गये हैं तथापि उक्त मूलपाठ, उसकी टीका तथा टब्बा अर्थ, इन तीनोंको नहीं मान कर कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंमें साधुपनाका स्थापन करना, मिथ्यात्वका परिणाम है।

जिस प्रकार भगवतीके उक्त मूलपाठ, उसकी टीका और टब्बा अर्थमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ में कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें सराग, वीतराग, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है। वह पाठ यह है —

"सलेस्साण भन्ते! नेरइया सव्वे समाहारगा? ओहियाणं सलेस्साणं सुक्कलेस्साणं एएसिणं तिण्हं तिण्हं एक्को गमो कण्हलेस्साण नीललेस्साण वि एक्को गमो। नवरं वेदणाए मायी मिच्छदिट्ठी उववन्नगाय अमायिसम्मद्दिट्ठी उववन्नगाय भाणियव्वा मणुस्सा किरियासु सराग वीयरागपमत्ता पमत्ता न भाणियव्वा। काउलेस्साणवि एसेव गमो नवरं नेरइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा। तेउलेस्सा पम्हलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भाणियव्वा नवरं मणुस्सा सराग वीयरागा नभाणियव्वा"

(भ० श० १ उ० २)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन्! सलेशी सभी नारकि [illegible] क्या एक समान ही आहार है?

(उत्तर) औधिक सलेशी और शुक्ल लेशी इन तीनोंके लिये एक समान ही पाठ कहना चाहिये। कृष्ण लेशी और नील लेशी जीवोंके लिये भी एक समान ही पाठ कहना चाहिये परन्तु वेदनाके विषयमें विशेष यह है कि — मायी मिथ्या दृष्टि [illegible] कहना चाहिये [illegible] [illegible] [illegible] मनुष्योंके [illegible] क्रियाके अन्दर यद्यपि औधिक दण्डकमें [illegible] प्रमादी और अप्रमादी कहे गये हैं तथापि कृष्ण और नील लेश्याके दण्डकमें इन्हें नहीं कहना चाहिये। कापोत लेश्याके दण्डकमें भी [illegible] दण्डकके समान ही कहना चाहिये [illegible] विशेष यह है कि [illegible] [illegible] नारकि जीवोंका औधिक दण्डकके [illegible] कहना चाहिये [illegible] [illegible] औधिक दण्डक [illegible] [illegible]

चाहिये केवल इतना विशेष है कि इसमें सरागी और वीतरागी न कहने चाहिये । यह उक्त मूल पाठका अर्थ है ।

इसमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओंमें सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके संयत (साधु) वर्जित किये गये हैं इस लिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएं साधुओंमें नहीं होती यह स्पष्ट सिद्ध होता है अत जो लोग संयतियोंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करते हैं उन्हें उत्सूत्रवादी जानना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २४६ पर इसी पाठको लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"सरागी वीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद कृष्ण नील संयति मनुष्यरा न हुवे वीतरागी अने अप्रमादीमें कृष्ण नील लेश्या न हुवे ते माटे दो दो भेद न हुवे । सरागीमें तो कृष्ण नील लेश्या हुवे पर वीतरागीमें न हुवे ते माटे संयतिरा दो भेद सरागी वीतरागी न करवा । अने प्रमादीमें तो कृष्ण नील लेश्या हुवे पर अप्रमादीमें न हुवे ते माटे सरागीरा दो भेद प्रमादी अप्रमादी न करवा । इण न्याय कृष्ण नील लेशी संयतिरा सरागी वीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद करवा वर्ज्या पर संयति वर्ज्यो नहीं संयतिमें कृष्ण नील लेश्या छै । अने संयतिमें कृष्णादिक न हुवे तो इमि कहिता 'संजया न भाणियव्वा" इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयति पुरुष नहीं होते क्योंकि अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम नहीं होता इस लिये भगवतीके उक्त पाठमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके संयतियोंका होना निषेध किया है, केवल संयतियोंके भेदका ही निषेध नहीं किया है यहांके पाठका भाव यह नहीं है कि प्रमादी और सरागीमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्यायें पायी जाती हैं और अप्रमादी तथा वीतरागीमें नहीं पायी जाती क्योंकि इसी मूल पाठमें साफ बतलाया कहा है कि "तज पद्म लेश्याओंमें सरागी और वीतरागी दोनों ही प्रकारक साधु नहीं होते' इसका तात्पर्य यही है कि सरागी

सागीक भेदको ही वर्जित करना चाहिये परन्तु सरागी साधुके अन्दर तेजो लेश्या और पद्म लेश्याके होनेका नहीं ऐसी दशामें जैसे वे लोग कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें प्रमादी और सरागीका सद्भाव मानते हैं उसी तरह तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें अप्रमादि गुण स्थानवाले सरागियोंका भी वर्जन नहीं मान लेते ? अत जैसे अप्रमादि गुण स्थान वाले संयतियोंमें वे तेजो पद्म लेश्या नहीं मानते उसी तरह संयतियोंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्या भी नहीं माननी चाहिये ।

यदि कोई कहे कि कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयति मात्रका निषेध करना इष्ट था तो शास्त्रकारने पदलाघवार्थ "संजया नभाणियव्वा" यही क्यों नहीं लिख दिया ? ऐसा लिखनेसे संयति मात्रका, कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें स्पष्ट निषेध हो जाता और पदका भी लाघव होता तो इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकार वैयाकरणकी तरह पद लाघवके पक्षपाती नहीं थे जहां केवल 'पाणाणुकम्पयाए' इतना कह देनेसे ही काम चल सकता था, वहां उन्होंने "पाणाणुकम्पयाए भूयानुकम्पयाए जीवानुकम्पयाए सत्तानुकम्पयाए' इत्यादि चार पदोंका प्रयोग किया है । उसी तरह यहां भी "संजया नभाणियव्वा" यह नहीं लिखकर "पमत्तापमत्ता सरागवीयरागा नभाणियव्वा" यह लिखा है अत इस पाठका टीका विरुद्ध और सम्प्रदाय विरुद्ध अर्थ करके साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना मिथ्या समझना चाहिये ।

[बोल ३]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार पन्नावणा सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहा पिण कृष्ण लेशी मनुष्यरा तीन भेद कह्या छै संयति असंयति संयता संयति ते न्याय संयतिमें पिण कृष्णादिक हुव"

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

पन्नावणा सूत्रके मूल पाठका नाम लेकर संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लश्याओंका स्थापन करना मिथ्या है । भगवती सूत्र अग है और पन्नावणा सूत्र उपांग है इस लिये भगवती सूत्रसे विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयतियोंके अन्दर कृष्णादिक तीन अप्रशस्त लेश्याओंका सद्भाव नहीं कहा जा सकता । अगोंमें कही हुई बातका उपांग

सूत्र समर्थन करते हैं खण्डन नहीं करते। जब कि भगवती सूत्रके मूल पाठमें और उसकी टीकामें संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंके होनेका निषेध कर दिया है तो उसके विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका सद्भाव कैसे कहा जा सकता है ? अब पाठकोंके ज्ञानार्थ पन्नावणा सूत्रका वह पाठ लिख कर उसका अर्थ कर दिया जाता है।

वह पाठ यह है —

"कण्हलेस्साणं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहारा सम सरीरा सव्वेस्सुस्सा ? गोयमा ! जहा ओहिया णवर णेरइया वेदणाए मायी मिच्छदिट्ठी उववन्नगाय अमायी सम्मदिट्ठी उववन्न गाए भाणियव्वा सेसंतहेव जहा ओहियाणं असुर कुमारा जाव वाणमंतरा एते जहा ओहिया णवर मणुस्साणं किरियाहिं विसेसो जाव तत्थणं जेते सम्मदिट्ठी तेतिविहा पन्नत्ता संजया असंजया संजया संजया जहा ओहियाणं"

(पन्नावणासूत्र पद १७)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले नारकी क्या सभी समान आहार वाले और समान शरीर वाले होते हैं ?

(उत्तर) हे गौतम ! जैसा औधिक दण्डकमें कहा गया है वैसा इसमें भी कहना चाहिये किन्तु इतना विशेष है कि जो मायी मिथ्यादृष्टि मर कर नरकमें उत्पन्न होते हैं वे महान् वेदना वाले होते हैं और जो अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं वे अल्प वेदना वाले होते हैं शेष सभी बातें औधिक दण्डकके समान समझनी चाहिये। असुर कुमार और वाण व्यन्तरोंको भी औधिक दण्डकके समान ही समझनी चाहिये। मनुष्योंमें यह विशेष है—सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिविध होते हैं— (१) संयत (२) असंयत (३) और संयता संयत। शेष सब औधिक दण्डकके समान समझना चाहिये।

यह इस पाठका अर्थ है।

इस पाठमें "जहा ओहियाणं" कह कर औधिक दण्डकके समान ही सारी बातें देखनेको कहा है। औधिक दण्डकमें संयतियों के [illegible] प्रमादी, अप्र-[illegible] और [illegible]। [illegible]

समझनी चाहिये । परन्तु कर्म ग्रन्थ आदिकोंमें छट्ठे गुणस्थान वाले प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी इन चारों प्रकारके साधुओंको पृथक् पृथक् अलग किया गया है उनमें कृष्णलेश्याका सद्भाव नहीं कहा है। क्योंकि अप्रमादी और वीतरागमें भी कृष्णलेश्या मानी होती तो वहां व कौनसे गुणस्थानमें समुच्चय रूपसे अन्य संयतिक प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी के भेद ही भेद कर गये हैं इनमें यदि इस पाठमें कृष्ण लेश्याका सद्भाव माना जाय तो प्रमादी और सरागीकी तरह अप्रमादी और वीतरागीमें भी कृष्णलेश्या सिद्ध होगी परन्तु अप्रमादी और वीतरागीमें कृष्णलेश्याका सद्भाव मानना भ्रमविध्वंसनकारको भी इष्ट नहीं है अतः पन्नवणा सूत्र व इस पाठमें भी भगवती सूत्र के पूर्वोक्त पाठकी तरह कृष्णलेश्यामें चारों प्रकार संयतियोंका निषेध ही किया है परन्तु सरागी और प्रमादीको स्थापन नहीं किया है। इसलिये इस पाठका नाम लेकर साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २२८ के ऊपर भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ अठे कषायमें छद्मस्थपणे कषाय कुशील नियंठो कह्यो छै तिणसूं भगवान्‌में कषाय कुशील नियंठो हुन्तो अने कषाय कुशील नियंठे छः लेश्या कही छै" आगे चल कर लिखते हैं "ते न्याय भगवान्‌में छः लेश्या हुवे (भ्र० पृ० २२८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में कषाय कुशीलमें समुच्चय छः लेश्या कही हैं परन्तु वहां यह निर्णय नहीं किया है कि इन छः लेश्याओंमें कौन कौन द्रव्य रूप हैं और कौन कौन भाव रूप हैं। अब देखना यह है कि कषाय कुशीलमें जो छः लेश्याएं कही गयी हैं व द्रव्य रूप हैं या भाव रूप हैं ?

इसका निर्णय भगवती शतक १ उद्देशा १ के मूलपाठ और उसकी टीकामें टीकाकारने कर दिया है वहां टीकाकारने कहा है कि—"कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें साधुपना नहीं होता इसलिये इन लेश्याओंमें साधुको वर्जित किया है जहां कहीं

सयतिओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका कथन है वहां द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये भावलेश्याकी अपेक्षासे नहीं।"

यह टीका मूलपाठके साथ पहले लिखी जा चुकी है टीकाकारकी इस उक्तिसे और वहांके मूलपाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलमें छ द्रव्यलेश्या कही गई हैं भाव लेश्या नहीं अतः भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठका नाम लेकर कषाय कुशील में कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कषाय कुशील निग्रथ मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है वह पाठ यह है—

"कसाय कुसीले पुच्छा गोयमा ! नोपडिसेवए होज्जा एवं नियंठेऽवि षउसेऽवि"

(भग० श० २५ । उ० ६)

अर्थ —

हे भगवन् ! कषाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गौतम ! कषाय कुशील मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता इसी तरह निग्रथ और स्नातक को भी समझना चाहिये।

यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इस पाठमें स्नातक और निग्रथकी तरह कषाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कषाय कुशील निग्रथमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याएं नहीं होतीं क्या कि जिसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्या होती हैं वह अवश्य ही दोषका सेवन करता है कषाय कुशील दोषका सेवन नहीं करता इसलिये उसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याएं नहीं होतीं अतः कषाय कुशीलमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंका स्थापन करना भगवती सूत्रके मूलपाठसे विरुद्ध समझना चाहिये।

बोल छट्ठा समाप्त

(प्रेरक)

कृष्णलेश्याका क्या लक्षण है और वह संयति पुरुषोंमें क्यों नहीं होती यह सप्रमाण बतलाइये ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रमें कृष्ण लेश्याका लक्षण जिस प्रकार बतलाया है वह पाठ यह है—

"पञ्चासवप्पमत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरओय। तीव्वारंभ परिणओ खुद्दो साहसिओनरो। निद्धंधस परिणामो निसंसो अजि इन्दिओ। एय जोग समाउत्तो कण्हलेसा तु परिणमे।"

(उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा २१ । २२)

(टीका)

पञ्चाश्रवा' हिंसादय तै प्रमत्त प्रमादवान पञ्चाश्रव प्रमत्त' पाठान्तरत पञ्चाश्रव प्रवृत्तो बाऽत्र त्रिभि प्रस्तावा मनोवाक्कायै रगुप्तोऽनियन्त्रितो मनोगुप्त्यादि रहित इत्यर्थ तथा षट् सु पृथिवीकायादिषु अविरत अनिवृत्तस्तदुपमर्दकत्वादिनिवृत्यते। अयचाशीघ्रारंभोऽपिस्यादतआह तीव्रा उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतोवा आरंभा सर्व सावद्य व्यापारास्तत्परिणत तत्प्रवृत्त्या तदात्मतां गत तथा क्षुद्र सर्वस्यैवा हितैषी का पैण्य युक्तोवा सहसा अपर्य्यालोच्य गुण दोषान् प्रवर्तत इति साहसिक चौर्यादि कृदिति योऽयं नर उपलक्षणत्वा स्त्र्यादिर्वा "निद्धंधस' ति अत्यन्त मैहिकामुष्मि कापायशंकाविकलोऽत्यन्तं जन्तुबाधानपेक्षोवापरिणामोऽध्यवसायोवा यस्यसतथा। न संसो निस्तृंशो जीवान् विहिंसन् मनागपि नशंकते निःशंकोवा परप्रशंसा रहित अजितेन्द्रिय अनिगृहीतेन्द्रिय। अन्येतु पूर्व पूर्वसूत्रोत्तरार्धस्थाने इदमभिधीयते लक्ष्ये देति उपसंहारमाह एतेच अनंतरोक्ता योगाश्च मनोवाक्काय व्यापारा एतद्योगा पञ्चाश्रव प्रमत्तत्वादय स्तै समिति भृश माडिति अभिव्याप्त्या युक्त अन्वित एतद्योग समायुक्त कृष्णलेश्यायां अवधारणे कृष्ण लेश्या मेवपरिणमेत् तद् द्रव्यसांनिध्यतन तदनुविध द्रव्य संपर्कात् स्फटिक वत्तद् रूप तां भजन् तद्रूपताभजन् उक्त हि "कृष्णादि द्रव्यसान्निध्य त्परिणामोय आत्मन स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते

अर्थात् हिंसा आदि पांच आस्रवोंमें प्रमत्त यानी मस्त रहने वाला या प्रवृत्त रहने वाला अतएव मन वचन और कायासे अगुप्त यानी मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियोंसे रहित तथा पृथिवी आदि छः कायके जीवोंके उपमर्दसे नहीं हटा हुआ स्वरूप और

अध्यवसायसे तीव्र यानी उत्कट सावद्य व्यापारमें प्रवृत्त होकर तत्स्वरूपताको प्राप्त, क्षुद्र सभीका अहित करने वाला अथवा कृपणतासे युक्त बिना विचारे चोरी आदि बुरे कर्मोंमें झटपट प्रवृत्त हो जाने वाला इस लोक और परलोकके बिगडनेकी थोडी भी शंका नहीं रखने वाला प्राणियोंकी हिंसादि रूप बाधासे अत्यन्त निरपेक्ष परिणाम वाला, जीवहिंसा करनेमें थोडी भी शंका नहीं रखने वाला अथवा दूसरकी प्रशंसासे रहित अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पंचाश्रव प्रमत्तत्व आदि योगोंसे अत्यन्त युक्त पुरुष कृष्ण लेश्याके परिणामी होते हैं जैसे कृष्णादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिक मणि तद्रूप (कृष्ण रूप) हो जाता है उसी तरह उक्त जीव भी कृष्ण लेश्याका परिणामी होता है कहा भी है कृष्णादि द्रव्य संसर्गसे स्फटिककी तरह जो आत्माका कृष्णादिरूप परिणाम होता है उसीमें लेश्या शब्दका प्रयोग होता है। यह उक्त गाथाओंका टीकानुसार अर्थ है।

इन गाथाओंमें जो कृष्ण लेश्याके लक्षण कहे गये हैं उनमेंसे एक भी साधुमें नहीं पाया जाता। कृष्ण लेशी जीव, हिंसा आदि पांच आस्रवोंमें प्रमत्त (मग्न) व प्रवृत्त रहने वाला कहा गया है परन्तु साधु आस्रवोंमें मग्न नहीं रहता किन्तु वह पंच आस्रवका त्यागी होता है इस लिये साधुओंमें कृष्ण लेश्याका लक्षण नहीं पाता। यदि कोई कहे कि "प्रमादी साधु भी आरंभी कहा गया है और आरंभ करना आस्रवका सेवन करना है इस लिए यह लक्षण प्रमादी साधुमें घटता है" तो उसे कहना चाहिये कि इस गाथामें सामान्य आरंभी पुरुषका ग्रहण नहीं होता किन्तु विशिष्ट रूपसे जो हिंसा आदि आस्रवोंमें अत्यन्त मग्न रहता है उसीका ग्रहण है अतएव इस गाथामें कहा है कि "तीव्रारंभ परिणतो" इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है—

"[illegible] तीव्रा उत्कटाः स्वरूपतोऽध्यवसायतश्च आरम्भाः सावद्यव्यापारास्तैः परिणतः तत्स्वरूपतां गतः"

अर्थात् सामान्य आरम्भ करने वाला पुरुष भी पांच आस्रवोंमें प्रवृत्त, और [illegible] कहा जा सकता है परन्तु [illegible] "तीव्रारम्भ परिणतो" ऐसा पद दिया गया है [illegible] और [illegible] इन बातोंसे स्पष्ट है और जो [illegible] गया है उसीका इस गाथामें ग्रहण है और [illegible]

[illegible]

[illegible] प्रमादी साधु [illegible]

[illegible]

का परिणामी नहीं है। जो मनो गुप्ति आदि तीन गुप्तियोंसे रहित है उसे यहां कृष्ण लेश्याका परिणामी कहा है साधु मनोगुप्ति आदिसे युक्त होता है इसलिये वह कृष्णलेश्या का परिणामी नहीं हो सकता।

अजितेन्द्रिय और चोरी आदिमें प्रवृत्त रहना यहां कृष्णलेश्याका लक्षण कहा है परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं अतः इस पाठमें कहा हुआ कृष्णलेश्याका लक्षण साधुमें एक भी नहीं मिलता अतः संयति पुरुषोंमें और विशेष कर कषाय कुशील में कृष्णलेश्या का सद्भाव कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ७ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३८ पर लिखते हैं—

"उत्तराध्ययन अध्ययन ३४ गाथा २१ पञ्चासवप्पमत्तो इतिवचनात् पञ्चास्रवमें प्रवर्ते ते कृष्णलेश्याना लक्षण कह्या अने भगवान् शीतल तेजो लेश्या लब्धिफोडी तिहां छद्मस्थी पञ्च क्रिया कही ते माटे ए कृष्णलेश्याना अंश जाणवो'

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा २१ में पांच आस्रवमें प्रवृत्त रहना कृष्णलेश्या का लक्षण कहा है परन्तु जो पुरुष सामान्य रूपसे कभी कभी प्रमाद वश मंद आरम्भ करता है वह भी पांच आस्रवमें प्रवृत्त कहा जा सकता है अतः उसमें भी कृष्णलेश्याका लक्षण न चला जाय इसलिये उक्त गाथामें "तीव्रारंभ परिणयो" यह कृष्णलेश्यी पुरुषका विशेषण लगाया है। इस विशेषणको लगा कर जो पुरुष पांच आस्रवोंमें तीव्र रूपसे प्रवृत्त रहता है जो तीव्र आरम्भ करता है उसीको कृष्णलेश्याका परिणामी कहा है जो तीव्र आरम्भ नहीं करता उसको नहीं अतएव इस विशेषण का साफल्य बतलाते हुए टीकाकार ने लिखा है कि—"अर्यचा तीव्रारम्भोऽपिस्यादतआह"

अर्थात् पांच आस्रवोंमें प्रवृत्त होना मन वचन कायसे गुप्त नहीं रहना, और पृथिवी काय आदिका उपमर्द करना, ये सब सामान्य आरम्भ करने वाले पुरुषमें भी हो सकते हैं परन्तु सामान्य आरम्भ करने वाले कृष्णलेश्याके परिणामी नहीं होते इसलिये 'तीव्वारम्भ परिणयो' यह कृष्णलेश्यीका विशेषण लगाया है। इसलिये जो उत्कृष्ट हिंसा आदि का आरम्भ करता है वही कृष्णलेश्याका परिणामी है सामान्य आरम्भ करनेवाला नहीं।

जो पुरुष सामान्य आरम्भ करने वाला है वह चाहे गृहस्थ हो तो भी उसमें कृष्णलेश्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता फिर साधु तो गृहस्थकी अपेक्षा बहुत ही शुद्ध परिणामी होता है उसमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव तो सुतरां असम्भव है।

इस गाथामें बताये हुए कृष्णलेश्याके लक्षण जब कि सामान्य साधुओंमें भी नहीं पाये जाते तब फिर भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो कहना ही क्या है। वह तो अनुत्तर चारित्री मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाने वाले कषाय कुशील थे उनमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव कैसे हो सकता है ?

अब उत्तराध्ययन सूत्रके इस गाथाका पहिला चरण लिख कर भगवान महावीर स्वामी में कृष्णलेश्या का लक्षण घटाना मूर्ख जनताको धोखा देना है।

इस गाथाके बाद नीललेश्याका लक्षण बतानेके लिये उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है —

"इस्सा अमरिस अतवो अविज्ज माया अहीरिया"

अर्थात् ईर्ष्या यानी दूसरेके गुणको नहीं सहना, अमर्ष यानी अत्यन्त क्रोध करना, तप नहीं करना, कुशास्त्ररूप अविद्या, माया करना, और निर्लज्जता, ये नीललेश्याके लक्षण हैं।

इस गाथामें माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है और दशमगुण स्थान पर्यन्त माया होती है। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठमें अप्रमादी साधुको माया प्रत्यया क्रिया कही गई है वह पाठ यह है—

"तत्थणं जेते अप्पमत्त संजया तेसिणं एगा माया वत्तिया किरिया कज्जइ"

अर्थात् अप्रमादी साधुमें एक माया प्रत्यया क्रिया होती है।

यहां अप्रमादी साधुमें माया प्रत्यया क्रियाका होना लिखा है और माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है फिर अप्रमादी साधुमें जीतमलजी नीललेश्या क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि "उत्तराध्ययन सूत्रकी उक्त गाथामें विशिष्ट मायाका ग्रहण होता है सामान्य का नहीं इसलिये विशिष्ट माया करना नील लेश्याका लक्षण है सामान्य माया करना नहीं। अप्रमादी साधुमें विशिष्ट माया नहीं है तो इसलिये उनमें नीललेश्या नहीं है" तो इसी तरह विशिष्ट आरम्भ करना कृष्णलेश्याका लक्षण है सामान्य आरम्भ करना नहीं इसलिये भगवान् महावीर स्वामीमें कृष्ण लेश्या नहीं होती क्योंकि वे विशिष्ट आरम्भ नहीं करते हैं।

यदि कोई सामान्य आरम्भको कृष्णलेश्याका लक्षण मान कर संयतियोंमें कृष्ण लेश्याका स्थापन करे तो फिर सामान्य मायाको नील लेश्याका लक्षण मान कर अप्रमादी साधुमें नील लेश्या भी उसे माननी पड़ेगी परन्तु यदि सामान्य माया नील लेश्या का लक्षण नहीं है तो उसी तरह सामान्य आरम्भ करना भी कृष्ण लेश्या का लक्षण नहीं है अतः साधुओंमें भाव रूप कृष्ण लेश्या का स्थापन करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये ।

शीतल लेश्याके द्वारा जो भगवान्‌ने गोशालक की प्राणरक्षा की थी उसमें भगवान्‌को पाप क्रिया लगनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है क्योंकि शीतल लेश्याके प्रयोग करनेमें उत्कृष्ट पाप क्रिया नहीं होती यह विस्तार के साथ लब्धि प्रकरणमें कहा जा चुका है अतः लब्धि का नाम लेकर भगवान्‌में कृष्ण लेश्याका अंश कायम करना सर्वथा मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि "कृष्ण लेश्या हुवे बिना लब्धिका प्रयोग नहीं किया जाता इस लिये भगवान्‌में कृष्ण लेश्या अवश्य थी" तो उसे कहना चाहिये कि पुलाक निर्ग्रन्थ, जिस समय पुलाक लब्धिका प्रयोग करता है उसी समय उसमें पुलाक नियण्ठा माना गया है । जीतमलजीने भी भिक्खुयश रसायनमें लिखा है कि—

"पुलाक नियंठो पीछाणए लब्धिफोड्यां थको जिण जाणए । स्थिति अन्त मुंहूर्त्त थायर लब्धिनी स्थितिनो अधिकायए ।

विरह उत्कृष्ट असंख्येज्ज वासए पड़तो अवश्य प्रकट विमासए । पांचे चारित्र गुण स्वीकारए तिणमें चहुन जोग विचारए'

परन्तु पुलाक निर्ग्रन्थमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही कही गई हैं कृष्णादि नहीं तथा बकुश और प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष लगाते हैं परन्तु उनमें लेश्या विशुद्ध ही कही गयी हैं इसलिये कृष्णलेश्याके हुए बिना लब्धिका प्रयोग नहीं होता यह कथन अज्ञान मूलक है ।

[बोल ८ वा समाप्त]

(प्रेरक)

पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही होती है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ का मूल पाठ इसमें प्रमाण है। वह पाठ यह है —

"पुलाएणं भन्ते ! किं सलेस्से होज्जा अलेस्से होज्जा ? गोयमा ! सलेस्से होज्जा णो अलेस्से होज्जा। जइ सलेस्से होज्जा सेण भन्ते ! कतिसुलेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! तीसु विसुद्ध लेस्सासु होज्जा तंजहा—तेउलेस्साए पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए, एव वउसेवि एव पडिसेवणा कुसोलेवि"

(भगवती श० २५ उ० ६)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! पुलाक निग्रन्थ, सलेशी होता है या अलेशी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! पुलाक निग्रन्थ सलेशी होता है अलेशी नहीं होता।

(प्रश्न) हे भगवन् ! यदि सलेशी होता है तो वह कितनी लेश्याओंमें होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! तीन विशुद्ध लेश्याओं में होता है तेजो लेश्या में, पद्म लेश्या में, और शुक्ल लेश्या में। इसी तरह वकुश और प्रतिसेवनाकुशील तीन विशुद्ध लेश्याओं में ही होते हैं।

यहां पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भाव लेश्यायें कही गयी हैं कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्या नहीं तथापि पुलाक निग्रन्थ लब्धिका प्रयोग करता है और वकुश तथा प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाते हैं इसलिये कृष्ण लेश्या के विना लब्धिका प्रयोग नहीं होता यह कहना शास्त्र नहीं जानने का फल है।

(प्रेरक)

पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील दोषक प्रतिसेवी होते हैं इस में क्या प्रमाण है ?

पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशील दोषक प्रतिसेवी होते हैं इस विषयमें भगवती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है वह पाठ यह है —

"पुलाएणं भन्ते ! किं पडिसेवए होज्जा अपडिसेवए होज्जा ? पडिसेवए होज्जा नो अपडिसेवए होज्जा। जइपडिसेवए होज्जा किं मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा ? गोयमा ! मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा। मूल गुण

पडिसेवमाणे पञ्चण्ह अणासवाणं अण्णयरं पडिसेवएज्जा उत्तर गुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा। बउसेण पुच्छा? पडिसेवए होज्जाणो अपडिसेवए होज्जा। जइ पडिसेवए होज्जा किं मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा। गोयमा! नो मूलगुण पडिसेवए होज्जा उत्तरगुण पडिसेवए होज्जा उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा। पडिसेवणा कुशील जहा पुलाए"

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थ—

हे भगवन्! पुलाक नियंठ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है।

(उत्तर) हे गौतम! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता।

(प्रश्न) यदि प्रतिसेवी होता है तो क्या वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है?

(उत्तर) हे गौतम! मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका ही प्रतिसेवी होता है जब वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है तब पञ्च महाव्रतोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है और जब उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दश विध प्रत्याख्यानोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है।

(प्रश्न) हे भगवन्! बकुश नियंठ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है?

(उत्तर) हे गौतम! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता?

(प्रश्न) हे भगवन्! वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है?

(उत्तर) हे गौतम! बकुश नियंठ मूल गुण का नहीं उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है। जब वह उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दशविध प्रत्याख्यानोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है। प्रतिसेवना कुशील पुलाककी तरह मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी होता है।

यहां पुलाक और प्रतिसेवना कुशीलको मूलगुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी कहा है तथा बकुशको उत्तर गुणका प्रतिसेवी कहा है तथापि इनमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही पाई जाती हैं इस लिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याके बिना दोष का सेवन नहीं होता यह कहना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल ९ वां समाप्त)

"कषाय कुसोले पुच्छा ? गोयमा ! अविराहण पडुच इन्द ताएवा उववज्जेज्जा जाव अहमिन्दताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच अन्नयरेसु उववज्जेज्जा नियठे पुच्छा ? गोयमा ! अविराहण पडुच णोइन्दताए उववज्जेज्जा जावणो लोग पालताए उववज्जेज्जा अहमिन्दताए उववज्जेज्जा, विराहण पडुच अण्णयरेसु उववज्जेज्जा"

(भगवती शतक २५ उ० ६)

अर्थ —

हे भगवन् ! कषाय कुशीलके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) हे गोतम ! अविराधक कषाय कुशील इन्द्रपन लेकर यावत् अहमिन्द्रमें उत्पन्न होता है और विराधक कषाय कुशील भुवनपत्यादिकोंमें जाता है।

(प्रश्न) निग्रथके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) अविराधक निग्रंथ इन्द्रादिकोंमें तथा लोकपालादिकोंमें उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह अहमिन्द्र होता है और विराधक निग्रंथ भुवनपत्यादिकोंमें जाता है।

यहां कषाय कुशीलकी तरह निग्रंथको भी विराधक कहा है अतः विराधक होनेसे यदि कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निग्रंथको भी दोषका प्रतिसेवी कहना होगा क्योंकि इस पाठमें निग्रंथको भी विराधक कहा है। इस लिये जैसे विराधक होने पर भी निग्रंथ दोषका प्रतिसेवी नहीं होता उसी तरह कषाय कुशील भी दोषका प्रतिसेवी नहीं होता। अतः विराधक तथा विरनेका नाम लेकर कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बताना अज्ञान है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २१९ पर अवसायक [illegible] नाम लेकर लिखते हैं —

"अथ इहां पिण छ लेश्या कही। जो अशुभ लेश्यामें वर्तन ना ए [illegible] बंधु कह्यो। तथा परिणमामि यजांदि इत्यादि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] शुभ लेश्या [illegible] यहां साधुमें च्यार ध्यान कह्या। जिम ध्यान [illegible] [illegible] तिम कृष्ण नील, कापोत लेश्या तिम जाव" (भ्र० पृ० २१९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका स्थापन करना और साधुमें रौद्रध्यान बतलाना अयुक्त है। रौद्रध्यान वालेको शास्त्रमें नरक गति कही है और हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेके लिये दृढ़ निश्चय करनेका नाम रौद्रध्यान है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें लिखा है कि—

"ध्यानं दृढोऽध्यवसाय । हिंसाद्यति क्रौर्य्यानुगतं रौद्रम्"

अर्थात् हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेका जो दृढ़ निश्चय है वह रौद्रध्यान है। यह चतुर्विध होता है (१) हिंसानुबन्धी (२) मृषानुबन्धी (३) स्तेनानुबन्धी (४) संरक्षणानुबन्धी।

ये चारों प्रकारके ध्यान अति क्रूर कर्मियोंके होते हैं साधुके नहीं होते क्योंकि साधु अति क्रूर कर्मी नहीं है।

आवश्यक सूत्रमें "पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं" यह पाठ आया है इससे साधुओंमें रौद्रध्यान नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानमें अविश्वास होनेसे जो साधुको अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये उक्त पाठका उच्चारण करके साधु प्रतिक्रमण करता है इन चारों ध्यानोंके साधुमें होनेसे नहीं अतएव इस पाठका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है—

"प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानैः करणभूतैः यदश्रद्धानादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृत"

अर्थात् शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास होनेसे जो अतिचार किया है उससे मैं निवृत्त होता हूं यह साधु प्रतिज्ञा करता है।

यहां टीकाकारने शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास रखनेसे होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करना कहा है इन ध्यानोंके साधुओंमें होनेसे नहीं। अतः आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुमें रौद्रध्यानका स्थापन करना मिथ्या है। जिस प्रकार साधुमें रौद्रध्यान नहीं होता उसी तरह उसमें कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्या भी नहीं होती तथापि यदि कोई दुराग्रही प्रतिक्रमण सूत्रकी टीकाका नाम लेकर साधुमें रौद्र ध्यानका स्थापन करता हो उसे कहना चाहिये कि शास्त्रमें प्रमादी साधुको ही प्रतिक्रमण करनेकी आवश्यकता बतलाई है और प्रतिक्रमण सूत्रमें रौद्र ध्यानकी तरह शुक्ल ध्यानका भी प्रतिक्रमण कहा है फिर तुम उस पाठसे साधुमें शुक्ल ध्यानका अनुमान क्यों नहीं करते ? अतः अप्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यान न होने पर भी उसमें अविश्वास रखनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रमादी साधु प्रतिक्रमण करता है वैसे

तरह रुद्रध्यानमें अविश्वास होनेके कारण जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करना है रुद्रध्यानके साधुमें होनेसे नहीं।

प्रतिक्रमण सूत्रमें जैसे चार ध्यानोंके प्रतिक्रमणके विषयमें पाठ आया है उसी तरह मिथ्या दर्शन शल्य के प्रतिक्रमण के विषय में भी पाठ आया है। वह पाठ यह है—

"पडिक्कमामि तीहिं सल्लेहिं मायासल्लेण नीयाणसल्लेण मिच्छा दसण सल्लेणं"

अर्थ—

साधु कहता है कि मैं माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्या दर्शन शल्य इन तीनोंसे निवृत्त होता हूं।

यह इस पाठका अर्थ है।

यहां साधुको मिथ्यादर्शन शल्यसे भी प्रतिक्रमण करना कहा है परन्तु साधुमें मिथ्या दर्शन शल्यका सद्भाव नहीं है उसी तरह रुद्र ध्यान भी साधुमें नहीं होता तथापि उसमें अविश्वास होनेके कारण प्रतिक्रमण करना कहा है। यदि साधुमें रुद्र ध्यान होनेसे वह प्रतिक्रमण करता है तो फिर साधुमें मिथ्या दर्शन शल्य होने से उसका प्रतिक्रमण करना मानना चाहिये। परन्तु साधुमें मिथ्यादर्शन नहीं होता उसी तरह उसमें रुद्र ध्यान भी नहीं होता, किन्तु उनमें अविश्वास होनेके कारण साधु प्रतिक्रमण करता है।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४० पर पन्नावणा सूत्र पद १७ का मूलपाठ लिख कर उसकी मलय गिरिकी टीकाकी साक्षी देकर साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका स्थापन करते हैं। (भ्र० पृ० २४० प० सू० १७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

मलय गिरि टीकामें मनःपर्य्यवज्ञानियोंमें कृष्णलेश्या बतलाई गयी है परन्तु वह टीका भगवती शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठ और उसकी टीकासे विरुद्ध है अतः वह प्रमाण नहीं मानी जा सकती है। भगवती शतक १ उद्देशा २ का मूलपाठ और उसकी

टीका पहले लिख दी गयी है। वहां साफ साफ लिखा है कि—प्रमादी अप्रमादी सराग और वीतरागी ये चारों प्रकारके संयति कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्यामें नहीं होते। टीकाकारने कहा है कि—

"कृष्णादिषुहि अप्रशस्त भाव लेश्यासु संयतत्व नास्ति"

अर्थात् कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम नहीं होता। अतः कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम मानना उक्त टीका और भगवती शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठसे विरुद्ध है।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि कोई भी टीका स्वतः प्रमाण नहीं होती। टीका की प्रमाणता मूलपाठके आधीन है अतः जो टीका मूल पाठसे प्रतिकूल है वह कदापि प्रमाण नहीं है। मलयगिरि टीका भगवतीके उक्त मूलपाठ और उसकी प्राचीन टीकासे विरुद्ध है इसलिये वह प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

भ्रमविध्वंसनकारने पन्नावणा सूत्रका जो मूलपाठ लिखा है उसमें भी यह नहीं कहा है कि मनः पर्यव ज्ञानियोंमें भाव कृष्ण लेश्या पाई जाती है वहां सामान्य रूपसे कृष्ण लेश्याका होना लिखा है अतः वह कृष्ण लेश्या द्रव्यरूप है, भाव रूप नहीं क्योंकि भगवतीके मूलपाठमें साफ साफ संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका निषेध किया है उसके विरुद्ध पन्नावणा सूत्रसे संयति पुरुषोंमें भाव कृष्ण लेश्याका स्थापन कैसे किया जा सकता है? भगवती सूत्र अङ्ग है और पन्नावणा उपाङ्ग है। अङ्गमें कही हुई बात का उपाङ्ग सूत्रमें समर्थन किया जाता है खण्डन नहीं किया जाता। अतः पन्नावणा सूत्र की साक्षी से संयतियों में भाव कृष्ण लेश्या का स्थापन करना अज्ञान मूलक है।

(बोल १२ वां समाप्त)

लेश्या प्रकरणका सार यह है—

कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें साधुता नहीं होती। तेज पद्म और शुक्ल रूप भाव लेश्याओंमें ही साधुता होती है। इन विशुद्ध भाव लेश्याओंको शुभ [illegible] [illegible] प्रयोग करना है उस [illegible] [illegible] अन्यथा [illegible] है।

भगवती शतक १ उद्देशा २ में मूलपाठ आया है—

"[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ? हंता ! उप्पएज्जा"

(भ० श० ३ उ० ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! जैसे कोई पुरुष खड्ग और चर्मको धारण करके चलता है उसी तरह भावितात्मा अनगार संघ आदिका कार्य्यके लिये असि चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चल सकता है ?

(उत्तर) हां ! गौतम ! चल सकता है।

यह उपर्युक्त पाठका मूलार्थ है।

इस पाठमें संघ आदिका कार्य्यके लिये असि और चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चलने वाले साधुको भावितात्मा अनगार कहा है इससे सिद्ध होता है कि मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने पर भी साधुओंमें संयमके श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं इसलिये उनमें विशुद्ध भाव लेश्या ही होती है अप्रशस्त भाव लेश्या नहीं होती अन्यथा असि चर्म धारी होकर आकाशमें चलने वाले साधुको इस पाठमें भावितात्मा नहीं कहते। जिसमें शुद्ध भाव लेश्याएं होती हैं वही भावितात्मा हो सकता है अशुद्ध भाव लेश्या वाला नहीं अतः साधुओंमें अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना मिथ्या है।

जीतमलजीने भिक्खूयश रसायन नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—

"मूलगुणने उत्तर गुण माहिं दोष लगाय ते दुःख दायग पडिसेवणा कुशील पिछाणए। जघन्य दो सौ कोडते जाणए नहीं विरह ए थी ओछा नाहीं ए। पिण छट्ठे गुणठाणे कहिवायए यामें चारित्र गुण स्वीकार ए। तिणसूं वन्दना जोग विचार ए।"

इन पद्योंमें जीतमलजी ने कहा है कि प्रतिसेवना कुशील यद्यपि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाता है तथापि उसमें छट्ठा गुण स्थान और चारित्रके श्रेष्ठ गुण मौजूद हैं अतः वह वन्दनीय समझा जाता है।

इनके मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने वाले साधुओंमें जबकि चारित्रके श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं तब फिर उनमें अप्रशस्त कृष्णादिक भाव लेश्या कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें चारित्र श्रेष्ठ गुण कदापि नहीं विद्यमान रह सकते। अतः चारित्र श्रेष्ठ गुण, और अशुभ भाव लेश्याओंका सद्भाव, इन दोनों परस्पर विरुद्ध बातोंको एक व्यक्तिमें स्वीकार करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

तेज पद्म और शुक्ल लेश्याओंमें भी उत्तरोत्तर अधिकता होती है इस लिये जब प्रतिनियतका नाम लेकर मनुष्योंमें कृष्णादिक [illegible] लेश्याओंका [illegible] किया जा सकता। वैमानिक देवताओंमें तेज पद्म और शुक्ल लेश्या ही [illegible] परन्तु वैमानिक देवता सम्यग्दृष्टी मिथ्यादृष्टी और मनुष्यादि होते हैं। इस प्रकार जब कि मनुष्योंमें पाप भी और मनुष्योंमें वैमानिक देवताओंमें [illegible] मान ही मानी गई है तब मनुष्यके मानने वाले मुनियोंमें तीन [illegible] भी [illegible] तीन तथ लेश्याओंके होनेमें क्या संदेह है ?

अब इन लेश्याओंका स्वरूप समझानेके लिये आगमप्रसिद्ध सूत्रकी टीकामें लिखे हुए दृष्टान्त बताये जाते हैं—

"जहजम्बूतरु रेगो सुपक्कफल भरिय नमिय सारग्गो।
दिट्ठो छहिं पुरिसेहिं तेवितो जम्बु भक्खेमो।
किह पुणत्तेणेक्को आरूयायाण जीय संदेहे।
तो छिंदिऊण मूले पाडे मु ताहे भक्खेमो।
बितिआह एहहेण कि छिण्णेण तरुण अम्हति।
साहा महल्ल छिदह तइयो बेती पसाहाओ।
गोच्छे चउत्थ ओउण पञ्चमो वेगेण्हह फलाइ।
छट्ठोबेंति पडिया एएच्चिय खाह घेतु जे।
दिट्ठ तस्सो वणयो जोवेंति तरुवि छिन्नमूलाओ।
सोवट्ठइ किण्हाए साल महल्लाउ नीलाओ।
हवइ पसाहा काऊ गोच्छा तेऊ फलाय पम्हाए।
पडियाए शुक्कलेस्सा अहवा अन्न मुदाहरण।"

अर्थ —

पके हुए सुन्दर फलोंके भारसे नम्र शाखा वाले किसी एक जामुनके वृक्षको छ पुरुषोंने देखा। वे सभी कहने लगे कि हम लोग इस जामुनके फलको खाय। उनमेंसे किसी एकने जामुनके फलको पानेका उपाय बतलाते हुए कहा कि वृक्षके ऊपर चढनेमें गिरनेका भय है इस लिये इस वृक्षको जडसे काटकर हम लोग इसके फलोंको खाय। दूसरेने कहा कि इतने बड़े वृक्षको काटनेसे क्या प्रयोजन है इसकी शाखाको काट कर हम लोग जामुन खा लेवें। तीसरने कहा कि शाखाओंको काटना भी ठीक नहीं है किन्तु

इसकी प्रशाखाओंको काट कर हम लोग इसके फल खांय। चौथेने कहा कि हम लोग केवल इसके गुच्छोंको तोड़ लेवें प्रशाखाओंको काटनेकी क्या आवश्यकता है। पांचवेने कहा कि हम लोग इसके फल तोड़ लेवें गुच्छाको तोड़नेकी क्या आवश्यकता है। छट्ठे ने कहा कि गिरे हुए फलोंको ही खा लेवें फलोंको तोड़नेका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह एक दृष्टान्त है। इसमें पहला पुरुष जो वृक्षको जड़से काटनेकी सलाह देता है वह कृष्ण लेश्याके परिणाममें विद्यमान है। जो बड़ी शाखाओंको काटनेकी राय देता है वह दूसरा पुरुष नील लेशी है। प्रशाखाओंको काटनेकी राय देता हुआ तीसरा पुरुष कापोत लेशी है। गुच्छाको तोड़नेकी राय देने वाला चौथा पुरुष तेजो लेश्या वाला है। फलोंको तोड़ने की राय देने वाला पांचवां पुरुष पद्म लेश्या वाला है। गिरे हुए फलोंके लेनेकी राय देने वाला छट्ठा पुरुष शुक्ल लेश्या वाला है। यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका अर्थ है। इसमें कहा है कि जो गुच्छा तोड़नेकी राय देता है वह तेजो लेश्या वाला है और जो फल तोड़नेकी राय देता है वह पद्म लेशी है, जो गिरे हुए फलोंके खानेकी राय देता है वह शुक्ल लेशी है। यद्यपि ये तीनों पुरुष आरंभ दोषसे रहित नहीं हैं, तथापि ये पहले दूसरे और तीसरे पुरुषकी अपेक्षा बहुत ही अल्पारंभी हैं अतः ये क्रमशः तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्याके स्वामी कहे गए हैं। इसी तरह मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाले साधु यद्यपि आरम्भ दोषसे मुक्त नहीं हैं तथापि वे अव्रतियोंकी अपेक्षासे बहुत ही उत्तम निर्मल चारित्री हैं इस लिये इनकी लेश्या विशुद्ध है। जो पुरुष अल्प फलकी प्राप्तिके लिये महान् आरम्भ करता है जैसे जामुनके फलको पानेके लिये पहले पुरुषने जड़ काटनेकी और दूसरेने शाखा काटनेकी और तीसरेने प्रशाखा काटनेकी राय दी थी उसी तरह वह पुरुष भी कृष्णनील और कापोतलेश्या वाला है परन्तु जो अल्प फल पानेके लिये महान् आरम्भ नहीं करता वह कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्या वाला नहीं है। साधु जन आरम्भ त्यागी पञ्चमहाव्रतधारी और विवेकी होते हैं वे अल्प फलकी प्राप्तिके लिये कदापि महान् आरम्भ नहीं करते अतः उनमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्यायें नहीं होतीं।

ऊपर बताये हुए दृष्टान्तका भाव यह नहीं समझना चाहिये कि तेज पद्म और शुक्ल लेश्या वाले सभी जीव आरंभी ही होते हैं। जो मुनि उत्कृष्ट परिणामके धनी होते हैं वे बिलकुल आरंभके त्यागी होते हैं। शुक्ल लेश्या वाले पुरुष वीतरागी भी होते हैं। उक्त दृष्टान्तमें जघन्य श्रेणीके तेज पद्म और शुक्ल लेश्या वाले कहे गये हैं इसलिये इस दृष्टान्तसे सभी तेज पद्म और शुक्ल लेश्या वालोंको आरंभी नहीं समझना चाहिये।

ऊपर बताया हुआ लेश्याका दृष्टान्त तेरह पंथी साधु निरा भाव दिखलाय लोगोंको इसका परिचय कराते हैं परन्तु जब साधुओंके लेश्याका प्रसंग आता है तब वे इस दृष्टान्तके भावको झट भूल जाते हैं और साधुमार्ग यथा कर्म बिना कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करने लग जाते हैं यहां तक कि वे पंचमहाव्रतधारी साधुओंको आत्मघातका सेवन करने वाला भी कह डालते हैं। इसी तरह मरते प्राणीको प्राण रक्षा करनेमें, दुःखी जीव पर दया करके उसको दान देनेमें बुरी लेश्याका स्थापन करके उसे एकान्तवाद कहते हैं। बुद्धिमानोंको सोचकर देखना चाहिये कि जब फल तोड़नेके परिणाम भी भली और बुरी दोनों ही लेश्याओंमें होते हैं तब मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करने और दुःखी जीव पर दया लाकर उसे दान देनेमें बुरी लेश्या कैसे हो सकती है ?।

(बोल १३ समाप्त)

इति लेश्याप्रकरणम्।

(अथ वैयावृत्याधिकारः)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५१ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ की ३२ वीं गाथा लिखकर उसकी सहायतासे मुनिके व्यावचको सावग सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहा हरिकसी मुनि कह्यो—पूर्वे हिवाडा अने आगामिये काले म्हारो तो किञ्चिन्मात्र द्वेष नहीं। अने जे यक्षो व्यावचकीधी ते माटे ए विप्र बालकाने हण्या छे। एपोताती आशंका मेटवा अर्थे कह्यो। जे छात्राने हण्याते यक्ष व्यावचकरी पिण म्हारो द्वेष न थी। ए छात्राने हण्या ते पक्षपात रूप व्यावच कही छे। आज्ञा बाहिर छे ते माटे सावद्य छे" (भ्र० पृ० २५१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यक्षने मुनिका उपद्रव मिटानेके लिये जो ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था उस ताडनको मुनिका व्यावच बतलाकर मुनिके व्यावचको सावग बतलाना मिथ्या है। क्योंकि मुनिका व्यावच करना न्यारा है और ब्राह्मण कुमारोंको ताडन करना न्यारा है मारना और व्यावच करना दोनों एक नहीं हैं। अतएव इसी उत्तराध्ययन सूत्रमें जहां यक्षोंने ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करना आरंभ किया है वहां यह गाथा कही है कि "इसिस्सवेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमार विणिवारयन्ति" अर्थात् यक्ष ऋषिका व्यावच करनेके लिए ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करने लगे।

यहां ऋषिका व्यावचके निमित्त ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया जाना कहा है, ताडनको ही मुनिका व्यावच नहीं कहा। इस लिये व्यावच और ताडनका भिन्न भिन्न होना स्पष्ट सिद्ध होता है। जैसे देवताओंने भगवान् महावीर स्वामीका वन्दनके निमित्त जहां वैक्रिय समुद्घात किया है वहां "वन्दन वत्तियाए" यह पाठ आया है। उसी तरह यहां भी यक्ष लोग जब ब्राह्मण कुमारोंको वारण करने लगे हैं वहां 'वेयावडियट्ठयाए' यह पाठ आया है। जैसे वंदनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्घात वन्दन स्वरूप नहीं है किन्तु वन्दनसे भिन्न है। उसी तरह व्यावचार्थ किया जानेवाला ब्राह्मण कुमारोंका ताडन

शासन प्रतिवादिनो मोक्षमार्गमन्य य परिहरन्ति तथाच परमं मर्दादि ज्ञान दर्शन चारि-त्रात्मक चेत्यजन्ति तथा समागन्तु घर्मा मन्ना भवन्ति । एत माया मर्म जैनेन्द्र प्रवचनं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग प्रतिपादक "सुखं सुखेनव विन्ते" इत्यादि मोहिता अवमन्यमाना परिहरन्त अपने देवयितव्य सुखेन मा कृतु परमाय सुख मात्र सुख मोक्षा न्ना दुःखप्य विम्बमथ । तथापि मनोज्ञाहारादिना कामादृक । तदुक्तं कृत्व चित्ता स्वास्थ्यं न पुन समाधिरिति । अपिच एतस्याम स्थानं मुगमस्यमाहरंगनि पारति "अशोहाग्नि जूहद" अ मान यूय कर्य यथ पलल ययामो अयमो—उपन्यस्-हना अपान्तराले रूप्यादि लाभ सत्यपि दूरमानीत मिति कृत्वा नाशितवन्त पश्चात् स्वस्थानावाप्तामल्प लाभ मति शुचितवान् पश्चात्ताप कृतवान् एव मवन्तोऽपि शुचि ष्यन्तीति ।"

अर्थ —

मतान्तरका खण्डन करनेके लिये छट्ठी गाथामें अन्य मतावलम्बियोंको गाल पूर्व पक्ष किया गया है। वह इस प्रकार है—मोक्ष प्राप्तिके विषयमें शाक्य आदि, तथा कथान्तुकृन पाडित कई एक अपने यूथ वाले, यह कहते हैं कि इसका प्राप्ति सुख द्वारा होता है। जैसे कि उन लोगोंने अपने मतका पोषण करनेके लिये यह श्लोक बनाया है 'सर्वाणि सत्वानि' इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि सभी जीव सुखमें रत हैं और सभी लोग दुःखसे उद्विग्न होते हैं। इस लिये सुखकी इच्छा करने वाले पुरुषको सुख ही देना चाहिये क्योंकि सुख देनेवाला ही सुख पाता है। इस विषयमें ये लोग यह युक्ति देते हैं कि सभी कार्य्य अपने कारणके अनुरूप ही उत्पन्न होते हैं शालिके बीजसे शालिका ही अंकुर उत्पन्न होता है यवका अंकुर उत्पन्न नहीं होता इसी तरह इस लोकमें सुख भोगनेसे ही पर लोकमें सुख मिलता है परन्तु केशालुञ्चनादि रूप दुःख भोगनेसे नहीं मिलता। इनके आगममें भी यही कहा है कि साधुको मनोज्ञ आहार खाकर मनोज्ञ शय्याके ऊपर मनोज्ञ गृहमें मनोज्ञ वस्तुका ध्यान करना चाहिये। कोमल शय्यापर शयन करना प्रभात कालमें दुग्ध आदि पौष्टिक पदार्थ पीना, तथा दिनके मध्य भागमें स्वादिष्ट भात आदि खाना, और दोपहरके बाद शर्बत आदि पीना तथा आधी रातमें दाख शक्कर आदि मधुर पदार्थ खाना इन कार्य्योंसे अन्तमें मोक्ष मिलता है यह शाक्य पुत्रका विश्वास है। संक्षेपसे इनका सिद्धान्त यह है कि मनोज्ञ आहार विहारसे चित्तमें समाधि उत्पन्न होती है और चित्तमें समाधि उत्पन्न होनेसे मोक्ष सुख मिलता है। अतः सिद्ध हुआ कि सुखसे ही सुख मिलता है पर कशोलुञ्चनादि रूप दुःख भोगनेसे नहीं।

इस प्रकारका सिद्धान्त रखनेवाले मूढमति शाक्य आदि, सभी इस धर्मोंसे पृथक् रहने वाले जिन प्रतिपादित आर्य्य धर्मका त्याग करते हैं और ज्ञान दर्शन तथा चारित्र रूप मोक्ष मार्गको छोड़ देते हैं। वे ज्ञान रहित हैं और चिरकाल तक इस संसार चक्रमें घूमते रहते हैं। उनका

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २५७ के ऊपर लिखते हैं—

"दश वैकालिक अध्ययन ३ गृहस्थनो साता पूछ्या सोलमो अनाचार लागतो कह्यो। तथा गृहस्थनी व्यावच कीधा अट्ठाइसमो अनाचार कह्यो। तथा निशीथ उद्देशा १३ गृहस्थना रक्षा निमित्ते भूति कर्म किया प्रायश्चित्त कह्यो तो गृहस्थनी सावद्य साता वाञ्छ्या तीर्थङ्कर गोत्र किम बंधे। (भ्र० पृ० २५७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गृहस्थसे साता पूछना तथा उनका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार कहा है गृहस्थके लिये अनाचार नहीं कहा है। इसलिये दश वैकालिक सूत्रमें आचारों की गणना करते हुए पहले पहल यह गाथा लिखी है—

"संजमे सुट्ठि अप्पाण विप्पमुक्काणताइण
तेसिमेयमणा इन्न निग्गथाण महेसिण"

अर्थ —

संयममें अन्दर अपना आत्माको स्थिर रखने वाले और बाह्य तथा आन्तरसे मुक्त एवं अपना आत्माका रक्षा करने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियोंके लिये ये बावन अनाचार हैं।

इस गाथामें स्पष्ट कहा है कि अग्रिम गाथाओंमें कहे हुए ५२ अनाचार श्रमण निर्ग्रन्थोंके हैं गृहस्थोंके नहीं हैं। इस लिये गृहस्थका साता पूछना और गृहस्थका व्यावच करना दश वैकालिक सूत्रके पाठानुसार गृहस्थके लिये एकान्त पाप नहीं हो सकता। अतः दश वैकालिक सूत्रका नाम लेकर साधुसे इतरको साता और व्यावचको सावद्य कायम करना अज्ञान है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि गृहस्थकी साता पूछने और व्यावच करनेसे जब कि साधुको अनाचारका पाप लगता है तो फिर श्रावकको पाप क्यों नहीं लगता ?। तो इसका उत्तर यह है कि साधु और श्रावकका कल्प जुदा जुदा है एक नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त कार्य साधुके कल्पसे विरुद्ध होनेके कारण साधुके लिये ही अनाचार है गृहस्थके कल्पसे विरुद्ध नहीं होनेके कारण गृहस्थके लिये अनाचार नहीं है। जैसे सारे सांसारिक [illegible] आदि पानी द्वारा साधुके लिये प्रायश्चित्तका कारण कहा [illegible] नहीं। गृहस्थके लिये तो [illegible] अग्नि [illegible] द्वारा कहा है। इसी तरह साधु

के लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है पर श्रावकके लिये नहीं। यदि कोई उक्त कार्य्यको गृहस्थके लिये भी अनाचार कहे तो फिर उसके हिसाबसे अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देना भी गृहस्थके लिये प्रायश्चित्तका कारण कहना चाहिये। क्योंकि साधु अपने सांभोगिक साधुसे इतरको आहार पानी देनेसे प्रायश्चित्ती हो जाता है तो फिर गृहस्थ अपने आश्रित पशु आदिको आहार पानी देनसे प्रायश्चित्ती क्यों नहीं होगा ? पर बात ऐसी नहीं है। गृहस्थ यदि अपने आश्रित पशु आदिको भात पानी न देवे तो प्रायश्चित्ती होता है और साधु यदि सांभोगिक साधुसे भिन्नको उत्सर्ग मार्गमें आहार पानी देवे तो प्रायश्चित्ती होता है। अतः साधुके लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है श्रावकके लिये नहीं है।

दशवैकालिक सूत्रमें उद्दिष्ट भक्त लेना साधुके लिये पहला अनाचार कहा है इस लिये जो साधु उद्दिष्ट भक्त लेता है वह प्रायश्चित्ती होता है परन्तु आदिम और अन्तिम तीर्थंकरके साधुओंको छोड़ कर दूसरे साधु यदि उद्दिष्ट भक्त लेवें तो वे पापके भागी नहीं होते क्योंकि उद्दिष्ट भक्त लेना उनके कल्पसे विरुद्ध नहीं है। अत जैसे उद्दिष्ट भक्त लेना आदिम और अन्तिम तीर्थंकरके साधुओंके लिये अनाचार है दूसरे तीर्थंकरोंके साधुओंके लिये अनाचार नहीं है उसी तरह गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार है श्रावकके लिये अनाचार नहीं है। अतः गृहस्थकी साता पूछने और उसका व्यावच करनेसे गृहस्थको भी अनाचार बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

२४ वें तीर्थंकरके साधु तेइसवें तीर्थंकरके साधुको आहार पानी नहीं देते। क्योंकि उनका यह कल्प नहीं है। यदि देवें तो उनको प्रायश्चित्त आता है। परन्तु गृहस्थ यदि तेइसवें तीर्थंकरके साधुओंको आहार पानी देवे तो उसको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। इस लिये जो कार्य्य साधुके लिये अनाचार है वह गृहस्थके लिये भी अनाचार हो यह कल्पना मिथ्या समझनी चाहिये।

इसी तरह निशीथ सूत्र उद्देशा १२ का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना भी मिथ्या है निशीथ सूत्र उद्देशा १२ के अन्दर किसी प्राणीकी रक्षा करना वर्जित नहीं की है किन्तु भूति कर्म करनेका निषेध किया है। इस लिये साधु भूति कर्म नहीं करते। यदि भूति कर्म करें तो उनको अवश्य प्रायश्चित्त आता है परन्तु अपनी कल्प मर्य्यादाके अनुसार जीवरक्षा करनेसे पाप नहीं होता। क्योंकि जीवरक्षा करनेका कहीं भी शास्त्रमें निषेध नहीं है। प्रत्युत प्रश्नव्याकरण सूत्रमें

"पवयणसमये गयते लिङ्गे रयहरण मुहपत्ती"

इसकी टीका यह है—

" 'पवयण' त्ति प्रवचनत साधर्मिक सप्तमध्ये एकतर श्रमण श्रमणी श्रावक श्राविकारूपेति। लिंगे लिङ्गत साधर्मिक रजोहरण मुखपोतिका रूप"

अर्थ —

श्रमण, श्रमणी श्रावक और श्राविका इनमें से कोई भी प्रवचन के द्वारा साधर्मिक होता है और रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका से युक्त लिङ्ग के द्वारा साधर्मिक होता है।

यह उपर्युक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

यहां प्रवचनके द्वारा साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका इनमेंसे किसी को भी साधर्मिक होना कहा है। इस लिये प्रवचन के द्वारा श्रावक का साधर्मिक श्रावक भी होता है।

तथा इसी भाष्यके १५ वी गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिंग और प्रवचन के द्वारा साधर्मिकों की एक चतुर्भंगी कही है। उसके दूसरे भंगे में श्रावक को बताया है।

वह टीका यह है—

"तथा प्रवचनत साधर्मिको न पुन लिंगे लिंगत एष द्वितीय। केते एवं भूता इत्याह—दशभवति सशिखाका अमुण्डित शिरस्का श्रावका इति गम्यते। श्रावकाहि दर्शन व्रतादि प्रतिमा भेदेन एकादशविधा भवति। तत्र दश सशेषा—एकादश—प्रतिमा प्रतिपन्नस्तु लुञ्चितशिरा श्रमणभूतो भवति। ततस्तद्व्यवच्छेदाय सशिखाक ग्रहणम्। एतेहि दश सशिखाका श्रावका प्रवचनत साधर्मिका भवंति तेषा संघान्त र्भूतत्वात् नतु लिङ्गतो रजोहरणादि लिङ्ग रहितत्वात्"

अर्थात् प्रवचनके द्वारा जो साधर्मिक होता है और लिंगके द्वारा नहीं होता वह दूसरा भांगावाला साधर्मिक है। अब यह बतलाया जाता है कि इस दूसरे भांगावाले साधर्मिक कौन होते हैं।

जिनके केश मुण्डित नहीं हैं जो शिखाधारी हैं ऐसे दश प्रकार के श्रावक इस दूसरे भंगके स्वामी हैं क्योंकि श्रावक, दर्शन, व्रतादि, और प्रतिमाके भेदसे ग्यारह प्रकारके होते हैं। उनमें दश शिखाधारी होते हैं। और ग्यारहवीं प्रतिमाप्रतिपन्न, लुञ्चितशिर और साधुके सदृश होता है। उसकी व्यावृत्तिके लिये इस दूसरे भांगा में शिखाधारी श्रावक कहा गया है। ये दश शिखाधारी श्रावक प्रवचनसे साधर्मिक होते हैं

क्योंकि वे सङ्घके अन्दर मौजूद हैं परन्तु लिङ्गसे साधर्मिक नहीं होते क्योंकि वे रजोहरणादि लिङ्गोंसे युक्त नहीं होते।

यहां टीकाकारने श्रावकको प्रवचनके द्वारा साधर्मिक कह कर उसको साधर्मिकों की चौभङ्गीके दूसरे भङ्गमें रक्खा है। इसलिये श्रावक भी श्रावकका साधर्मिक होता है यह बात निर्विवाद सिद्ध है। दश प्रकारके व्यावचोंमें उवाइ सूत्रके अन्दर साधर्मिक का व्यावच करना भी कहा गया है। इसलिये श्रावकसे श्रावकका व्यावच किया जाना भी साधर्मिक व्यावच होने से धर्म का ही हेतु है। उसे पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

उक्त दश विध व्यावचोंमें सङ्घका व्यावच भी कहा गया है और सङ्घ नाम है साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओं के समूह का। इसलिये सङ्घके अन्तर्भूत होनेसे साधु की तरह श्रावक का व्यावच भी सङ्घके व्यावच में गिना जाता है। इस लिये श्रावक से श्रावक का व्यावच किया जाना भी देशसे सङ्घका व्यावच है। अत वह धर्म है परन्तु पाप नहीं है।

यदि कोई कहे कि साधुओं की १२ प्रकार की तपस्याओंके भेदमें व्यावच कहा गया है। इसलिये उवाइ सूत्रोक्त दश विध व्यावच साधुओंका ही है परन्तु श्रावक का नहीं तो उसे कहना चाहिये कि श्रावकोंके लिये तपका विधान कहीं अन्यत्र नहीं करके साधुओंके साथ ही किया गया है। कारण यह है कि तपके विषयमें साधु और श्रावकों का कोई अन्तर नहीं है। इस लिये जैसे बारह प्रकार के तप साधुओं के समान श्रावकों के भी हैं उसी तरह ये दशविध व्यावच साधुओं की तरह श्रावकोंके भी हैं।

इस विषयमें भ्रमविध्वंसनकारका भी कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि उनके गुरु भीषणजीने लिखा है—

"साधांरे बारे भेद तपस्या करता जहां जहां निरवद्य योग रूंधायसी। तहां तहां संवर होय तपस्यारे लारे, तिणसुं पुण्य लागता मिट जायसी। ४७ गाथा

इण तप माहिलो तप श्रावक करता। कठे अशुभ योग रूंधायसी जब इम संवर हुवे तपस्यार लार लागता पाप मिट जायसी" ४८ गाथा

(नवसद्भाव पदार्थ निर्णय)

इन पद्योंमें भीषणजीने १२ प्रकारकी तपस्याएं साधुकी तरह श्रावकों की भी मानी हैं। इस लिये इन तपस्याओं में आया हुआ व्यावच श्रावकों का भी सिद्ध होता है। अत पूर्वोक्त दश विध व्यावच को श्रावकों के लिये नहीं स्वीकार करना हठ मात्र समझना चाहिये।

जब कि इस विध व्यावच करना श्रावकों का भी कर्त्तव्य है तब फिर कोई श्रावक यदि अपने साधर्मिक श्रावक का व्यावच करे तो उसमें पाप या प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये ।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ५ उद्देशा २ के अन्दर श्रावकों को अवर्ण बोलनेसे दुर्लभबोधी और वर्ण बोलनेसे सुलभबोधी होना कहा है । वह पाठ—

"पचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति । तंजहा—अरिहंताणं अवन्नं वदमाणे अरिहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे आयरिय उवज्झायाणं अवन्नं वदमाणे, चाउवण्ण स्स संघस्स अवन्नं वदमाणे विवक्कतव बंभचेराणं अवन्नं वदमाणे । पचहिं ठाणेहिं जीवासुलभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति अरिहंताणं वन्नं वदमाणे जाव विवक्क तव बंभचेराणं वन्नं वदमाणे"

(ठाणाङ्ग ठाणा ५ उ० २)

अर्थ —

अर्थात् पांच स्थानोंमें जीव दुलभबोधी होनेका कर्म बांधता है ।

अरिहंतको अवर्ण बोलता हुआ, और अरिहंत प्रणीत धर्मको अवर्ण बोलता हुआ तथा आचार्य और उपाध्यायको अवर्ण बोलता हुआ, एवं चातुर्वर्णात्मक संघको अवर्ण बोलता हुआ और परिपक्व ब्रह्मचर्य और तप वाले पुरुष को अवर्ण बोलता हुआ ।

इसी तरह पांच स्थानों में जीव सुलभबोधी होनेका कर्म बांधता है । जैसे कि—

अरिहंत को वर्ण बोलता हुआ, यावत्, परिपक्व, तप और ब्रह्मचर्य वाले पुरुष का वर्ण बोलता हुआ ।

यह उपर्युक्त गाथाका अर्थ है ।

यहां चतुर्वर्णात्मक संघको अवर्ण बोलनेसे दुर्लभबोधी कर्मका बन्ध होना और वर्ण बोलनेसे सुलभ बोधी कर्मका बन्ध होना कहा है और श्रावक श्राविका भी चतुर्वर्णात्मक संघके अङ्ग हैं । इसलिये श्रावक और श्राविकाको अवर्ण बोलना भी अवश्य ही दुर्लभबोधी कर्म बन्धका हेतु होता है । इसी तरह श्रावक और श्राविका को वर्ण बोलना भी निश्चय ही सुलभ बोधी कर्मबन्धका हेतु होता है । इस प्रकार जब कि श्रावक और श्राविकाको वर्ण बोलनेसे जीव सुलभ बोधी कर्म बांधता है तब फिर उन्हें

(प्रश्न)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २६९ के ऊपर भीषणजीके वार्त्तिकका दाखला देते हुए लिखते हैं कि —

"हे कहे छै । पडिमाधारी साधु अग्नि मांहि बलतांने वस्त्र ग्रही पकडिने बाहिरे काढे । अथवा सिंहादिक पकडतांने हाथ राखे । तथा हरकोई साधु साध्वी जिन कल्पी स्थविर कल्पी, स्थान मांहि पकडिने बाहरे काढे इत्यादिक कारण करीने साता उपजावे । अथवा जीव बचावे । अथवा ऊँचाथी पडताने हाथ थंभावे । अथवा आखड पडताने हाथ थंभावे अथवा ऊंचाथी पडताने बैठो कर तिण गृहस्थने अरिहंत भगवंतरी तिण आज्ञा नहीं । अनेरा साधु साध्वी गये काल हुआ त्यांरी तिण आज्ञा नहीं । जिण साधुरा बचायो तिणरी तिण आज्ञा नहीं । इत्यादि (भ्र० २६९)

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि मरणान्त कष्टकी अवस्थामें भी यदि कोई गृहस्थ, साधुकी रक्षा कर देवे तो उसे एकांत पाप होता है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी रक्षा करनेसे गृहस्थ को एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध है क्योंकि वृहत्कल्प सूत्रके मूलपाठमें स्थविर कल्पी साधु या साध्वीको सर्प काटने पर गृहस्थसे झाड़ा दिलानेकी वीतरागने आज्ञा दी है । अतः मरणान्त कष्टसे साधुकी रक्षा करना आज्ञा बाहर तथा एकान्तपाप नहीं है वह पाठ यह है—

"निग्गंथं चणं राओवा वियालेवा दीहपिट्ठे लूसेज्जा इत्थी पुरिसस्स पमज्जेज्जा पुरिसोवा इत्थिए पमज्जेज्जा । एवं से चिट्ठति परिहारंच नो पाउणति एसकप्पे थेर कप्पियाणं एवं से नो कप्पति एवं से नो चिट्ठति परिहारंच पाउणति एसकप्पे जिण कप्पियाणं"

(वृहत्कल्प सूत्र)

(इसकी व्याख्या)

"सम्प्रति सूत्र व्याख्या क्रियते—निर्ग्रंथं च शब्दान्निर्ग्रंथीं च रात्रौवा विकाले वा दीर्घ पृष्ठ सर्पो लूषयेत् दंशेत् । तत्र स्त्री वा पुरुषस्य हस्तेन स विषमपमार्जयेत् । पुरुषोवा स्त्रिया हस्तेन एवं स तस्य स्थविर कल्पिकस्य कल्पते । स्थविरकल्पस्य अपवाद बहुलत्वात् । एवञ्चामुना प्रकार णापवादमासेवमानस्य स तस्य तिष्ठते पर्याय न स्थविर कल्पात परिभ्रश्यति येन छेदादय प्रायश्चित्त विशेषा तस्य न सन्ति । परिहारंच

णिवा, गड्डाओवा दरीओवा सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा। नोउज्जुय गच्छेज्जा केवली बूया आयाण मेय। तत्थ परक्कममाणे पयलिज्जवा २ सेतत्थ पयलमाणेवा रुक्खाणिवा गुच्छाणिवा गुम्माओवा वल्लीओवा तणाणिवा गहणाणिवा, हरियाणिवा अवलम्बिय उत्तरिज्जा। जे तत्थ पडिपहियावा उवागच्छंति ते पाणी जाइज्जा तओ संजयामेव अवलम्बिय उत्तरिज्जा। तओ स० गामानुगामं दूइज्जेज्जा"

अर्थ —

एक ग्रामसे दूसरे ग्राममें जाते हुए साधु या साध्वीको मार्गके अन्दर यदि कदाचित् किले का कोट, गड्ढा, तोरण, अर्गला, खाई, या कोट मिले तो दूसरा मार्ग होने पर उस (ऊबड़ खाबड़ वाले) मार्गसे नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उस मार्गसे जाने पर केवलीने कर्मबन्ध होना कहा है। परन्तु दूसरा मार्ग नहीं होने पर उस मार्गसे जानेमें दोष नहीं है। ऐसे कठिन मार्गसे जाता हुआ साधुका यदि पैर फिसल जाय तथा गिरनेकी नौबत आ जावे तो वह वृक्ष लता गुच्छ या घासों वनस्पतियोंको पकड़ कर उस मार्गसे पार हो जाय। अथवा जो कोई उस मार्गसे पथिक आता हो उसके हाथकी सहायता लेकर यतनाके साथ उस कठिन मार्गको पार करे। इसके पश्चात् ग्रामानुग्राम विहार करे।

यह इस पाठका अर्थ है।

इसकी टीकामें भी लिखा है कि—

"अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत् कथञ्चित् पतितश्च गच्छतो वल्ल्यादिकमवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयतएव गच्छेत्"

अर्थात् कारण पड़ने पर साधु उसी (कठिन) मार्गसे ही जावे। और किसी प्रकार गिरता हुआ स्थविर कल्पी साधु लता आदिको पकड़ कर अथवा सम्मुख आते हुए पथिकके हाथका आश्रय लेकर यतनाके साथ उस मार्गको पार करे।

जीतमलजी ने अपने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध नामक ग्रन्थ में १९ वें प्रश्नके उत्तर में दूसरा मार्ग नहीं होने पर आचारांग सूत्रोक्त कठिन मार्ग से जाना लिखा है। जैसे कि —

(प्रश्न)—विहार करतां मारगे पृथिवी हरी [illegible] [illegible] [illegible] कि नहीं?

(उत्तर)—आचारांग श्रु० २ अ० ३ उ० २ कह्यो विहार करता मार्ग माई बीज हरी पानी माटी होय तो छते रास्ते ते मार्गे जावणो नहीं। इण न्याय रस्तो न होय तो त मार्गे दोष नहीं। ऊंची भूमि, खाई, गड्ढने मार्गे छते रस्ते न जावणो रास्तो और न होय तो जावणो"।

इत्यादि जीतमलजीके लेखसे भी यह सिद्ध होता है कि दूसरा रास्ता नहीं होने पर साधु गर्त आदि खाड़े मार्गसे जाते हैं और वहां वे कारणवश पथिकके हाथकी सहायता भी आचारांग सूत्रोक्त विधिके अनुसार लेते हैं। ऐसा करनेसे स्थविर कल्पी साधु का कल्प भङ्ग नहीं होता क्योंकि यह कार्य्य जिन आज्ञामें है। तथा उक्त मार्ग के अन्दर दुर्गम स्थानमें पड़े हुए साधुको जो पथिक अपने हाथकी सहायता देकर उसको मार्ग पार करता है वह भी आज्ञानुसार ही कार्य्य करता है आज्ञासे बाहर या एकान्त पापका कार्य्य नहीं करता। अत मार्गमें गिरते हुए साधुकी बांह पकड़ कर बाहर निकालने वाले गृहस्थ को पाप कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये।

यदि मरणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेना स्थविर कल्पी साधुका कल्प नहीं होता और उस हालतमें भी स्थविर कल्पीको शारीरिक सहायता देना गृहस्थके लिये वर्जित होता तो आचारांग सूत्रके इस पाठमें पथिक के हाथ की सहायता लेकर साधुको कठिन मार्गसे पार करने का विधान कैसे किया जाता ? तथा वृहत्कल्प सूत्रमें नावका सहारा लेनेके लिये साधु साध्वी को गृहस्थ से [illegible] लेने का विधान क्यों किया जाता ? अत साधु के लिये गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेने को हर एक अवस्था में एकान्त निषेध करना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

([illegible])

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ [illegible] के ऊपर भीषणजीके [illegible] लिखते हुए लिखते हैं—

[illegible] है। [illegible] साधुने [illegible] आदि की [illegible] कहा है [illegible]

इसके आगे [illegible] कहा है कि [illegible] है। [illegible] गृहस्थी [illegible] है [illegible] इत्यादि। इसका [illegible]

यह है कि सुभद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आंखसे तिनका निकाला था, इससे उसको पाप हुआ तथा किसी दुष्टके द्वारा साधुके गलेमें लगाई हुई फांसीको यदि कोई दयालु गृहस्थ काट देवे, तथा आगमें जलते हुए साधुको कोई दयावान गृहस्थ बांह पकड़ कर बाहर कर दे तो उसको एकान्त पाप होता है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुभद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आंखसे तिनका निकाला था इस कार्य्यसे सुभद्राजीको पाप बतलाना भीषणजीका अज्ञान है तथा साधुके गलेकी फांसी काटने और आगमें जलते हुए साधुको बांह पकड़कर बाहर निकालनेसे दयालु गृहस्थको पाप बतलाना जीतमलजीका भी अज्ञान है । भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ३ के अन्दर साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्शका छेदन करने वाले वैद्यको शुभ क्रिया (पुण्यबन्ध) होना कहा है । वह पाठ यह है —

"अणगारस्सणं भन्ते ! भावियप्पणो छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं जाव आयावेमाणस्स तस्सणं पुरच्छिमेणं अवड्ढं दिवसं णो कप्पइ हत्थंवा पायंवा ऊरुंवा आउंटावेत्तएवा पसारेत्तएवा पच्चच्छिमेणं अवड्ढं दिवसं कप्पइ हत्थंवा पायंवा जावऊरुंवा आउंटावेत्तएवा पसारेत्तएवा" तस्स य अंसिआओ लंबइ तचेव विज्जे अदक्खु ईसिंपाडेइ । पाडेइत्ता अंसिआओ छिंदेज्जा सेणूणंभन्ते ! जे छिन्देज्जा तस्स किरिया कज्जइ । जस्सछिन्दइ णोतस्स किरिया कज्जइ णणत्थेगेणं धम्म तराएणं ? हन्त ! गोयमा ! जेछिन्दइ जाव धम्मतराएणं सेवं भन्ते भन्तेति"

(भ० श० १६ उ० ३)

अर्थ—

हे भगवन् ! निरन्तर बेले बेले तप करता हुआ यावत् आतापना लेता हुआ भावितात्मा अणगारको दिनके पूर्वार्ध भागमें अपने हाथ पांव ऊरू आदि अङ्गोंको पसारना और संकोच करना नहीं कल्पता । तथा दिनके उत्तरार्धमें उक्त अङ्गोंको पसारना और संकोच करना कल्पता है । उक्त साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्शोंको यदि कोई वैद्य साधुको नीचे डालकर काटे तो उस वैद्यको क्रिया लगती है परन्तु साधुको एक धर्मान्तरायके सिवाय और क्रिया नहीं लगती क्या यह बात सत्य है ?

णवा तिक्खेण सत्थजाएणवा आच्छिदेइ विच्छिंदेइ आच्छिंदतं विच्छिंदंतंवा साइज्जइ''

(निशीथ १५ उ० बोल ३१)

अथ —

जो कोई साधु अन्य यूथिक अथवा गृहस्थसे अपने शरीरके गंडमालादिक, मस, फोड़ा, अर्श भगन्दर, इनको किसी तीक्ष्ण शस्त्र जातिसे छेदन तथा विशेष रूपसे छेदन अथवा इनका छेदन कराने वाले साधुकी अनुमोदना करे तो उसको प्रायश्चित्त आता है।

यहां निशीथ सूत्रके मूल पाठमें अन्य यूथिक और गृहस्थके द्वारा अर्श छेदन कराने वाले और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना कहा है इस लिये कोई साधु यदि गृहस्थसे अर्शका छेदन करावे तथा छेदन कराते हुए साधुको भला जाने तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे उक्त साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त आना इस पाठमें नहीं कहा है क्योंकि भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ३ के मूल पाठमें और उसकी टीकामें जब कि धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको शुभ क्रिया कही है तब उसके विरुद्ध यहां उक्त गृहस्थको पाप कैसे कहा जा सकता है। यद्यपि भ्रम विध्वंसनकार इस विषयमें यह तर्क करते हैं कि "साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको यदि पुण्यकी क्रिया होती है तो फिर उसका अनुमोदन करने से साधुको प्रायश्चित्त कैसे आता है" परन्तु उनका यह तर्क भी अज्ञान सूचक है। उक्त निशीथके मूलपाठमें अर्श छेदन करने वाले गृहस्थके कार्य्यका अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त आना नहीं कहा है किन्तु गृहस्थके द्वारा अर्श छेदन कराते हुए साधुके कार्य्यका अनुमोदन करनेसे प्रायश्चित्त आना कहा है। इसलिये अनुमोदनका नाम लेकर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको पापकी स्थापना करना मिथ्या है।

यदि कोई कहे "कि गृहस्थसे अर्श कटाने वाले साधुको यदि पाप लगता है तो साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको पुण्य कैसे होगा? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे गृहस्थके द्वारा सत्कार सम्मान और पूजा प्रतिष्ठा की इच्छा रखना उत्तराध्ययन सूत्रके अन्दर साधु को वर्जित की गयी है परन्तु श्रावक यदि साधुकी पूजा प्रतिष्ठा वन्दना सत्कार करे तो उसका निषेध नहीं है किन्तु यह धर्म का कार्य्य है। इसी तरह साधु यदि गृहस्थसे अर्शछेदन करावे अथवा कराते हुए साधुको अच्छा जाने तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थ को प्रायश्चित्त नहीं आता।

उत्तराध्ययन सूत्रकी मूलगाथा यह है—

"नोसक्किय मिच्छई नपूअं नोविय वंदणग कुओ पसंस"

(उत्तरा० अ० १५)

अर्थ —

"साधु अपनी पूजा और सत्कारकी इच्छा नहीं करे तथा वन्दन और प्रशंसा की चाहना भी न करे।'

परन्तु श्रावक लोग साधुकी पूजा सत्कार वन्दन और प्रशंसा करते हैं और उक्त कार्यों से श्रावकोंको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। उसी तरह साधु यदि किसी गृहस्थसे अर्श कटवाना चाहे तो उसको पाप हो सकता है परन्तु अर्श काटनेवाले गृहस्थ का पाप नहीं हो सकता है बल्कि धर्म बुद्धिसे काटने पर धर्म ही होता है। तथापि साधु, गृहस्थसे अर्श कटवाना नहीं चाहते, यह देख कर साधुके अर्श काटनेसे गृहस्थको पाप होना यदि कोई हठी कहे तो फिर साधुकी वन्दना पूजा सत्कार सम्मान करनेवाले श्रावक को भी उसके हिसाबसे पाप ही होना चाहिये क्योंकि साधु गृहस्थसे पूजा प्रतिष्ठा वन्दना नमस्कार आदिकी भी चाहना नहीं रखता। अतः निशीथ सूत्रका मन माना तात्पर्य बनता कर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले वैद्य को पाप होने की स्थापना करना एकमात्र अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० २७० के ऊपर आचारांग सूत्र अध्ययन १३ श्रुत० २ रे का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ इहां कह्यो जे साधुरे पग ते गुमड़ो पुणसी आदिक तेहने कोई पर अनेरो गृहस्थ शस्त्रे करी छेदे तो तेहने मनकरी अनुमोदे नहीं। अने वचन करी तथा काया ई करी करावे नहीं। जे कार्य्य साधु मन करी अनुमोदना ई न करे ते कार्य करणवाला ने धर्म किम हुवे। इत्यादि।

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

जैसे उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १५ की गाथामें अपनी पूजा प्रतिष्ठा सत्कार सम्मान की चाहना करना साधुके लिये वर्जित की है परन्तु श्रावक लोग, साधुकी पूजा

दर्शन विनयके दो भेद होते हैं। शुश्रूषा विनय, और अनाशातना विनय।

दर्शनरूप अधिक गुण वाले पुरुष को शुश्रूषा विनय करना चाहिये। शुश्रूषा विनय ये हैं—

सत्कार करना, सम्मुख खड़ा होना, सम्मान करना, सम्मुख जाना, आसन देना, वन्दन करना, हाथ जोड़ना, आते हुए गुरुजनके सामने जाना, बैठे हुए की सेवा करना और जाते हुएके पीछे जाना। यह शुश्रूषा विनय कहलाता है।

इसी तरह भगवती शतक १४ उद्देशा ३ के मूलपाठमें शुश्रूषा विनयके भेद बतलाये हैं वह पाठ यह है।

"सक्कारेइवा सम्माणेइवा कीकम्मेइवा अब्भुट्ठाणेइवा अंजलि प्पग्गहेइवा। आसणाभिग्गहेइवा आसणाणुप्पदाणेइवा इंतस्स पज्जु गच्छणया ठियस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्सपडिसाहणत्ता"

(भ० श० १४ उ० ३)

(इस पाठकी टीका)

सत्कारो विनयार्हेषु वन्दनादिना आदर करणम् प्रवर वस्त्रादि दानञ्च "सक्कारो पवरवत्थाइहिं" इति वचनात्। सम्मानस्तथाविधप्रतिपत्तिकरणम् [कृतिकर्म वन्दन कार्य्य करणञ्च। अभ्युत्थानं गौरवार्ह दर्शन निष्टरत्याग। अंजलिप्रग्रह अंजलि करणम्। आसनाभिग्रह तिष्ठत एव गौरव्यस्यासनानयनपूर्वक मुपविशतेति भणनम्। गौरव्यमाश्रित्यासनस्य स्थानान्तरसंचारणम्। आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमन निष्ठतो गौरव्यस्यसेवेति। गच्छतोऽनुगमनमिति।

अर्थ —

विनय करने योग्य पुरुषका वन्दन आदिके द्वारा आदर करना और उसको उत्तमोत्तम वस्त्रादिका प्रदान करना सत्कार विनय कहलाता है।

श्रेष्ठ पुरुषको स्वरूपानुरूप गौरव देना सम्मान विनय है।

श्रेष्ठ पुरुष को वन्दन करना और उसका कार्य्य करना कृति कर्म कहलाता है।

गौरव के योग्य पुरुष को देख कर आसन छोड खड़ा हो जाना अभ्युत्थान विनय है।

गौरव के योग्य पुरुष को हाथ जोड़ना "अंजलि प्रग्रह" कहलाता है।

खड़े हुए गौरव योग्य पुरुषको आसन देकर बैठनेके लिये कहना आसनाभिग्रह कहलाता है। गौरव योग्य पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार दूसरी जगह रखना

आसनानुप्रदान कहलाता है। इसी तरह आते हुए गौरव योग्य पुरुषके सम्मुख जाना और बैठे हुए की सेवा करना, और जाते हुए के पीछे जाना ये सब शुश्रूषा विनय कहलाते हैं। यह टीकाका अर्थ है —

दर्शन विनयके अधिकारी सम्यग्दृष्टि, साधु और श्रावक सभी लोग होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले सम्यग्दृष्टिकी और श्रावक अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावककी, तथा ये सभी लोग सम्यग्दृष्टि साधुकी तथा कनिष्ठ साधु अपनेसे अधिक गुण वाले साधुकी जो शुश्रूषा करते हैं वह उनका दर्शन विनय समझा जाता है। यह दर्शन विनय निर्जराके भेदमें गिना गया है। इस लिये दर्शन विनय करना निर्जराका हेतु समझना चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावकका दर्शन विनय करना श्रावकके लिये निर्जरा का हेतु आप बतलाते हैं पर किसी श्रावकने किसी श्रावकका दर्शन विनय किया हो ऐसा उदाहरण कोई मूलपाठसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ११ उद्देशा १२ के मूल पाठमें श्रावकोंका श्रावकसे विनय करनेका स्पष्ट कथन है। वह पाठ यह है—

"तएण ते समणो वासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिआओ एयमट्ठं सोचाणिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदति णमंसंति वन्दित्ता जेणेव इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता इसिभद्दपुत्तं समणोवासयं वंदंति णमंसंति एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति"

(भ० श० ११ उ० १२)

अर्थ —

इसके अनन्तर व श्रावक श्रमण भगवान् महावीर स्वामीसे इस बातको सुन कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामीको वन्दना नमस्कार करके ऋषिभद्र पुत्र श्रावकके पास गये वहाँ जाकर ऋषिभद्र पुत्र श्रावकको वन्दना नमस्कार करके उनकी सच्ची बात नहीं मानने रूप अपराधके लिए विनयके साथ बार बार क्षमा मांगना की।

इस पाठमें श्रावकोंका आपसमें विनय किया जाना स्पष्ट कहा गया है इस लिये अपनेसे उत्कृष्ट गुण वाले श्रावकोंका विनय करना श्रावकके लिये निर्जराका हेतु समझना चाहिये।

इसी तरह भगवतीसूत्र शतक १२ उद्देशा १ के मूलपाठमें उत्पला श्राविकाने पोखलि श्रावकका दर्शन विनय किये जानेका उल्लेख है। वह पाठ यह है—

"तएणं साउप्पला समणोवासिया पोखलिं समणोवासयं एज्जमाणं पासइ पासइत्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेइत्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ अणुगच्छइत्ता पोक्खलिं समणोवासयं वंदइ णमंसइ णमंसइत्ता आसणेणं उवनिमंतइत्ता एवं वयासी"

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ —

उत्पला नामक श्राविकाने पोखलि नामक श्रमणोपासकको आते हुए देख कर हृष्ट तुष्ट हो अपने आसन से उठ कर सात आठ पैर तक उनके सामने जाकर उक्त श्रावकको वन्दना नमस्कार करके आसन पर बैठनेकी प्रार्थना करके इस प्रकार कहा।

इसी तरह पोखली श्रावकने शंख श्रावकको वन्दना नमस्कार किया था। वह पाठ यह है—

"तएणं से पोखली समणोवासए जेणेव पोसहसालाए जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइत्ता गमणा गमणाए पडिक्कमइत्ता संखं समणोवासयं वन्दइ नमंसइत्ता एवं वयासी"

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ —

इसके अनन्तर पुष्कली श्रावकने पौषधशालामें शंख श्रावकके पास आकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करके शंख श्रावकको वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा।

इस पाठमें भी पुष्कली श्रावकने शंख श्रावकको वन्दना नमस्कार करनेका स्पष्ट उल्लेख किया है। यह भी श्रावकके प्रति श्रावकका गुरुता विनयका उदाहरण समझना चाहिये।

[बोल २ समाप्त]

(प्रेरक)

आपने शास्त्रके प्रमाणसे यह सिद्ध कर दिया कि अपनसे अधिक गुण वाले श्रावकोंको श्रावक लोग वन्दन नमस्कार आदि करते हैं, और वह उनका श्रावकके प्रति शुश्रूषा विनय है अत वह निर्जराका हेतु है परन्तु जीतमलजी और भीषणजी एक मात्र साधुकी शुश्रूषा विनयको, निर्जराका हेतु बतलाते हैं श्रावकके शुश्रूषा विनयको निर्जराका हेतु नहीं मानते । भीषणजीने स्वरचित ढालमें कहा है "दर्शन विनयरा दोय भेद छै । शुश्रूषाने अणअसातना तेहनी । शुश्रूषा तो बड़ा साधुरी करणी त्याने वन्दना करणी शीश नामनी" (निर्जरा प्रकरण भीषणजीकी ढाल) तथा जीतमलजीने भ्रम० के २५३ पृष्ठ पर लिखा है कि "कई पाखण्डी श्रावकरो सावद्य विनय किया धर्म कहे छ । विनय मूल धर्मरो नाम लेई श्रावकरी शुश्रूषा विनय करवो थाप इत्यादि (भ्र पृ० २५३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भीषणजीका और जीतमलजीका श्रावकके प्रति श्रावकके शुश्रूषा विनयको सावद्य बताना शास्त्र विरुद्ध और अप्रमाणिक है । हमने इसी पूर्व प्रकरणमें बोलमें भग वती सूत्रकी कई साक्षियां देकर श्रावकोंके विनयका प्रमाण बतलाया है । यदि भीषणजी और जीतमलजी के सिद्धान्तानुसार श्रावकके प्रति श्रावकका विनय करना सावद्य होता तो फिर भगवान् महावीर स्वामीकी मौजूदगीमें उनके समवसरणमें ही श्रावक लोग ऋषिभद्र पुत्र श्रावकका विनय क्यों करते ? और उन्हें भगवान् सावद्य कहकर क्यों नहीं रोकते ? अत श्रावकके प्रति श्रावकके विनयको सावद्य कहना मिथ्या समझना चाहिये ।

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २७६ के ऊपर लिखते हैं—

"सामायक पोषामें सावद्य रा त्याग छै । ते सामायक पोषामें श्रावक मांहो मांही नमस्कार कर नहीं । ते मांटे ये विनय सावद्य छै । वली पोखलीने उत्पल नमस्कार कियो । ते पिण आवता कियो । अने पोखली उत्पल वन्दना नमस्कार न कियो । जो धर्म हेते नमस्कार कीधी हुवे तो आतां पिण करता । वली शंखनो विनय पोखली कियो । ते पिण आवतो कियो पिण पाछा जावता विनय कियो चाल्यो न थी । इण न्याय संसार हेते विनय कियो पिण धर्म हेते न थी । जिम साधुरो विनय करे ते श्रावक आवता पिण करे अने पाछां जावता पिण करे तिम पोखलीनो विनय उत्पल [illegible]

कियो । तथा पोखली पिण शङ्खकनाथी पाछा जाता विनय न कियो । ते माटे समाचारी रीत ए विनय कियो छै ।" (भ्र० पृ० २७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीसूत्रके मूलपाठमें यद्यपि पोखली श्रावकको जाते समय उत्पलाका नमस्कार करना, तथा शङ्खके पासमें जाते समय शङ्खको पोखलीका नमस्कार करना लिखा हुआ नहीं है तथापि नहीं लिखनेसे यह नहीं निश्चय किया जा सकता कि उत्पलाने जाते समय पोखलीको, और पोखलीने जाते समय शङ्खको नमस्कार नहीं किये थे, क्योंकि उपासकदशाङ्गसूत्रमें गौतमस्वामीको आतेसमयमेंही आनन्दश्रावकने नमस्कार किये जानेका उल्लेख है जाते समय नमस्कार करनेका कथन नहीं चला है तथा रेवती धर्मपत्नी श्राविकाके सीह अनगारको आते समयमें ही नमस्कार करनेका उल्लेख है जाते समयका उल्लेख नहीं है इस लिये जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि आनन्द श्रावकने जाते समय गौतम स्वामीको नमस्कार नहीं किये थे तथा रेवती श्राविकाने जाते समय सीह अनगारको वन्दन नमस्कार नहीं किये थे उसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि उत्पलाने जाते समय पोखलीको और पोखलीने विदा होते समय शङ्खको वन्दन नमस्कार नहीं किये थे। अतः जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होनेसे उत्पलाने जाते समयमें पोखलीको और पोखलीने जुदा होते समय शङ्खको नमस्कार नहीं किये थे यह निश्चय करना भ्रमविध्वंसनकारका निर्मूल है।

जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होने पर भी जैसे यह कहा जा सकता है कि आनन्द श्रावकने गौतम स्वामीको और रेवती श्राविकाने सीह अनगारको जाते समय भी वन्दना नमस्कार किये होंगे उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि उत्पलाने पोखलीको और पोखलीने शङ्खको जाते समय भी वन्दन नमस्कार किये होंगे।
अस्तु—भ्रमविध्वंसनकारके अनुयायियोंसे पूछना चाहिये कि उत्पला श्राविकाने जाते समय पोखलीको और पोखलीने शङ्खके पास जाते समय जो शङ्खको वन्दना नमस्कार किये थे वह लौकिक रीतिका व्यवहार किये थे धर्मके निमित्त नहीं इसमें क्या प्रमाण है? क्योंकि मूल पाठमें जैसे साधुके वन्दन नमस्कारका उल्लेख पाया जाता है उसी तरह पोखली और शङ्खके भी वन्दना नमस्कारका उल्लेख है वहां यह नहीं कहा है कि साधुके वन्दन तो धर्मार्थ है और श्रावककी वन्दना लौकिक रीति व्यवहार है। तभी [illegible] यह निर्णय बिना प्रमाण [illegible] मान लिया है कि उत्पलाने पोखलीको और पोखलीने शङ्खको जो वन्दन नमस्कार किये थे वह लौकिक रीति व्यवहारार्थ किये थे

पर्युपासना नहीं" शास्त्र में कहीं भी अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेका निषेध नहीं है प्रत्युत श्रेष्ठ श्रावकको वन्दन करनेकी शास्त्रमें प्रशंसा की गई है। अत अधिक गुणवान श्रावक के प्रति श्रावक के विनय को सावद्य कायम करना अज्ञान है।

यदि सभी शुश्रूषा विनय साधुका ही किया जाना धर्मका हेतु है तो फिर श्रावक लोग कृतिकर्म, आसनानुप्रदान, और आसनाभिग्रहरूप विनय किसका करें ? कृतिकर्मका अर्थ है अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषका कार्य करना परन्तु साधु लोग किसी गृहस्थ से अपना कार्य नहीं कराते फिर यह विनय श्रावक किस का करे ? यह भ्रमविध्वंसनकार के अनुयायियोंसे पूछना चाहिये।

अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार अन्यत्र रखना आसनानुप्रदान विनय है और अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषको बैठनेके लिये आसन देना आसनाभिग्रह रूप विनय है परन्तु साधु लोग गृहस्थ से अपना आसन अन्यत्र नहीं रखवाते और गृहस्थ के दिये हुए आसन पर बैठते भी नहीं हैं। ऐसी दशामें श्रावक इन विनयों का व्यवहार किसके साथ करे ? यह भी भ्रमविध्वंसनकारके अनुयायियोंसे पूछना चाहिये। लाचार होकर उन्हें यह कहना ही होगा कि ये विनय श्रावकोंके साथ ही श्रावक करते हैं परन्तु साधुके साथ नहीं।

कदाचित् कोई यह कहे कि "उक्त सभी शुश्रूषा विनय श्रावकोंके नहीं हैं इसलिये श्रावक को यदि कृति कर्म, आसनानुप्रदान, तथा आसनाभिग्रह रूप विनय करने का प्रसङ्ग नहीं आता तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि भगवती सूत्र शतक १४ उद्देशा ३ में आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह रूप विनयको छोड़ कर शेष सभी विनयोंका सद्भाव तिर्य्यंच श्रावकोंमें भी बतलाया है और मनुष्य श्रावकों में तो सभी विनयोंका सद्भाव कहा है। अत मनुष्य श्रावकोंमें सभी शुश्रूषा विनयों का सद्भाव नहीं मानना शास्त्र से विरुद्ध है। श्रावक लोग अपनेसे श्रेष्ठ श्रावक के जो कार्य्य कर देते हैं वह उनका कृतिकर्म रूप विनय है और उनके आसनको उनकी इच्छानुसार अलग रखना आसनानुप्रदान रूप विनय है और उन्हें बैठनेको आसन देना आसनाभिग्रहरूप विनय है। यह निर्जराका हेतु है। इसे पाप कहना उत्सूत्रभाषियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

भगवती सूत्र शतक १४ उद्देशा ३ में मनुष्य श्रावकोंमें सभी विनयों का और तिर्य्यंच पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रहको छोड़ कर शेष सभी विनयोंका सद्भाव बतलाया है वह पाठ यह है—

"अत्थिण भंते ? पंचिन्दिय तिरिक्ख जोणियाण सक्कारइवा जाव पडिससाहणया ?

हंता ! अत्थि णो चेवण आसणा भिग्गहेइवा आसणाणुप्पदाणे इवा । मणुस्साण जाव वेमाणियाण जहा असुर कुमाराण"

(भ० श० १४ उ० ३)

अर्थ —

हे भगवन् तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें सत्कार आदि शुश्रूषा विनयका सद्भाव होता है ?

हां गोतम ! होता है । आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह को छोड़ कर सभी शुश्रूषा विनय तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंके भी होते हैं । तथा मनुष्य यावत् वैमानिक देवोंके असुर कुमारकी तरह सभी शुश्रूषा विनय होते हैं ।

इस पाठमें मनुष्य श्रावकोंमें सभी विनयोंका सद्भाव कहा है और तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रहको छोड़ कर शेष सभी विनय कहे हैं । तिर्य्यंच पञ्चेन्द्रिय श्रावक अढ़ाई द्वीपसे बाहर भी रहते हैं, जहां साधुओं का गमनागमन नहीं होता फिर वह शुश्रूषा विनय किसका करते हैं यह भ्रमविध्वंसनकार के मतावलम्बियोंसे पूछना चाहिये । लाचार होकर उन्हें यह मानना ही पड़ेगा कि अढ़ाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यंच पञ्चेन्द्रिय श्रावक जो अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकका सत्कार सम्मान आदि करते हैं वह उनका शुश्रूषा विनय है । अतः श्रावकके प्रति श्रावकके शुश्रूषा विनयको सावद्य कायम करना अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि "श्रावकको वन्दना नमस्कार करना सावद्य नहीं है तो सामायक अन्दर बैठा हुआ श्रावक किसी श्रावकको वन्दना नमस्कार क्यों नहीं करता ।" तो इसका उत्तर यह है कि सामायकके अन्दर बैठा हुआ श्रावक सामायक और पोषा में नहीं बैठे हुए श्रावकसे श्रेष्ठ होता है और श्रेष्ठ अपनेसे कनिष्ठको नमस्कार नहीं करता इसलिये सामायक और पोषामें बैठा हुआ श्रावक सामायक और पोषा में नहीं बैठे हुए श्रावकको वन्दन नमस्कार नहीं करता परन्तु वह उनके वन्दन नमस्कार को सावद्य नहीं समझता । जैसे बड़ा साधु छोटे साधुको वन्दन नमस्कार नहीं करता तथा जिन कल्पी साधु स्थविर कल्पीको वन्दना नमस्कार नहीं करता एवं पुरुष साधु स्त्री साध्वीको वन्दना नमस्कार नहीं करता क्योंकि ये उनसे बड़े हैं परन्तु यदि कोई दूसरा

सिद्ध, और भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार तो मोक्षार्थ किया हो और अम्बडजी को नमस्कार मोक्षार्थ नहीं किया हो इसमें कोइ प्रमाण नहीं है। उस पाठमें साफ साफ लिखा है कि जिस अम्बडजीसे हम लोगोने यावज्जीवन के लिये बारह व्रतको धारण किया है उनको नमस्कार है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अम्बडजी के शिष्यों ने अम्बडजीको बारह व्रत धारण करानेका उपकार मान कर ही वन्दन नमस्कार किया है पर दूसर किसी कारणसे नहीं। अत इस शास्त्रसे बारह व्रत धारण करने वाला अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकको वन्दन नमस्कार करना धर्मका कारण सिद्ध होता है म-पाप सिद्ध नहीं होता यह पाठ यह है।

"अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणंति। अण्णमण्णस्स अंतिए पडिसुणित्ता तिदण्डएय जाव एगंते एडेइ २ गंगं महाणइ ओगाहेंति २त्ता बालुआ संथारए संथरति। बालुयासंथारय दुरुहिं-त्ता पुरत्थाभिमुहा संपलियंक निसन्ना करयल जाव कट्टु एवं वयासी नमोऽत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽत्थु णं अम्बडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स पुव्विं णं अम्हे अम्बडस्स परिव्वायगस्स अंतिए थूलगं पाणाइवाए पच्चक्खाए जाव जीवाए थूलगे मुसावाए थूलगे अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जाव जीवाए थूलगे परिग्गहे पच्चक्खाए"।

(उववाई सूत्र प्रश्न ११)

अर्थ—

अम्बडजीके शिष्योंने परस्पर पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करके सन्यासी [illegible] त्रिदण्ड आदिको एकान्तमें रख कर गङ्गा नदीके किनारे आकर वहाँ बालुकामय संथारा बनाया। उस पर स्थित होकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पर्यङ्क आसन लगाकर हाथ जोड़ कहने लगे कि—नमस्कार हो अरिहन्तोंको यावत् मोक्षमें पहुंचे हुए सिद्धोंको नमस्कार हो। भगवान् महावीर स्वामीको जो मोक्षमें जानेकी इच्छा रखते हैं। हमारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक अम्बडजीको नमस्कार हो जिनसे हमने स्थूल हिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्त दान सब प्रकारका मैथुन और स्थूल परिग्रहका यावज्जीवनके लिए परित्याग किया है।

यहां अम्बडजीके शिष्योंने संथारा ग्रहण करते समय अरिहन्त, सिद्ध, और भगवान् महावीर स्वामीके समान ही अम्बडजीको भी नमस्कार किया है। यदि व्रतोंके दाता श्रावकको नमस्कार करना पाप होता तो वे अम्बडजीको नमस्कार क्यों करते?

नान्तेवासी नाम मेगेणो उवट्ठावणान्तेवासी धम्मन्तेवासी। चत्तारि अन्तेवासी पं० तं० उद्देसणान्तेवासी धम्मन्तेवासी नाम मेगे नो वायणान्तेवासी धम्मन्तेवासी"

(ठाणांग ठाणा ४ उद्देशा ३)

अर्थ —

आचार्य्य चार प्रकारके होते हैं। जो दीक्षा देते हैं परन्तु छेदोपस्थापन चारित्र नहीं देते। वे प्रव्राजनाचार्य्य कहलाते हैं जो छेदोपस्थापन चारित्र देते हैं पर दीक्षा नहीं देते वे उपस्थापनाचार्य्य कहलाते हैं जो दीक्षा तथा छेदोपस्थापन चारित्र दोनों ही देते हैं वे उभयाचार्य्य कहलाते हैं। तथा जो दीक्षा छेदोपस्थापन चारित्र नहीं देते किन्तु धर्मोपदेश मात्र देते हैं वे धर्माचार्य्य कहलाते हैं।

फिर दूसरी तरहसे आचार्य्य चार प्रकारके होते हैं। जो अङ्गोंको पढ़ने योग्य बना देते हैं परन्तु पढ़ाते नहीं हैं वह उद्देशनाचार्य्य कहलाते हैं जो अङ्गोंको पढ़नेके योग्य नहीं बनाते परन्तु अङ्गोंको पढ़ाते हैं व वाचनाचार्य्य कहलाते हैं। जो पूर्वोक्त दोनों ही कार्य्य करते हैं वह उभयाचार्य्य कहलाते हैं। जो न अङ्गोंको पढ़ने योग्य बनाते हैं और न अङ्गोंको पढ़ाते ही हैं किन्तु धर्मका उपदेश देते हैं वे धर्माचार्य्य कहलाते हैं।

इसी प्रकार शिष्योंके भी चार भेद कहे हैं। जो एक आचार्यसे दीक्षा मात्र ग्रहण करता है पर उन्हींसे छेदोपस्थापन चारित्र नहीं ग्रहण करता वह प्रव्राजनान्तेवासी कहलाता है। जो छेदोपस्थापन चारित्रको ग्रहण किसी एकसे करता है परन्तु दीक्षा ग्रहण नहीं करता वह उपस्थापनान्तेवासी कहलाता है जो दोनों ही एक आचार्यसे ग्रहण करता है वह उसका उभयान्तेवासी कहलाता है। जो न तो किसी एक आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करता है और न छेदोपस्थापन चारित्र ग्रहण करता है किन्तु धर्मोपदेश मात्र लेता है वह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है।

फिर भी शिष्य चार प्रकारके होते हैं। जो जिससे अङ्गोंको पढ़नेकी योग्यता प्राप्त करता है परन्तु अङ्गोंको उससे पढ़ता नहीं वह उसका उद्देशनान्तेवासी कहलाता है जो जिससे अङ्गोंको पढ़ता है पर उनके पढ़नेकी योग्यता दूसरेसे प्राप्त किया होता है वह उसका वाचनान्तेवासी कहलाता है। जो दोनों ही कार्य्य एक ही आचार्यसे करता है वह उसका उभयान्तेवासी कहलाता है। जो जिससे न तो अङ्गोंके पढ़नेकी योग्यता ही प्राप्त करता है और न अङ्गोंको पढ़ता ही है किन्तु धर्मोपदेश मात्र लेता है वह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है।

यहां ठाणाङ्गके मूल पाठमें जो न तो दीक्षा देता है और न छेदोपस्थापन चारित्र देता है तथा जो न तो अङ्गोंको पढ़ने योग्य ही बनाता है और न अङ्गोंको पढ़ाता ही है किन्तु धर्मका उपदेश मात्र करता है उसे धर्माचार्य कहा है। इसलिए जो

कोई मनुष्य धर्मोपदेश करता है वह धर्माचार्य होता है अतएव इस पाठकी टीकामें लिखा है कि

"आचार्य्य सूत्र चतुर्थ भंगे यो न प्रव्राजनया नचोत्थापनयाचार्य्यः स क इत्याह धर्माचार्य्य इति प्रतिबोधक इत्यर्थः आहच धम्मो जेणुवइट्ठो सो धम्म गुरु गिहीव समणोवा कोवि तिहिं संपउत्तो दोहिवि एक्केक्कएणव"

अर्थात् आचार्य्य सूत्रके चतुर्भङ्गमें जो न दीक्षा देता है और न छेदोपस्थापन चारित्र ही देता है वह कौन है ? तो इसका उत्तर यह है कि वह धर्मका प्रतिबोध देने वाला पुरुष है। कहा भी है जिसने धर्मका उपदेश दिया है वह चाहे गृहस्थ हो या श्रमण हो वह धर्माचार्य्य कहलाता है। इनमें कोई तो दीक्षा, छेदोपस्थापन चारित्र और धर्म इन तीनोंके आचार्य्य होते हैं और कोई दो के आचार्य्य होते हैं और कोई एक एक के आचार्य्य होते हैं।

यहां टीकाकारने उक्त गाथा लिख कर स्पष्ट बतला दिया है कि जो धर्मोपदेश देता है वह चाहे श्रमण हो या गृहस्थ हो धर्माचार्य्य कहलाता है अम्बडजीने अपने शिष्योंको बारह व्रत रूप धर्मका उपदेश दिया था फिर वह उनके धर्माचार्य्य क्यों नहीं हो सकते ? अतएव मूलपाठमें अम्बडजीके शिष्योंने अम्बडजीको धर्माचार्य्य कहकर उनसे बारह व्रत धारण करनेकी बात कही है इसलिये यह निःसंदेह सिद्ध होता है कि अम्बडजीके शिष्योंने इन्हें लोकोत्तर धर्मका आचार्य्य समझ कर ही नमस्कार किया था सन्यास धर्मका उपदेशक समझ कर नहीं।

बारह व्रत धारी श्रावक कुप्रावचनिक धर्माचार्य्योंको राजाभियोगादि छ कारणों के बिना वन्दन नमस्कार नहीं करते जैसे कि शकडाल पुत्र पहले गोशालकका शिष्य था पश्चात् महावीर स्वामीसे बारह व्रत धारण करनेपर उसने गोशालकको वन्दन नमस्कार नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उसके सम्यक्त्वमें अतिचार आता। इसी तरह अम्बडजीके शिष्योंने भी अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्य समझ कर वन्दन नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उनके सम्यक्त्वमें अतिचार आता किन्तु इन्हें बारह व्रत रूप धर्मका उपदेशक जान कर नमस्कार किया था। अतः अम्बडजीके शिष्यों से अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्यके सम्बन्धसे नमस्कार करनेकी प्रमाण देकर अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको नमस्कार करनेमें पाप बताना मतवादियोंका अज्ञान समझना चाहिये।

[बोल ८ समाप्त]

से अधिक गुणवान् सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना तथा उनका गुणानुवाद करना धर्म है पाप नहीं है तथापि भ्रमविध्वंसनकार अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टिके गुणानुवादको तो धर्म और वन्दना नमस्कार को पाप बतलाते हैं यह इनका व्यामोह है। जब कि अपने से अधिक सम्यग्दृष्टिके गुणग्राम करनेमें धर्म होता है तब फिर वंदना नमस्कार करने से पाप कैसे हो सकता है ? यह विचारना चाहिये। अतः अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुष की वंदना नमस्कार को पाप कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिए।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

जन्मते तीर्थंकरको इन्द्रने, तथा जन्मते तीर्थङ्कर और उनकी माता को दिक्कुमारियोंने वंदन नमस्कार और गुणग्राम किए थे इस दृष्टान्तसे यद्यपि अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुषका वंदन नमस्कार करना तथा उनका गुणग्राम करना धर्म सिद्ध होता है तथापि भ्रमविध्वंसनकार इस बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए भ्रम० पृ० ९८४ के ऊपर जम्बूद्वीप पन्नति का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ इहां कह्यो तीर्थंकर जन्म्या ते द्रव्य तीर्थङ्करने इन्द्र नमोत्थुणं गुणे नमस्कार करे ते पिण इन्द्रनी रीति हुन्ती ते साचवे पिण धर्म जाणे नहीं। तीम शक्र सर्दिक इन्द्र एकावतारीने पिण घर पुडे जनम्या छद्म द्रव्य तीर्थङ्कर नो विनय करे नमोत्थुणं गुणे ते लौकिक संसारनी रीति सांचवे पिण मोक्ष हेते नहीं।" (भ्र० पृ० ९८४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जन्मते तीर्थङ्करको वंदना नमस्कार, इन्द्र धर्म जान कर नहीं करते इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि मूलपाठमें "जीय मेयं" ऐसा पाठ आया है और इस पाठका अर्थ यह है कि इन्द्र जन्मते समय तीर्थंकरको वंदना नमस्कार करना अपना पुराना आचार बतलाता है अर्थात् पुराने इन्द्राने पुराने तीर्थंकरोंको [illegible] किया है इसलिये वर्तमान इन्द्र भी वर्तमान तीर्थंकरको वंदना नमस्कार करके पुराना रीतिका पालन करता है पर इस कारणको [illegible] मिथ्या है क्योंकि [illegible] ज्ञान उत्पन्न होने पर [illegible] वंदना नमस्कार किया है वहां भी "जीय मेयं" ऐसा [illegible] पाठ आया है [illegible] तार्थों। तीर्थंकरोंको वंदन नमस्कार करना [illegible] पुराना आचार है।' फिर [illegible] विध्वंसनकारके हिसाबसे केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तीर्थंकरको [illegible]

कोई मनुष्य धर्मोपदेश करता है वह धर्माचार्य होता है अतएव इस पाठकी टीकामें लिखा है कि

"आचाराग सूत्र चतुर्थ भंगे यो न प्रव्राजनया नचोत्थापनयाचार्य्य सक इत्याह धर्माचार्य्य इति प्रतिबोधक इत्यर्थः आहच धम्मो जेणुवइट्ठो सो धम्म गुरु गिहीव समणोवा कोवि तिहिं संपउत्तो दोहिंवि एक्कएक्केणवा"

अर्थात् आचार्य्य सूत्रके चतुर्थभङ्गमें जो न दीक्षा देता है और न छेदोपस्थापन चारित्र ही देता है वह कौन है ? तो इसका उत्तर यह है कि वह धर्मका प्रतिबोध देने वाला पुरुष है। कहा भी है जिसने धर्मका उपदेश दिया है वह चाहे गृहस्थ हो या श्रमण हो वह धर्माचार्य्य कहलाता है। इनमें कोई तो दीक्षा, छेदोपस्थापन चारित्र और धर्म इन तीनोंके आचार्य्य होते हैं और कोइ दो के आचार्य्य होते हैं और कोइ एक एक के आचार्य्य होते हैं।

यहा टीकाकारने उक्त गाथा लिख कर स्पष्ट बतला दिया है कि जो धर्मोपदेश देता है वह चाहे श्रमण हो या गृहस्थ हो धर्माचार्य्य कहलाता है अम्बडजीने अपने शिष्योंको बारह व्रत रूप धर्मका उपदेश दिया था फिर वह उनके धर्माचार्य्य क्यों नहीं हो सकते ? अतएव मूलपाठमें अम्बडजीके शिष्योंने अम्बडजीको धर्माचार्य्य बतला कर उनसे बारह व्रत धारण करनेकी बात कही है इसलिये यह निःसन्देह सिद्ध होता है कि अम्बडजीके शिष्योंने उन्हें लोकोत्तर धर्मका आचार्य्य समझ कर ही नमस्कार किया था सन्यास धर्मका उपदेशक समझ कर नहीं।

बारह व्रत धारी श्रावक कुप्रावचनिक धर्माचार्य्योंको राजाभियोगादि छः कारणों के बिना वन्दन नमस्कार नहीं करते जैसे कि शकडाल पुत्र पहले गोशालकका शिष्य था पश्चात् महावीर स्वामीसे बारह व्रत धारण करनेपर उसने गोशालकको वन्दन नमस्कार नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उसके समकितमें अतिचार आता। उसी तरह अम्बडजीके शिष्योंने भी अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्य समझ कर वन्दन नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उनके समकितमें अतिचार आता किन्तु उन्हें बारह व्रत रूप धर्मका उपदेशक जान कर नमस्कार किया था। अतः अम्बडजीके शिष्यों से अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्यके सम्बन्धसे नमस्कार करनेकी प्ररूपणा करके अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको नमस्कार करनेमें पाप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

[बोल ४ समाप्त]

से अधिक गुणवान् सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना तथा उसका गुणानुवाद करना धर्म है पाप नहीं है तथापि भ्रमविध्वंसनकार अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टिके गुणानुवादको भी धर्म और वन्दना नमस्कार को पाप बतलाते हैं यह इनका व्यामोह है। जब कि अपने से अधिक सम्यग्दृष्टिके गुणग्राम करनेमें धर्म होता है तब फिर वंदना नमस्कार करने से पाप कैसे हो सकता है ? यह विचारना चाहिये। अतः अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुष की वंदना नमस्कार को पाप कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

जन्मते तीर्थंकरको इन्द्रने, तथा जन्मते तीर्थङ्कर और उनकी माता को दिक्कुमारियोंने वंदन नमस्कार और गुणग्राम किये थे इस दृष्टान्तसे यद्यपि अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुषका वंदन नमस्कार करना तथा उनका गुणग्राम करना धर्म सिद्ध होता है तथापि भ्रमविध्वंसनकार इस बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये भ्रम० पृ० २८४ के ऊपर जम्बूद्वीप पन्नति का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ इहां कह्यो तीर्थंकर जन्म्या ते द्रव्य तीर्थङ्करने इन्द्र नमोत्थुणं गुणे नम स्कार करे ते पिण इन्द्रनी रीति छन्दी ते सावद्य पिण धर्म जाणे नहीं। तीन ज्ञान सहित इन्द्र एकावतारीने पिण घर पुछे जनम्या छतां द्रव्य तीर्थंकर नो विनय करे नमोत्थुणं गुणे ते लौकिक संसारनी रीति सावद्य पिण मोक्ष हेते नहीं।" (भ्र० पृ० २८४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जन्मते तीर्थङ्करको वंदना नमस्कार, इन्द्र धर्म जान कर नहीं करते इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि मूलपाठमें "जीय मेयं" ऐसा पाठ आया है और इस पाठका अर्थ यह है कि इन्द्र जन्मते समय तीर्थंकरको वंदना नमस्कार करना अपना पुराना आचार बतलाता है अर्थात् पुराने इन्द्राने पुराने तीर्थंकरोंको वंदन नमस्कार किया है इसलिये वर्तमान इन्द्र भी वर्तमान तीर्थंकरको वंदना नमस्कार करके पुरातन रीतिका पालन करता है पर इस कार्यको वह धर्म समझ कर नहीं करता तो यह मिथ्या है क्योंकि केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जहां देवताओंने तीर्थंकर को वंदना नमस्कार किया है वहां भी "जीय मेयं देवा" यही पाठ आया है। 'अर्थात् हे देव ताओं। तीर्थंकरोंको वंदन नमस्कार करना तुम्हारा पुराना आचार है।' फिर तो भ्रम विध्वंसनकारके हिसाबसे केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तीर्थंकरको वंदना नमस्कार

करना धर्म नहीं होना चाहिये क्योंकि उस समय भी पुराने आचारके अनुसार ही वन्दन नमस्कार करना कहा है परन्तु यदि केवल ज्ञान होने पर तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार करना पुराने रिवाजके अनुसार किये जाने पर भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है तो उसी तरह जन्मते तीर्थंकर को पुराने रिवाजके अनुसार किया जाने वाला इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है।

जैसे जन्मते समय इन्द्रादि देव भगवान्की जन्म महिमा करनेके लिये आते हैं उसी तरह केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी केवल ज्ञानकी महिमा करनेके लिये भगवानके पास वे आते हैं। शास्त्र में सम्पूर्ण जन्म महिमाके पाठका संकोच करके पांचों कल्याणोंका पाठ आया है अतः सभी पाठोंमें जन्म महिमाके पाठके समान ही "जिय मेयं" यह पाठ समझना चाहिये। तथा लोकान्तिक देवता जहां तीर्थंकर को प्रतिबोध देनेके लिये आते हैं वहां भी पूर्ण पाठका संकोच करके "जिय मेयं" यह पाठ आया है। इस लिये जो लोग "जिय मेयं" ऐसा पाठ मानते जन्मते तीर्थंकर को इन्द्र का वन्दन नमस्कार किया जाना पाप बतलाते हैं उनके हिसाबसे पांचों कल्याणोंके समय जो देवता भगवान् को वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीको पाप ही कहना चाहिये तथा लोकान्तिक देवता पुराने रिवाजके अनुसार जो तीर्थंकर देवको प्रतिबोध देते हैं वह भी पाप ही कहना चाहिये। जहां लोकान्तिक देवता तीर्थंकरको प्रतिबोध देनेके लिये आये हैं, वहांका पाठ यह है—

"तएणं तेसिं लोगंतियाणं देवाणं पत्तेयं २ आसणाइं चलंति। तहेवजाव अरहं ताणं निक्खममाणं सवोहणं करेत्तएत्ति तंगच्छामोणं अम्हेऽवि मल्लिस्स अरहतो सवोहणं करेमित्ति कट्टु एवं संपेहेंति २ उत्तर पुरच्छिम दिसिभायं वेउव्विय समुग्घाएणं समोहणंति २ संखिज्जाइं जोयणाइं एवं जहा जंभगा जाव जेणेव मिहिला रायहाणी जेणेव कुम्भगस्स रण्णो भवणे जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवागच्छंति २ अंतलिक्खपडिवन्ना सखिंखिणिआइं जाववत्थाति पवरपरिहिया करयल ताहिं इट्ठाहिं एवं वयासी बुज्झाहि भगवं लोगनाहा पवत्तेहि धम्मतित्थं जीवाणं हिय सुह निस्सेयसकरं भविस्सतीत्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयंति २ मल्लिं अरहं वंदंति नमंसंति २ जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।"

करना धर्म नहीं होना चाहिये क्योंकि उस समय भी पुराने आचारके अनुसार ही वन्दन नमस्कार करना कहा है परन्तु यदि केवल ज्ञान होने पर तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार करना पुराने रिवाजके अनुसार किये जाने पर भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है तो उसी तरह जन्मते तीर्थंकर को पुराने रिवाजके अनुसार किया जाने वाला इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी पाप नहीं है किंतु धर्म है।

जैसे जन्मते समय इन्द्रादि देव भगवान्‌की जन्म महिमा करनेके लिये आते हैं उसी तरह केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी केवल ज्ञानकी महिमा करनेके लिये भगवानके पास वे आते हैं। शास्त्र में अन्दर जन्म महिमाके पाठका संकोच करके पांचों कल्याणोंका पाठ आया है अतः सभी पाठोंमें जन्म महिमाके पाठके समान ही "जिय मेयं" यह पाठ समझना चाहिये। तथा लोकान्तिक देवता जहां तीर्थंकर को प्रतिबोध देनेके लिये आते हैं वहां भी पूर्व पाठका संङ्कोच करके "जिय मेयं" यह पाठ आया है। इस लिये जो लोग "जियं मेयं" ऐसा पाठ आनेसे जन्मते तीर्थंकर को इन्द्र का वन्दन नमस्कार किया जाना पाप बतलाते हैं उनके हिसाबसे पांचों कल्याणोंके समय जो देवता भगवान् को वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीको पाप ही कहना चाहिये तथा लोकान्तिक देवता पुराने रिवाजके अनुसार जो तीर्थंकर देवको प्रतिबोध देते हैं वह भी पाप ही कहना चाहिये। जहां लोकान्तिक देवता तीर्थंकरको प्रतिबोध देनेके लिये आये हैं, वहांका पाठ यह है—

"तएणं तेसिं लोगंतियाणं देवाणं पत्तेयं २ आसणाइं चलंति। तहेवजाव अरहं ताणं निक्खममाणं संबोहणं करेत्तएत्ति तंगच्छामोणं अम्हेऽवि मल्लिस्स अरहतो संवोहणं करेमित्ति कट्टु एवं संपेहंति २ उत्तर पुरच्छिमं दिसिभायं वेउव्विय समुग्घाएणं समोहणंति २त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं एवं जहा जंभगा जाव जेणेव मिहिला रायहाणी जेणेव कुम्भगस्स रण्णो भवणे जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवागच्छंति २ अंतलिक्खपडिवन्ना सखिंखिणिआइं जाववत्थाति पवरपरिहिया करयल ताहिं इट्ठाहिं एवं वयासी वुज्झाहि भगवं लोगनाहा पवत्तेहि धम्मतित्थं जीवाणं हियं सुहं निस्सेसकरं भविस्सतीत्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयंति २ मल्लिं अरहं वंदंति नमंसंति २ जामेव दिसं पाउब्भुया तामेव दिसिं पडि गया।"

इस पाठमें जाव शब्दसे जिस पूर्व पाठका संकोच किया गया है। वह पाठ यह है—

"तएण लोगन्तिया देवा आसणाइ चलिताइ पासति पासित्ता ओहिं पउज्जति २ मल्लि अरह ओहिणा आभोऐ ति २। इमेया रूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था एव खलु जम्बू द्दीवे दीवे भारए वासे मिथिलाए कुम्भगस्स मल्ली अरहा निक्खमिस्सामीत्ति मन पहारेति तजीयमेय तीप पच्चुपन्न मणागयाण लोगंतियाण"

इस पाठमें "जीयमयं" यह वाक्य आया है और पूर्व लिखित पाठमे जाव शब्द से इसी पाठका संकोच किया है। इस लिये उस पाठमें भी "जीय मेय" इस वाक्यका सद्भाव है। ऐसी दशामें लोकान्तिक देवताओंने जित आचारके अनुसार जो मल्लिनाथ जीको प्रतिबोध दिया है उस भी भ्रम० कारके हिसाबसे सावद्य ही कहना चाहिये। यदि "जीयमेयं" इस पाठके होनेपर भी प्रतिबोध देना सावद्य नहीं है तो जित आचारके अनुसार जन्मते तीर्थंकरको इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी सावद्य नहीं है। अब उक्त पाठ का पाठकोंके ज्ञानार्थ अर्थ किया जाता है—

अर्थ —

इसके अनन्तर लोकान्तिक देवताओंके प्रत्येकके आसन डोलने लगे। यह देखकर देवताओंने अवधि ज्ञानका प्रयोग करके अरिहन्त मल्लिनाथजीको समझा। पश्चात् उनके मनमें यह निश्चय उत्पन्न हुआ कि जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें मिथिला नगरीके राजा कुम्भककी पुत्री भगवान् मल्लिनाथजी दीक्षा लेनेका विचार कर रहे हैं। अब भूत भविष्यत और वर्तमान कालका हमारा जित आचार है कि तीर्थंकरोंके पास आकर हम उनको प्रतिबोध देते हैं। इस आचारके अनुसार भगवान् मल्लिनाथजीके पास भी जाना चाहिये। यह सोचकर लोकान्तिक देवताओंने ईशान कोण में आकर वैक्रिय समुद्घात किया। और संख्यात योजनका दण्ड निकाल कर उत्तर वैक्रिय शरीर बनाया। उसे बनाकर वे देवता जम्भक देवोंकी तरह मिथिला नगरीके कुम्भक राजाके मकानपर भगवान् मल्लिनाथजीके पास आये। वहां आकाशमें स्थित घुघरू बजाते हुए उत्तम वस्त्र पहने हुये हाथ जोड़कर मधुर वचनोंसे कहने लगे कि हे भगवन्! हे लोकनाथ! प्रतिबोध प्राप्त करो और धर्म तीर्थका प्रवृत्ति करो जिसमें जीवोंको हित सुख और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो। इसी प्रकार दो तीन बार कहकर और वन्दना नमस्कार करके लोकान्तिक देवता जहांसे आये थे वहीं वापस चले गये।

यहा भी जित आचारके अनुसार ही लोकान्तिक देवताओंका मल्लिनाथ भगवानको प्रतिबोध देना कहा है। फिर इसे भी भ्रमविध्वंसनकारको सावद्य ही समझना चाहिये।

यदि कहो कि भगवान्के जन्म समयमें देवता लोग बहुतसा आरंभ समारंभ भी करते हैं वह जैसे सावद्य है उसी तरह उस समयका वन्दन नमस्कार भी सावद्य है तो फिर केवल ज्ञान होने पर भी भगवान्को वन्दना नमस्कारार्थ देवता लोग आते हैं और आरंभ समारंभ करते हैं फिर उस आरंभ समारंभकी तरह उस समयका वन्दना नमस्कार सावद्य क्यों नहीं माना जाता ? अतः जैसे केवल ज्ञान होने पर देवता लोगोंके गमना गमन आदि रूप क्रियाके सावद्य होने पर भी भगवान्का वन्दना नमस्कार सावद्य नहीं होता उसी तरह जन्मोत्सवमें भी आरंभ समारंभके सावद्य होने पर भी भगवान्को वन्दन नमस्कार करना सावद्य नहीं होता किन्तु धर्म होता है इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणसे अपनेसे अधिक गुणवान सम्यग्दृष्टि का शुश्रूषा विनय करना धर्म सिद्ध होता है पाप नहीं। अतः साधुके सिवाय दूसरोंके विनयको सावद्य कहना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

बोल ६ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८१ के ऊपर लिखते हैं कि "इहाँ चक्र उपनो सुण्यो तिहां भरतजी इसो विनय कीधो पछे चक्र कने आवी पूजा कीधी। ते संसारनी रीते पिण धर्म हेते नहीं। तिम अम्बडने चेला पिण आपरो निज गुरु जाण गुरुनी रीति साचवी पिण धर्म न जाण्यो" इत्यादि। (भ्र० पृ० २८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भरतने जो चक्रकी पूजा की थी उसका दृष्टान्त अम्बडजीके साथ देना अज्ञान है क्योंकि चक्र तो प्रत्यक्ष ही स्थावर एकेन्द्रिय और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना मिथ्यात्वीकी पूजा करना है जो सम्यग्दृष्टिके लिये धर्मका कारण नहीं है अपितु उसके व्रतका अतिचार है। परन्तु अम्बडजी बारह व्रत धारी श्रावक और सम्यग्दृष्टि थे। उनको वन्दना नमस्कार करना सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना है। अतः वह चक्र पूजाकी तरह लौकिक रीतिके पालनार्थ नहीं है किन्तु धर्मार्थ है। अतः चक्र पूजाका दृष्टान्त देकर अम्बडजीके वन्दन नमस्कारको सावद्य बतलाना अज्ञान है।

(प्रेरक)

धर्मचक्रकी सेवा भक्ति करनेसे क्या फल मिलता है। यह सप्रमाण बतलाइये ?

(प्रमाण)

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ में श्रावककी सेवा भक्ति करनेका शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्यन्त फल बतलाया है। वह पाठ यह है—

"तहा रूवेण भन्ते ! समणवा माहणंवा पज्जुवासमाणस्स कि फला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला सेणं भन्ते ! सवणे कि फले । णाणफले, सेणं भन्ते ! णाणे किंफले विण्णाणफले । सेणं भन्ते विण्णाणे कि फले पचक्खाण फले। सेणं भन्ते ! पचक्खाणे कि फले, संजम फले । सेणं भन्ते ! संजमे कि फले, अणण्हणय फले । एवं अणण्हए तव फले तवे वोदाणं फले वोदाणे अकिरियाफले। सेणं भन्ते ! अकिरिया कि फला सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा !"

(भ० श० २ उ० ५)

अर्थ —

हे भगवन् तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेसे क्या फल होता है ? (उत्तर) हे गोतम ! शास्त्रका (धर्मका) श्रवण फल होता है। (प्रश्न) हे भगवन् ! शास्त्रके श्रवणसे क्या फल होता है। (उत्तर) हे गोतम ! शास्त्रीय सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त होता है। (प्रश्न) ज्ञानसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) ज्ञानसे त्यागने योग्य और स्वीकार करने योग्य वस्तुका विवेक (विज्ञान) फल प्राप्त होता है। (प्रश्न) विज्ञानका क्या फल होता है ? (उत्तर) विज्ञानसे पापोंका प्रत्याख्यान होता है। (प्रश्न) पापोंके प्रत्याख्यानसे क्या फल होता है ? (उत्तर) पापोंके प्रत्याख्यान करनेसे संयमकी प्राप्ति होती है। (प्रश्न) संयमका क्या फल होता है ? (उत्तर) संयमसे आश्रवका निरोध होता है। (प्रश्न) आश्रव निरोधसे क्या फल होता है। (उत्तर) आश्रवके निरोधसे तप रूप फल होता है। (प्रश्न) तपसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) तपसे कर्मों की निर्जरा होती है। (प्रश्न) निर्जराका क्या फल है ? (उत्तर) निर्जरासे योगोंका निरोध होता है। (प्रश्न) योग निरोधका क्या फल है ? (उत्तर) योग निरोधसे सब दुःखोंका अन्त स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

इस पाठमें तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे धर्म श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है और इस पाठकी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है। वह टीका यह है "श्रमण' साधुमा हन' श्रावक"। अतः इस पाठसे श्रावककी सेवा भक्ति करना धर्म सिद्ध होता है। अत

यदि कहो कि भगवान्के जन्म समयमें देवता लोग बहुतसा आरंभ समारंभ भी करते हैं वह जैसे सावद्य है उसी तरह उस समयका वन्दन नमस्कार भी सावद्य है तो फिर केवल ज्ञान होने पर भी भगवान्को वन्दना नमस्कारार्थ देवता लोग आते हैं और आरंभ समारंभ करते हैं फिर उस आरंभ समारंभकी तरह उस समयका वन्दना नमस्कार सावद्य क्यों नहीं माना जाता ? अतः जैसे केवल ज्ञान होने पर देवता लोगोंके गमना गमन आदि रूप क्रियाके सावद्य होने पर भी भगवान्का वन्दना नमस्कार सावद्य नहीं होता उसी तरह जन्मोत्सवमें भी आरंभ समारंभके सावद्य होने पर भी भगवान्को वन्दन नमस्कार करना सावद्य नहीं होता किन्तु धर्म होता है इस प्रकार इन्द्रोंके प्रमाणसे अपनेसे अधिक गुणवान सम्यग्दृष्टि का शुश्रूषा विनय करना धर्म सिद्ध होता है पाप नहीं। अतः साधुके सिवाय दूसरेके विनयको सावद्य कहना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

बोल ६ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८१ के ऊपर लिखते हैं कि "[illegible] [illegible] गायो तिर्ण भावसी इसो तिरा कीधो पछे घर कने आवी पूजा कीधी। ते संसारी रीते तिण धर्म हेत नहीं। तिम अम्बड़ो चेलो तिण आपरो निज गुरु जाण गुरुनो रीति मांचवी तिण धर्म न जाण्यो" इत्यादि। (भ्र० पृ० २८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

[illegible] जो [illegible] की पूजा की थी उसका दृष्टान्त आनन्दश्रावकके साथ देना अनुचित है क्योंकि वह [illegible] हो [illegible] और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना [illegible] पूजा करना है जो सम्यग्दृष्टिके लिये धर्मका कारण नहीं है अपितु उसके [illegible] अतिचार है। परन्तु अम्बड़श्रावक बारह व्रत धारी श्रावक और सम्यग्दृष्टि है। इसको वन्दना नमस्कार करना सम्यग्दृष्टिका वन्दना नमस्कार करना है। अतः [illegible] पूजाके समान लौकिक [illegible] नहीं है किन्तु धर्म है। अतः [illegible] दृष्टान्त देकर [illegible] वन्दन नमस्कार [illegible] बतलाना अज्ञान है।

(प्रेरक)

[illegible]

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ में श्रावककी सेवा भक्ति करनेका शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्य्यन्त फल बतलाया है। वह पाठ यह है—

"तहा रूवेण भन्ते ! समणंवा माहणंवा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला सेणं भन्ते ! सवणे कि फले । णाणफले, सेण भन्ते ! णाणे किंफले विण्णाणफले । सेण भन्ते विण्णाणे किं फले पचक्खाण फले । सेण भन्ते ! पचक्खाणे कि फले, संजम फले । सेण भन्ते ! संजमे कि फले, अणण्हय फले । एवं अणण्हए तव फले तवे वोदाण फले वोदाणे अकिरियाफले । सेण भन्ते ! अकिरिया कि फला सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा !"

(भ० श० २ उ० ५)

अर्थ —

हे भगवन् तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेसे क्या फल होता है ? (उत्तर) हे गोतम ! शास्त्र (धर्मका) श्रवण फल होता है। (प्रश्न) हे भगवन् ! शास्त्र श्रवणसे क्या फल होता है। (उत्तर) हे गोतम ! शास्त्रीय सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त होता है। (प्रश्न) ज्ञानसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) ज्ञानसे त्यागने योग्य और स्वीकार करने योग्य वस्तुका विवेक (विज्ञान) फल प्राप्त होता है। (प्रश्न) विज्ञानका क्या फल होता है ? (उत्तर) विज्ञानसे पापोंका प्रत्याख्यान होता है। (प्रश्न) पापोंके प्रत्याख्यानका क्या फल होता है ? (उत्तर) पापोंके प्रत्याख्यान करनेसे संयमकी प्राप्ति होती है। (प्रश्न) संयमका क्या फल होता है ? (उत्तर) संयमसे आश्रवका निरोध होता है। (प्रश्न) आश्रव निरोधसे क्या फल होता है। (उत्तर) आश्रवके निरोधसे तप रूप फल होता है। (प्रश्न) तपसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) तपसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। (प्रश्न) निर्जराका क्या फल है ? (उत्तर) निर्जरा से योगोंका निरोध होता है। (प्रश्न) योग निरोधका क्या फल है ? (उत्तर) योग निरोधसे सब कर्मोंका अन्त स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

इस पाठमें तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्य्यन्त फल मिलना कहा है और इस पाठकी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है। वह टीका यह है "श्रमण: साधुः माहनः श्रावक:"। अत इस पाठसे श्रावककी सेवा भक्ति करना धर्म सिद्ध होता है अत

यदि कहो कि भगवान्के जन्म समयमें देवता लोग बहुतसा आरंभ समारंभ भी करते हैं वह जैसे सावद्य है उसी तरह उस समयका वन्दन नमस्कार भी सावद्य है तो फिर केवल ज्ञान होने पर भी भगवान्को वन्दना नमस्कारार्थ देवता लोग आते हैं और आरंभ समारंभ करते हैं फिर उस आरंभ समारंभकी तरह उस समयका वन्दना नमस्कार सावद्य क्यों नहीं माना जाता ? अत जैसे केवल ज्ञान होने पर देवता लोगोंके गमना गमन आदि रूप क्रियाके सावद्य होने पर भी भगवान्का वन्दना नमस्कार सावद्य नहीं होता उसी तरह जन्मोत्सवमें भी आरंभ समारंभके सावद्य होने पर भी भगवान्को वन्दन नमस्कार करना सावद्य नहीं होता किन्तु धर्म होता है इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणसे अपनेसे अधिक गुणवान सम्यग्दृष्टि का शुश्रूषा विनय करना धर्म सिद्ध होता है पाप नहीं। अत साधुके सिवाय दूसरोंके विनयको सावद्य कहना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

बोल ६ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८१ के ऊपर लिखते हैं कि "इहां चक्र रत्न उपनो सुण्यो तिहां भरतजी इसो विनय कीधो पछे चक्र रत्नने आवी पूजा कीधी। ते संसारनी रीत पिण धर्म हेते नहीं। तिम अम्बडने चेला पिण आपरो निज गुरु जाण गुरुनी रीति साचवी पिण धर्म न जाण्यो" इत्यादि। (भ्र० पृ० २८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भरतने जो चक्रकी पूजा की थी उसका दृष्टान्त अम्बडजीके साथ देना अज्ञान है क्योंकि चक्र तो प्रत्यक्ष ही स्थावर एकेन्द्रिय और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना मिथ्यात्वीकी पूजा करना है जो सम्यग्दृष्टिके लिये धर्मका कारण नहीं है अपितु उसके व्रतका अतिचार है। परन्तु अम्बडजी बारह व्रत धारी श्रावक और सम्यग्दृष्टि थे। उनको वन्दना नमस्कार करना सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना है। अत वह चक्र पूजाकी तरह लौकिक रीतिका पालनार्थ नहीं है किन्तु धर्मार्थ है। अत चक्र पूजाका दृष्टान्त देकर अम्बडजीके वन्दन नमस्कारको सावद्य बतलाना अज्ञान है।

(प्रेरक)

अम्बडकी सेवा भक्ति करनेसे क्या फल मिलता है। यह सप्रमाण बतलाइये ?

(प्रेरक)

पर तीर्थी धर्मोपदेशक दो होते हैं। एक श्रमण शाक्यादि और दूसरा माहण। इस लिये पर तीर्थी धर्मोपदेशकके लिये आये हुए श्रमण और माहन शब्दका भिन्न २ अर्थ होना ठीक ही है परन्तु स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एक मात्र साधु ही होते हैं श्रावक नहीं होते। इस लिये स्वतीर्थी धर्मोपदेशकके विषयमें जो श्रमण और माहन शब्द आये हैं उनका एक साधु ही अर्थ होना चाहिये परन्तु श्रमण शब्दका अर्थ साधु और माहन का अर्थ श्रावक न होना चाहिये।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

परतीर्थी धर्मोपदेशककी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो ही होते हैं। एक साधु और दूसरा श्रावक इस लिये परतीर्थी धर्मोपदेशकक पाठकी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक, इस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थ ही करना चाहिये एक साधु नहीं। यहां कोई यह पूछे कि 'श्रावक भी धर्मोपदेश करता है ऐसा पाठ कहां आया है' तो उसका उत्तर यह है कि सुयगडांग सूत्र श्रुत० २ अध्ययन दूसरमें तथा उवाई सूत्रके २० वें प्रश्नमें श्रावकको भी धर्मोपदेशक कहा है। वह पाठ यह है—

"अहावरेतच्चरस ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एव माहिज्जइइहखलु पाईणवा ४ संते गतिया मणुस्सा भवति तजहाअप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोइया धम्म पलज्जणा धम्म समुदायारा धम्मेणचेव वित्ति कप्पेमाणाविहरति सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू"

(सुय० श्रु० २ अ० २)

अर्थ —

तीसरा स्थान मिश्रसंज्ञक है उसका विभंग कहा जाता है। इस जगतके अन्दर पूर्वादि दिशाओंमें रहने वाले कोई कोई मनुष्य शुभ कर्म करने वाले होते हैं तथा अल्प इच्छा रखने वाले अल्पारंभी अल्प परिग्रही धार्मिक श्रुत और चारित्र धर्मके पीछे चलने वाले धर्मिष्ठ (श्रुत और चारित्र रूप धर्म जिनको बहुत प्रिय है) धर्मख्यायी यानी भव्य जीवोंके समक्ष धर्म का प्रतिपादन (उपदेश) करने वाले साधुओंके पास धर्मका अन्वेषण करने वाले अथवा धर्मको उपादेय समझने वाले, धर्ममें प्रेम रखने वाले हर्षके साथ धर्माचरण करने वाले तथा धर्मके साथ जीविका करने वाले, सुन्दर स्वभाव वाले, सुव्रती और आनन्दमें मग्न रहने वाले साधुके सदृश हैं।

(प्रेरक)

पर तीर्थी धर्मोपदेशक दो होते हैं। एक श्रमण शाक्यादि और दूसरा ब्राह्मण। इस लिये पर तीर्थी धर्मोपदेशकके लिये आये हुए श्रमण और माहन शब्दका भिन्न २ अर्थ होना ठीक ही है परन्तु स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एक मात्र साधु ही होते हैं श्रावक नहीं होते। इस लिये स्वतीर्थी धर्मोपदेशकके विषयमें जो श्रमण और माहन शब्द आये हैं उनका एक साधु ही अर्थ होना चाहिये परन्तु श्रमण शब्दका अर्थ साधु और माहन का अर्थ श्रावक न होना चाहिये।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

परतीर्थी धर्मोपदेशककी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो ही होते हैं। एक साधु और दूसरा श्रावक इस लिये परतीर्थी धर्मोपदेशकके पाठकी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशकके पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक, इस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थ ही करना चाहिये एक साधु नहीं। यदि कोई यह पूछे कि 'श्रावक भी धर्मोपदेश करता है ऐसा पाठ कहां आया है' तो उसका उत्तर यह है कि सुयगडांग सूत्र श्रुत० २ अध्ययन दूसरमें तथा उवाई सूत्रके २० वें प्रश्नमें श्रावकको भी धर्मोपदेशक कहा है। वह पाठ यह है—

"अहावरेतच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एव माहिज्जइइहखलु पाईणवा ४ सते गतिया मणुस्सा भवति तजहा अप्पिच्छा अप्पारम्भा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोइया धम्म पलज्जणा धम्म समुदायारा धम्मेणचेव वित्तिं कप्पेमाणाविहरन्ति सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू"

(सुय० श्रु० २ अ० २)

अर्थ—

तीसरा स्थान मिश्रसंज्ञक है उसका विभंग कहा जाता है। इस स्थानके अन्दर पूर्वादि दिशाओंमें रहने वाले कोई कोई मनुष्य शुभ कर्म करने वाले होते हैं तथा अल्प इच्छा रखने वाले अल्पारम्भी अल्प परिग्रही धार्मिक श्रुत और चारित्र धर्मके पीछे चलने वाले (श्रुत और चारित्र रूप धर्म जिनको बहुत प्रिय है) धर्मकथावादी धर्मी अथवा औरोंके समक्ष धर्म का प्रतिपादन (उपदेश) करने वाले साधुओंके पास धर्मका अन्वेषण करने वाले अथवा धर्मको उपादेय समझने वाले धर्ममें प्रेम रखने वाले इनके साथ धर्माचरण करने वाले तथा धर्मसे अपनी जीविका करने वाले, सुन्दर स्वभाव वाले सुव्रती और आनन्दसे अपना समय बिताने वाले सत्पुरुष सज्जन होते हैं।

इस पाठमें श्रावकको धर्माख्यायी कहकर बतलाया है। धर्माख्यायी उसे कहते हैं जो धर्मका उपदेश देता है जैसे कि इस शब्दका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है।

धर्म माख्याति भव्यानां प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी'

अर्थात् भव्य लोगोंके समक्ष जो धर्मका प्रतिपादन करता है वह धर्माख्यायी कहा जाता है। इस प्रकार इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्मका व्याख्यान करता है अतः परतीर्थी धर्मोपदेशककी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो प्रकार होते हैं अतः भगवतीके उक्त पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ समझना चाहिये परन्तु दोनोंका एक साधु ही अर्थ नहीं। अतः माहन शब्दका साधु ही अर्थ करना हठवादियोंका काम समझना चाहिये।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

किसी श्रावकने धर्मोपदेश देकर यदि किसीको धार्मिक बनाया हो तो बतलाइये।

(प्ररूपक)

प्रथम तो अम्बडजीने ही अपने ५०० शिष्योंको उपदेश देकर बारह व्रत धारण कराये थे यह बात खुद भ्रमविध्वंसनकारने भी लिखी है। दूसरी बात यह है कि सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजाको धर्मोपदेश देकर बारह व्रतधारी श्रावक बनाया था। वह पाठ यह है—

"तत्तेण सुबुद्धी जितसत्तुस्स विचित्त केवलिपन्नत्त चाउज्जाम धम्म परिकहेइ। तमाइक्खति जहाजोवा बुज्झति जाव पच अणुव्व याति। तत्तेण जित सत्तु सुबुद्धिस्स अतिए धम्म सोचाणिसम्म हट्ठ सुबुद्धि अमच एव वयासो—सद्दहामिण देवाणुप्पिया! णिग्गथ पावयण ३ जाव से गहेय तुब्भे वयह। त इच्छामिण तव अतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय जाव उवसपज्जित्ताण विहरित्तए। अहा सुह देवाणुप्पिया! मा पडिबधं करह। तएण से जितसत्तू सुबु द्धिस्स अमचस्स अ तिए प चाणुव्वइय जाव दुवालसविह सावयधम्म पडिवज्जइ। तत्तेण जित सत्तू समणोवासए अभिगयजीवा जीवे जाव पडिलभमाणे विहरइ"

(ज्ञाता अध्ययन १२)

अर्थ —

इसके अनन्तर सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजासे केवलिक कहा हुआ चार महाव्रत वाला धर्म कहा और इस प्रकार राजाको समझाया जिनमत और प्रतिबोध प्राप्त करके श्रावक बन गया है। तथा पांच अणुव्रत रूप श्रावक धर्मको भी सविस्तर वर्णन किया। इसके अनन्तर जित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे कहा कि हे देवानुप्रिय! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचनमें श्रद्धा धारण करता हूँ और तुम्हारे उपदेशानुसार श्रावकके बारह व्रतोंको तुमसे ग्रहण करना चाहता हूँ। यह सुन कर सुबुद्धि प्रधानने कहा कि हे देवानुप्रिय! तुमको सुख हो वह कार्य करो विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। तदनन्तर जित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे बारह प्रकारके श्रावकके व्रत ग्रहण किये और वह श्रमणोपासक होकर जीव तथा अजीवको जानकर यावत् साधुओंको दान देता हुआ विचरने लगा।

यहां सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जित शत्रु राजाका बारह व्रत धारण करना स्पष्ट रूपसे कहा गया है। यह श्रावकके धर्मोपदेशक होनेका मूल सूत्रोक्त उदाहरण है। इसलिये स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दोनों ही होते हैं तथापि भ्रमविध्वंसनकार जो स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एक साधुको ही बतलाते हैं श्रावकको निषेध करते हैं यह इनका अज्ञान समझना चाहिये। तथा भगवती सूत्र शतक २ उ० ५ के मूलपाठमें जो श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है उसके अनुसार श्रावककी सेवा भक्ति भी मोक्ष फल देने वाली सिद्ध होती है इसलिये श्रावककी सेवा भक्तिको एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २९६ के ऊपर लिखते हैं कि "अने किण हीक टामें टीकामें माहणना अर्थ प्रथम तो साधु इम किया। अने बीजो अर्थ अथवा श्रावक इम कियो छै। तिण सूं अठे तो श्रमण माहन नो साधु इम कियो"

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

टीकाकारने पहले श्रमण और माहन शब्दका साधु ही अर्थ किया है और पीछे अथवा कह कर श्रावक अर्थ किया है यह बात मिथ्या है भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ की टीकामें पहले ही टीकाकारने माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है। वह टीका यह है।

"माहण"—त्ति माहनत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वाद् यः स माहनः।"

अर्थात् जो पुरुष स्थूल प्राणातिपात आदिसे निवृत्त होकर दूसरको भी नहीं मारने का उपदेश करता है वह माहन कहलाता है।

यहां टीकाकारने पहले ही पहल माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है। दूसरी बात यह है कि इस टीकाके आगे भगवती शतक २ उद्देशा ५ के अन्दर जो टीका आई है उसमें भी पहले पहल माहन शब्दका अर्थ साधु नहीं किया है। देखिये वह टीका यह है।

"तथा रूपं उचित स्वभावं कञ्चन पुरुष श्रमण वा तपोयुक्त मुपलक्षणत्वा दुत्तर गुणवन्त मित्यर्थ । माहनवा स्वयं हनन निवृत्तत्वात्परंप्रतिमाहनेतिवादिनम् उप लक्षणत्वा देव मूल गुण युक्त मित्यर्थ । वाशब्दौ समुच्चये। अथवा श्रमण साधुर्माहन श्रावक"

अर्थात् जो कोई पुरुष उचित स्वभाव वाला तपस्यासे युक्त यानी उत्तर गुणसे युक्त हो वह श्रमण कहलाता है और जो स्वयं हिंसासे निवृत्त होकर दूसरेको नहीं मारनेका उपदेश देने वाला, यानी मूल गुणसे युक्त हो वह "माहन" कहलाता है। अथवा श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है।

यहां टीकाकारने पहले पहल श्रमण शब्दका "उत्तर गुण युक्त" और माहन शब्द का "मूलगुण युक्त" अर्थ किया है। मूल गुण और उत्तर गुण साधु और श्रावक दोनों के होते हैं केवल साधुके ही नहीं इस लिये पहले अर्थमें श्रमण और माहन शब्दसे मूल गुण और उत्तर गुणसे युक्त साधु और श्रावक दोनों ही का ग्रहण होता है केवल साधुका ही नहीं। दूसरे अर्थमें तो टीकाकारने साफ साफ खोलकर लिख दिया है कि "श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है।" अतः उक्त टीकाका नाम लेकर माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेमें टीकाकारकी अरुचि बताना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८७ के ऊपर भगवती सूत्र शतक १५ में का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ अठे सुनक्षत्र सर्वानुभूति मुनि गोशालाने कह्यो। हे गोशाला ! जे तथारूप श्रमण माहन कने एक वचन सांभले तेहने तिण वांदे नमस्कार करे यावत् पर्युपासना करे तो [illegible] भगवाने दीक्षा दीधी। इहां श्रमण माहन कने एक वचन सांभले तेहने वांदणा नम स्कार करणी कही। तिण श्रमणोपासकने पिण तेहने वांदणा नमस्कार करणी इम न कह्यो। श्रमण माहननी सेवा कही तिण श्रमणोपासकनी सेवा न कही। इणो न्याय

श्रावकने टाल दियो। अने श्रमण माहनने वंदना नमस्कार करणो कह्यो ते माटे श्रावक ने नमस्कार करे ते काय्य आज्ञा बाहिरे छे। (भ्र० पृ० २८७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ में व मूलपाठका प्रमाण देकर यह कहना कि "श्रावकसे सीखे, पर उसको वंदना नमस्कार नहीं करे" एकान्त मिथ्या है। उक्त पाठमें साधु और श्रावक इन दोनोंसे सीखना, और दोनोंको ही वंदन नमस्कार करना कहा है श्रावकको नमस्कार करनेका निषेध नहीं किया है। इस पाठमें भगवती शतक २ उद्देशा ५ के पाठके समान ही श्रमण और माहनसे सीखना तथा उनको वंदना नमस्कार करना कहा है। इसलिये यहां भी पूर्ववत् ही श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ है। भगवतीके इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु और श्रावक इन दोनों ही से सीखे और दोनों ही को वंदन नमस्कार करे तथा यह बात साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि जब श्रावकसे सीखना मना नहीं है तब फिर उस को वंदन नमस्कार करना मना कैसे हो सकता है ? परन्तु भ्रमविध्वंसनकार जो श्रावकसे सीखने का निषेध न करते हुए भी उसको वंदन नमस्कार करनेका निषेध करते हैं यह एकमात्र इनका हठवाद और जनतामें कृतघ्नताका प्रचार करना है क्योंकि श्रावक से सीख कर उससे अपना कार्य्य तो करा लेना पर उसको वंदन नमस्कार नहीं करना इससे बढ़ कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है ?। अतः श्रावकसे धर्म सीख कर भी उसको वंदन नमस्कार नहीं करनेकी प्ररूपणा एकांत मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि "इस पाठमें श्रमण माहनका विशेषण "कल्याणं मंगलं देवयं चेइयं" यह आया है। और यह विशेषण श्रावक आदि किसी दूसरेमें न आकर एकमात्र साधु और तीर्थंकरोंमें ही आता है इसलिये यहां माहन शब्दका श्रावक अर्थ नहीं है किन्तु साधु ही है तो यह मिथ्या है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये भी "कल्याणं मङ्गलं देवयं चेइयं" ये विशेषण आये हैं। वह पाठ यह है—

"बहुजणस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएण पज्जुवासणिज्जे"

(उवाई सूत्र)

यह पाठ पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये आया है। इसमें पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये "कल्याण मङ्गल देवयं चेइय" यह विशेषण आया है। इसलिये ये विशेषण साधु और तीर्थंकरोंके लिये ही आते हों यह नियम नहीं है इसलिये इन विशेषणोंका नाम लेकर भगवतीके १५ वें शतकके मूलपाठमें माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेका निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार उत्तराध्ययन सूत्रकी बहुतसी गाथाओं को लिख कर उनकी साक्षीसे माहन शब्दका एक मात्र साधु ही अर्थ होना बतलाते हैं श्रावक नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंमें जो "माहन" या ब्राह्मणका लक्षण लिखा है वह लक्षण केवल साधुमें ही मिलता हो श्रावकमें न मिले यह बात नहीं है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें माहन (ब्राह्मण) का लक्षण यह लिखा है—

"समयाए समणो होइ । बंभचेरेण बम्भणो ।
नाणेणय मुणि होइ । तवेणं होइ तावसो"
(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थ —

अर्थात् सब जीवोंमें समता रखनेसे श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होता है। तथा ज्ञानसे मुनि और तपस्या करनेसे तापस होता है।

यहां ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होना कहा है और श्रावक भी ब्रह्मचर्य्य धारण करते हैं जैसे कि अम्बडजी और उनके शिष्य, श्रावक हो कर भी पूर्ण ब्रह्मचारी थे। तथा दूसरे श्रावक भी देशसे ब्रह्मचर्य्य व्रतको धारण करते हैं इस लिये इस गाथामें कहा हुआ माहन (ब्राह्मण) का लक्षण श्रावकमें भी मौजूद है। अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंका दाखला देकर एकमात्र साधुको ही माहन कहना और श्रावकको माहन होनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २७७ के ऊपर लिखते हैं कि—

"इम जो धर्माचार्य हुवे तो पुत्रने पिता श्रावकरा व्रतधारे तो तिणरे लेखे पुत्रने धर्माचार्य्य कही जे इम हिज स्त्री कने भर्त्तार श्रावकरा व्रत धारे तो तिणरे लेखे

रखाने विना वन्दणादिक करी जो। तिम साधु बहुकने प्रण श्रावके तथा सेठ गुमास्ताकने प्रण श्रावके जो जिनने विना धर्माचार्य कहिजे" अने जिनधर्म धर्म सीख्या जिनने वंदना करणी कह जिनरे लेखे वाते कथा है सबने वन्दना नमस्कार करणी" (भ्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके छट्ठे ठाणमें कहा है कि पुरुष, कारणवश साध्वीसे दीक्षा ग्रहण कर सकता है पर वह दीक्षा ग्रहण करके साध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं करता क्योंकि साध्वीको वन्दन नमस्कार करना साधुके कल्पसे विरुद्ध है इसी तरह पिता पुत्र से श्वशुर पुत्रवधू से, और सेठ गुमास्तासे धर्मोपदेश ले सकते हैं पर लोक विरुद्ध होनेसे पिता पुत्रको श्वशुर पुत्र बधूको और सेठ गुमास्तेको वन्दन नमस्कार नहीं करते किन्तु जिस धर्मोपदेशक श्रावकको वंदन नमस्कार करनेसे कोई लोकाचारका विरोध नहीं होता उसको वन्दन नमस्कार करनेमें कोई दोष नहीं है किन्तु धर्म है अतः धर्मोपदेशक पुत्र, वधू, और गुमास्ताको पिता, श्वशुर, और सेठ नमस्कार नहीं करते यह दृष्टान्त देकर सभी धर्मोपदेशक श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति विनयाधिकार)

यह पाठ पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये आया है। इसमें पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये "कल्याण मङ्गल देवयं चेइय" यह विशेषण आया है। इसलिये ये विशेषण साधु और तीर्थकरोंके लिये ही आते हों यह नियम नहीं है इसलिये इन विशेषणोंका नाम लेकर भगवतीके १५ वें शतकके मूलपाठमें माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेका निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार उत्तराध्ययन सूत्रकी बहुतसी गाथाओं को लिख कर उनकी साक्षीसे माहन शब्दका एक मात्र साधु ही अर्थ होना बतलाते हैं श्रावक नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंमें जो "माहन" या ब्राह्मणका लक्षण लिखा है वह लक्षण केवल साधुमें ही मिलता हो श्रावकमें न मिले यह बात नहीं है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें माहन (ब्राह्मण) का लक्षण यह लिखा है—

"समयाए समणो होइ। बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेणय मुणि होइ। तवेणं होइ तावसो"
(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थ —

अर्थात् सब जीवोंमें समता रखनेसे श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होता है। तथा ज्ञानसे मुनि और तपस्या करनेसे तापस होता है।

यहां ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होना कहा है और श्रावक भी ब्रह्मचर्य्य धारण करते हैं जैसे कि अम्बडजी और उनके शिष्य, श्रावक हो कर भी पूर्ण ब्रह्मचारी थे। तथा दूसरे श्रावक भी देशसे ब्रह्मचर्य्य व्रतको धारण करते हैं इस लिये इस गाथामें कहा हुआ माहन (ब्राह्मण) का लक्षण श्रावकमें भी मौजूद है। अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंका दाखला देकर एकमात्र साधुको ही माहन कहना और श्रावकको माहन होनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २७७ के ऊपर लिखते हैं कि—

"इम जो धर्माचार्य्य हुवे तो पुत्रने पिता श्रावकरा व्रतधारे तो तिणरे लेखे पुत्रने धर्माचार्य्य कही जै इम स्त्री कने भर्तार श्रावकना व्रत धारे तो तिणरे लेखे

स्त्रीने पिण धर्माचार्य कही जे। तथा साधू वहुकने धर्म आदरे तथा सेठ गुमास्ताकने धर्म आदरे तो तिणने पिण धर्माचार्य्य कहिजे" अने जिणपास धर्म सीखा तिणने वंदना करणी कह तिगर लेखो पाछे कह्या ते सवने वन्दना नमस्कार करणी" (भ्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान ?

(प्रश्नक)

ठाणाङ्ग सूत्रके छठे ठाणेमें कहा है कि पुरुष, कारणवश साध्वीसे दीक्षा ग्रहण कर सकता है पर वह दीक्षा ग्रहण करके साध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं करता क्योंकि साध्वीको वन्दन नमस्कार करना साधुके कल्पसे विरुद्ध है इसी तरह पिता पुत्र से श्वश्रू पुत्रवधू से, और सेठ गुमास्तासे धर्मोपदेश ले सकते हैं पर लोक विरुद्ध होनेसे पिता पुत्रको श्वश्रू पुत्र वधूको और सेठ गुमास्तेको वन्दन नमस्कार नहीं करते किन्तु जिस धर्मोपदेशक श्रावकको वंदन नमस्कार करनेसे कोई लोकाचारका विरोध नहीं होता उसको वन्दन नमस्कार करनेमें कोई दोष नहीं है किन्तु धर्म है अत धर्मोपदेशक पुत्र, वधू, और गुमास्ताको पिता, श्वश्रू, और सेठ नमस्कार नहीं करते यह दृष्टान्त देकर सभी धर्मोपदेशक श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति विनयाधिकार)

(प्रेरक)

पुण्यानुबन्धी पुण्य किसे कहते हैं और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

(प्ररूपक)

"गेहाद्गेहान्तरं कश्चित् शोभनादधिकं नर याति यद्वत् सुधर्मेण तद्वदेव भवान्तरम्"

(श्लोक हरिभद्रसूरिकृत)

अर्थ —

जैसे कोई मनुष्य सुन्दर मकानसे निकल कर उससे भी अधिक सुन्दर दूसरे मकानमें आता है उसी तरह जिस पुण्यके द्वारा जीव, मनुष्यादि उत्तम योनियोंको छोड़ कर उससे भी उत्तम देवादि योनियोंमें आता है उसे पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं। इस पुण्यानुबंधी पुण्यका कारण हरिभद्र सूरिने इस प्रकार बतलाया है।

"दया भूतेषु वैराग्यं विधिवद्गुरु पूजनम्।
विशुद्धा शील वृत्तिश्च पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः"

अर्थात् सब प्राणियोंके ऊपर दया (अनुकम्पा) रखना, वैराग्य, और विधिवत् गुरु पूजन, तथा अतिचार रहित अहिंसा आदि व्रतोंका पालन करना, ये सब पुण्यानुबंधी पुण्यके कारण होते हैं।

आगे चल कर हरि भद्र सूरिने यह भी लिखा है कि मोक्षार्थियोंको पुण्यानुबंधी पुण्यका आदर करना चाहिये। जैसे कि—

"शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं कर्त्तव्यं सर्वथा नरैः यत्प्रभावादपातिन्यो जायन्ते सर्वसम्पदः"

अर्थात् मनुष्योंको पुण्यानुबंधी पुण्यका आदर करना चाहिये। क्योंकि इसके प्रभावसे अविनश्वर सब सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं।

इसमें पुण्यानुबंधी पुण्यको आदरणीय कहा है। अतः मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं।

[बोल १ समाप्त]

(प्रेरक)

मोक्षार्थियोंको पुण्यका फल आदरणीय है या नहीं ?

(प्ररूपक)

साधन दशामें मोक्षार्थियोंको भी पुण्य फल आदरणीय है। इसके लिये चार मुख्य कारण कहे हैं। जैसे कि—

"चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमिय वीरियं"

(उत्तरा० अ० ३)

अर्थ —

चार वस्तु जुनिक परम साधन, और जीवोंके लिए दुर्लभ हैं। मनुष्य जातिमें जन्म लेना, धर्म श्रवण करना, धार्मिक श्रद्धा, और संयमके अन्दर सामर्थ्य लिगाना।

यहां मनुष्य जन्मको मोक्ष प्राप्तिका परम साधन कहा है और वह मनुष्य जन्म पुण्य का ही फल है। इस लिये पुण्य फल मोक्षार्थियोंको भी साधन दशामें आदरणीय है। अत जो लोग पुण्य और उसके फलको एकान्त त्यागने योग्य बतलाते हैं उन्हें मिथ्यावादी जानना चाहिये।

(प्रेरक)

पुण्य आदरणीय है यह बात कहां कही है—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अध्ययन १३ गाथा २१ में पुण्यको आदरणीय बतलाया है। वह गाथा यह है—

"इह जीविए राय असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्व माणो। से सोयइ मच्चु मुहो वणीए धम्मं अकाऊण परम्मिलोके"

(उत्तरा० अ० १३ गाथा २१)

अर्थ —

चित्त मुनि कहते हैं कि हे ब्रह्मदत्त! अशाश्वत अर्थात् अनित्य मनुष्यका आयु पाकर जो पुरुष अतिशय पुण्यका उपार्जन नहीं करता वह मृत्युमुखमें प्रवेश करके धर्माचरण नहीं करने के कारण परलोकमें पश्चात्ताप करता है।

यहां चित्त मुनिने ब्रह्मदत्तसे मनुष्यकी आयु पाकर पुण्योपार्जन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। अत साधन दशामें मोक्षार्थियों को भी पुण्य आदरणीय सिद्ध होता है।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०० के ऊपर इस गाथाको लिखकर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अब इसी को कहते हैं राजन् ! तुम इस भविष्यके लिये साक्षात् पुण्यका हेतु शुभ अनुष्ठान शुभ करनी न करोगे तो भविष्यमें लिये दुःख प्राप्त करोगे। यहां पुण्य शब्दसे पुण्य का हेतु शुभ अनुष्ठान कहा" इत्यादि।

इससे भ्रमविध्वंसनकारका तात्पर्य यह है कि इस गाथामें पुण्यको आदरणीय नहीं कहा है। अतः मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पुण्यके हेतुभूत शुभ अनुष्ठानका आदरणीय होना भ्रमविध्वंसनकार स्वयं कबूल करते हैं और शास्त्रने अन्दर शुभ अनुष्ठान, और पुण्य फल इन दोनोंको पुण्य शब्दसे कहा है। इस लिये मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है यह कहना भ्रमविध्वंसनकारका अपने कथनसे ही विरुद्ध है। यदि वह कहें कि हम पुण्यफलकी अपेक्षा से पुण्यको अनादरणीय कहते हैं परन्तु शुभ अनुष्ठान की अपेक्षासे पुण्यको अनादरणीय नहीं कहते तो इसका उत्तर यह है कि पुण्य फलकी अपेक्षासे भी पुण्यको अनादरणीय कहना भ्रमविध्वंसनकारका अज्ञान है क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्रके १३ वें अध्ययनकी २१ वी गाथामें मनुष्य जन्मको दुर्लभ कह कर मोक्षार्थियोंको भी आदरणीय बतलाया है। तथा उत्तराध्ययन सूत्रके २३ वें अध्ययनमें संसार सागरसे पार होने वाले प्राणियोंके लिये मनुष्य शरीरको नौकाकी तरह आदरणीय बतलाया है। वह पाठ यह है—

"सरीर माहुनावत्ति जीवोउच्चइ नाविओ ससारो अन्नवो वुत्तो ज तरन्ति महेसिणो"

(उ० अ० २३ गाथा)

अर्थात् मनुष्य शरीर नौका है और उस नावको चलाने वाला नाविक है और वह संसार समुद्र है। इसे महर्षि लोग पार करते हैं।

इसमें मनुष्य शरीरको नौकाका दृष्टान्त देकर संसार सागरसे पार जाने वाले पुरुषोंके लिये इसकी परम आवश्यकता बतलाई है। मनुष्य शरीर पुण्यका ही फल है। अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधन दशामें पुण्य फल भी मोक्षार्थियोंको आदरणीय है। भगवान् महावीर स्वामीने मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ बतलाते हुए यह कहा है कि—

"दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिर कालेण वि सव्वपाणिणं"

(उ० अ० १०)

अर्थात् हे गौतम! चिरकालके अनन्तर भी मनुष्य जन्म मिलना प्राणियोंके लिये दुर्लभ है।

ठाणाङ्ग सूत्रके तीसरे ठाणेमें भी मनुष्य जन्मको देव वाञ्छनीय कहा है। वह पाठ यह है—

"ततो ठाणाइ देवेपीहेज्जा। तं० माणुसंभवं, आरिये खेत्ते जम्म, सुकुलपच्चायातिं"

(ठाणाङ्ग ठाणा ३)

अर्थात् देवता भी तीन बातोंकी अभिलाषा करते हैं। मनुष्य योनिमें जन्म पाना, आर्य्य क्षेत्रमें जन्म पाना, और अच्छे कुलमें जन्म लेना।

यहां मनुष्य जन्मको देव वाञ्छनीय कहा है। तथा उत्तराध्ययनके १०वें अध्ययनमें साक्षात् भगवान महावीर स्वामीने मनुष्य जन्मको दुर्लभ बतलाया है वह मनुष्य जन्म पुण्यका ही फल है। इस लिये पुण्य फलको एकान्त त्यागने योग्य बतलाना अज्ञान समझना चाहिये।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २९९ के ऊपर भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां नारकी जाय ते जीवने अर्थनो राज्यनो भोगनो कामनो कांक्षी श्री तीर्थङ्कर कह्यो तिण अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वांछा करे ते आज्ञामें नहीं। तिम अर्थ भोग, राज्य, कामनी वांछा करे ते आज्ञामें नहीं। तिम अर्थ भोग राज्य कामनी वांछने सरावे नहीं तिम पुण्यनी वांछाने स्वर्गनी वांछाने पिण सरावे नथी। पुण्य कामए सग्ग कामए" ए पाठ कह्यो माटे पुण्यनी वांछाने सराई कहे तो तिणरे लेखे स्वर्गनो कामी वांछक कह्यो ते पिण स्वर्गनी वांछा सराई कहणी। (भ्र० पृ० २९९)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठका नाम लेकर पुण्यको त्याज्य बतलाना मिथ्या है। यहां के पाठका अभिप्राय, पाठ और टीका लिखकर बतलाया जाता है। वह पाठ यह है—

"तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म तओ भवइ संवेगजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते। से णं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गमोक्खकंखिए धम्मपिवासिए पुण्णसग्गमोक्खपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए एयंसि णं अंतरंसि कालं करे० देवलो० उव० से तेणट्ठेणं गोयमा!"

(टीका) (भ० श० १ उ० ७)

श्रमणस्य साधोः वा ... देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रति श्रमणमाहनवचनयोस्तुल्यत्व प्रकाशनार्थं। "माहण" त्ति मा हन इत्येवं मादिशति स्वयं स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद् यः स माहनः। अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावात्। "अन्तिए" त्ति समीपे एकमप्यास्तां तावदनेकम् आर्यम् आराद्यातं पापकर्मभ्य इत्यार्य्यम्, अत एव धार्मिकम् इति। तदनन्तरमेव "संवेगजाय सड्ढे" त्ति संवेगेन भवभयेन जाता श्रद्धा श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तथा। "तीव्र धर्मानुराग रत्ते" त्ति तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्म बहुमान स्तेन रक्त इव यः स तथा। "धम्मकामए" त्ति धर्मः श्रुत चारित्र लक्षणः पुण्यं तत्फल भूतं शुभ कर्म इति"

अर्थ —

हे गौतम! तथा रूपके श्रमण और माहन के पास एक भी आर्य धर्म रूपी सुवचनके सुननेसे जीवको उसके बाद ही भव भय होनेसे धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है। और वह तीव्र धर्मानुरागसे रक्त सा हो जाता है। तथा वह जीव, धर्मकामी पुण्य कामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकांक्षी, पुण्य कांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्म पिपासित, तथा उनमें चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, और तीव्र अध्यवसाय (प्रयत्न विशेष) वाला होता है। एवं उन्हीं धर्मादि कार्यों में उपयोग रखता हुआ तथा उन्हींमें अपनी इन्द्रियोंको अर्पण किया हुआ और उनकी भावनासे भावित (वासित) होता हुआ यदि उसी कालमें मरणको प्राप्त होता है तो वह देवलोकमें उत्पन्न होता है।

यहां तथा रूपके श्रमण और माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी एक भी सुवचन सुननेसे जीवको वैराग्य, धर्मप्रेम तथा धर्म पुण्य स्वर्ग और मोक्षमें आसक्त होकर स्वर्ग प्राप्त करना बतलाया है। यह बतलाकर तथा रूपके श्रमण माहनको [illegible]

वाक्यके श्रवण करनेसे ही जीवको पुण्य कामना होना यहां कहा है। वह पुण्य कामना यदि बुरी है तब तो तथा रूपके श्रमण माहनसे सुवाक्य सुनना भी बुरा ही कहना होगा क्योंकि उसीके सुननेसे जीवको पुण्य कामनाका होना इस पाठमें कहा है। यदि तथा रूपके श्रमण माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनना बुरा नहीं है तब फिर उस वाक्यके सुननेसे उत्पन्न होने वाली पुण्य भावना या पुण्य कामना भी बुरी नहीं हो सकती है। तथा पुण्य शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

"धर्म श्रुत चारित्र लक्षण पुण्य तत्फलभूत शुभ कर्म"

अर्थात् श्रुत और चारित्रको धर्म कहते हैं और उस श्रुत चारित्र रूप धर्मका जो शुभ कर्म रूप फल है वह पुण्य कहलाता है। उस पुण्यको जो बुरा बतलाता है उसके हिसाबसे तो श्रुत और चारित्र रूप धर्म भी बुरा ही ठहरता है क्योंकि श्रुत और चारित्र लक्षण धर्मका ही फल यहां पुण्य कहा है। वह पुण्य यदि त्याज्य होगा तो फिर उसका कारण श्रुत चारित्र रूप तथा उसका भी कारण श्रमण माहनसे सुवाक्य सुनना त्याज्य ही ठहरेंगे। अतः इस पाठका नाम लेकर पुण्यको त्याज्य कायम करना मिथ्या है।

यदि कहो कि इस पाठमें तो आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे स्वर्गकामना होना भी लिखा है वह स्वर्ग कामना जैसे अच्छी नहीं कही जा सकती उसी तरह पुण्य कामना भी अच्छी नहीं कही जा सकती है तो यह भी मिथ्या है क्योंकि जो स्वर्ग कामना मोक्षकी प्रतिबन्धिका नहीं है किन्तु उसमें सहायता पहुचाने वाली है उसीका यहां कथन है। जो मोक्षको रोकती है उसका नहीं। पहले पहल इस पाठमें श्रमण माहनके सुवाक्य सुननेसे जीवको वैराग्य उत्पन्न होना कहा है। तदनन्तर स्वर्ग कामना लिखी है। वह स्वर्ग कामना मोक्षको सहायता देने वाली ही यहां समझनी चाहिये उसमें विघ्न डालने वाली नहीं क्योंकि जिसको संसारसे वैराग्य हो जाता है वह जीव मोक्ष प्राप्तिके बाधक वस्तुकी अभिलाषा नहीं करता किन्तु उसके अनुकूल वस्तुकी ही इच्छा करता है। इसलिये इस पाठमें जो स्वर्ग कामना कही है वह भी मोक्षके अनुकूल होनेसे अच्छी ही है बुरी नहीं है। अतः उसका दृष्टान्त देकर पुण्य कामनाको बुरी बतलाना मिथ्या है। वास्तव में तथा रूपके श्रमण माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे जो वैराग्य उत्पन्न होकर जीवके हृदयमें धर्म कामना पुण्य कामना स्वर्ग कामना और मोक्ष कामना होती हैं वे सभी अच्छी हैं। इनमें एक भी बुरी नहीं है।

यहां टीकाकारने लिखा है कि श्रमण और माहन इन दोनों शब्दोंके बाद जो मूल पाठमें वा शब्द दिया है वह विकल्पका बोधक नहीं है किन्तु श्रमणसे सुवाक्य सुना जाय अथवा माहनसे सुवाक्य सुना जाय दोनोंसे एक समान ही स्वर्ग प्राप्ति होती

अथ आश्रवाधिकारः ।

———x———

(प्रेरक)

आश्रव किसे कहते हैं, वह जीव है या अजीव है ?

(प्ररूपक)

आत्म रूपी तालाबमें कर्म रूपी जल जिसके द्वारा प्रवेश करता है उसे आश्रव कहते हैं। आश्रव, जीव भी है और अजीव भी है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें टीकाकारने आश्रवका लक्षण और भेद बतलाते हुए यह लिखा है —

"आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीत्याश्रवः कर्मबन्ध हेतु रिति भावः। सचेन्द्रिय कषायाव्रत क्रिया योग रूप क्रमेण पंच चतुः पंच पञ्चविंशति त्रिभेद यदाह "इन्दिय कसाय अव्वय किरिया पण चउर पंच पणुवीसा जोगा तिन्नेव भवे आसव भेयाओ बयाला" इति तद्वमयं द्विचत्वारिंशद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्य भाव भेदात्। तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत नावादौ तथा विधच्छिद्रैर्जल प्रवेशनम्, भावाश्रवस्तु यज्जीव नावीन्द्रियादिच्छिद्रैः कर्म जल संचय इति सचाश्रव सामान्यादेक एव"

यह ठाणाङ्ग सूत्रके "एगे आसवे" इस पाठकी टीका है। इसका अर्थ यह है—

जिसके द्वारा आत्मामें कर्म प्रवेश करता है उसे "आश्रव" कहते हैं जो कर्मबन्ध का हेतु है वह आश्रव है। पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग, ये बयालीस आश्रवके भेद हैं। ये बयालीस आश्रव, भाव आश्रव कहलाते हैं इनसे कर्मोंका द्रव्याश्रव भी होता है। छिद्रके द्वारा नाव आदिमें जलका प्रवेश होना द्रव्य आश्रव है। पूर्वोक्त ४२ वस्तुओंके द्वारा जीव रूपी नौकामें कर्म रूपी जलका प्रवेश होना भाव आश्रव है।

यहां टीकाकारने भाव आश्रवके बयालीस भेद बतलाये हैं इनमें पचीस प्रकारकी क्रिया भी शामिल हैं। ये क्रियाएं केवल जीवकी ही नहीं किन्तु अजीवकी भी मानी गई हैं इस लिए आश्रव अजीव भी है।

इसके बाद इन्द्रियोंका आश्रव बतलाया है। इन्द्रियां दो तरहकी हैं द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय अजीव है और भाव इन्द्रिय जीव है। इसलिए

अथ आश्रवाधिकारः ।

(प्रेरक)

आश्रव किसे कहते हैं, वह जीव है या अजीव है ?

(प्ररूपक)

आत्म रूपी तालावमें कर्म रूपी जल जिसके द्वारा प्रवेश करता है उसे आश्रव कहते हैं। आश्रव, जीव भी है और अजीव भी है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें टीकाकारने आश्रवका लक्षण और भेद बतलाते हुए यह लिखा है —

"आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीत्याश्रवः कर्मबन्ध हेतु रिति भाव । सचेन्द्रिय कषाया व्रत क्रिया योग रूप क्रमेण पच चतु पच पञ्चविंशति त्रिभेद उक्तञ्च "इन्द्रिय कसाय अव्वय किरिया पण चउर पच पणुवीसा जोगा तीन्नव भवे आसव भेआओ बयाला'' इति तदवमयं द्विचत्वारिंशद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्य भाव भेदात्। तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत नवादौ तथा विधच्छिद्रै र्जल प्रवेशनम् भावाश्रवस्तु यज्जीव भावेन्द्रियादिच्छिद्रत कर्म जल संचय इति सचाश्रव सामान्यादेक एव"

यह ठाणाङ्ग सूत्रके "एगे आसव" इस पाठकी टीका है। इसका अर्थ यह है—

जिसके द्वारा आत्मामें कर्म प्रवेश करता है उसे "आश्रव" कहते हैं जो कर्मबन्ध का हेतु है वह आश्रव है। पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग, ये बयालीस आश्रवके भेद हैं। ये बयालीस आश्रव, भाव आश्रव कहलाते हैं इनसे अलग द्रव्याश्रव भी होता है। छिद्रोंके द्वारा नाव आदिमें जलका प्रवेश होना द्रव्य आश्रव है। पूर्वोक्त ४२ वस्तुओंके द्वारा जीव रूपी नौकामें कर्म रूपी जलका प्रवेश होना भाव आश्रव है।

यहां टीकाकारने भाव आश्रवके बेयालीस भेद बतलाये हैं इनमें पचीस प्रकारकी क्रिया भी शामिल हैं। ये क्रियाएं केवल जीवकी ही नहीं किन्तु अजीवकी भी बतलाई हैं इस लिये आश्रव अजीव भी है।

उक्त टीकामें इन्द्रियोंको आश्रव बतलाया है। इन्द्रियां दो तरहकी हैं द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय अजीव हैं और भाव इन्द्रिय जीव हैं। इस लिये

भाव इन्द्रिय स्वरूप आश्रव भी जीव है। इस प्रकार आश्रव अजीव और जीव दोनों ही प्रकारका है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

ठाणांगकी उक्त टीकामें आश्रवका भेद बतलाते हुए पचीस क्रियाओंको आश्रव का भेद बतलाया है वे क्रियाएं कौनसी हैं और वे अजीवकी क्रिया क्यों मानी जाती हैं ?

(प्ररूपक)

ठाणांग सूत्रके दूसरे ठाणेमें क्रियाके दो भेद बतलाते हुए कहा है कि क्रिया द्विविध होती है एक जीवकी क्रिया और दूसरी अजीवकी क्रिया। वह पाठ यह है—

"दो किरिआओ पन्नत्ताओ तजहा—जीव किरियाचेव अजीव किरियाचेव"

(ठाणांग ठाणा २)

"तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीव क्रिया, तथा अजीवस्य पुद्गल समुदायस्य यत्कर्मरूपतया परिणमनं सा अजीव क्रियेति"

अर्थ—

क्रिया दो प्रकारकी है। जीवकी और अजीवकी, जीवके व्यापारको जीव क्रिया कहते हैं और पुद्गल समूहके कर्म रूपमें परिणाम होनेको अजीव क्रिया कहते हैं।

अजीव क्रिया दो तरहकी होती है एक ऐर्य्यापथिकी और दूसरी साम्परायिकी, ऐर्य्यापथिकी का कोई अवान्तर भेद नहीं होता परन्तु साम्परायिकी क्रियाके चौबीस भेद होते हैं। चौबीस प्रकारकी साम्परायिकी क्रिया और एक ऐर्य्यापथिकी ये २५ क्रियाएं अजीवकी कही गई हैं। ठाणांग ठाणा ५ में क्रियाका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है —

"पंच किरियाओ पन्नत्ताओ तजहा—काइया, अहिगरणिया, पाओसिया, परितावणिया, पाणातिपायकिरिया। पंच किरिआओ पन्नत्ताओ तजहा—आरंभिया, परिग्गहिआ, मायावत्तिया, अपच्चक्खाण किरिया, मिच्छादसणवत्तिया, पंचकिरिआओ पन्नत्ताओ तजहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडोच्चिया, सामन्तोवणिया, साहत्थिया।

पच किरिआओ पन्नत्ताओ तजहा—णेसत्थिया, आणवणिया, वेयारणिया, अणाभोगवत्तिया, अणवकखवत्तिया। पञ्च किरिआओ पन्नत्ताओ तजहा—पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिआ, पयोगकिरिआ, समदाणकिरिआ, इय्यावहिआ।

(ठाणाङ्ग ठाणा ५ उ० २)

अर्थ —

क्रियाए पाच प्रकारकी होती हैं (१) कायिकी (शरीरसे की जाने वाली) (२) अधिकरणिका (खड्ग आदि शस्त्रके द्वारा होने वाली क्रिया) (३) प्राद्वेषिकी (मत्सरसे होने वाली क्रिया) (४) पारितापनिकी—किसी जीवको परिताप देनसे होने वाली क्रिया। (५) प्राणातिपातकी—प्राणातिपात यानी हिंसासे होने वाली क्रिया।

फिर भी क्रियाओंके पाच भेद हैं (१) आरम्भिकी—आरम्भसे होने वाली क्रिया। (२ पारिग्रहिकी—परिग्रहसे होने वाली क्रिया। (३) माया प्रत्यया—मायासे होने वाली क्रिया। (४) अप्रत्याख्यानिकी—प्रत्याख्यान नहीं करनसे होने वाली क्रिया। (५) मिथ्या दर्शन प्रत्यया—मिथ्या दर्शनसे उत्पन्न होने वाली क्रिया।

फिर भी क्रियाएं पांच प्रकारकी होती हैं। (१) दिट्ठिया—घोड़े और चित्र आदिको देखनेके लिए जाने आनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (२) पुट्ठिया—राग आदिके कारण किसी जीव या अजीवको स्पर्श करनेसे अथवा पूछनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (३) पाडुच्चिया—किसी बाहरके निमित्तसे जो क्रिया की जाती है। (४) सामन्तोवणिवाइया—अपने घोड़े आदिकी प्रशंसा सुन कर हर्षित होकर जो क्रिया की जाती है। (५) साहत्थिया—अपने हाथसे किसी जीवको पकड़कर मारनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया।

फिर क्रियाओंके पांच भेद होते हैं। (१) नेसत्थिया किसी जीवको यन्त्रादिके द्वारा फेंकनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (२) आणवणिया किसी जीव या अजीवको कहीं से लानेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (३) वियारणिया—किसी जीव या अजीवको विदारण करनेसे होने वाली क्रिया। (४) अणाभोगवत्तिया—पात्र आदि उपकरणोंको असावधानीके साथ लेने या रखनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (५) अणवकंखवत्तिया—इस लोक या परलोककी [illegible] अपेक्षा नहीं रखनेसे होने वाली क्रिया।

फिर भी क्रियाएं पांच प्रकारकी होती हैं। (१) राग प्रत्यया—रागसे होने वाली क्रिया। (२) द्वेष प्रत्यया—द्वेषसे होने वाली क्रिया। (३) प्रयोग क्रिया—काय आदिके व्यापारसे होने वाली क्रिया। (४) समुदान क्रिया—कर्मोंके [illegible] होने वाली क्रिया। (५) ईर्यापथिकी ([illegible] होने वाली क्रिया)

यहां शास्त्रकार और टीकाकारने ऐर्य्यापथिकी और साम्परायिकी दोनों ही क्रियाओंको अजीव की क्रिया कहा है इसलिये आश्रवको एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है क्योंकि उक्त २५ क्रियाएं अजीव आश्रव हैं।

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा दूसरेमें भगवान् महावीर स्वामीने अन्य यूथिकों का मत खण्डन करते हुए प्राणातिपातादि ९६ बोलोंको और जीवको एक होना बतलाया है वह पाठ—

"अण्ण उत्थिआण भन्ते ! एव माइक्खन्ति जाव परूवेंति एव खलु पाणाइवाए मुसावाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया। पाणाइवाय—वेरमणे जाव परिग्गह वेरमणे कोह विवेगे जाव मिच्छा दंसण सल्ल विवेगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया। उप्पत्तियाए जाव परिणामियाए वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया उग्गहे ईहा अवाए वट्टमाणस्स जाव जी वाया उट्ठाणे जाव परक्कमे वट्टमाणस्स जाव जीवाया णेरइयत्ते तिरि क्ख मणुस्स देवत्ते वट्टमाणस्स जाव जीवाया णाणावरणिज्जे जाव अन्तराए वट्टमाणस्स जाव जीवाया एव कण्हलेस्सा ए जाव सुक्क लेस्सा सम्मदिट्ठि ए ३ एव चक्खु दंसणे ४ आभिणिबोहियणाणे ५ मइ अण्णाणे आहार सण्णाए ४ एव ओरालिय सरीरे ५ एव मण जोए ३ सागारो वयोगे अणागारोवओगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया से कहमेयं भन्ते ! एव गोयमा ! जण्णं ते अण्ण उ त्थिया एव माइक्खन्ति जाव मिच्छं ते एव माहंसु अह पुण गोयमा ! एव माइक्खामि जाव परूवेमि एव पाणाइवाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया जाव अणागारोवओगे वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया"

(भगवती शतक १७ उद्देशा २) [illegible]

—

(अर्थ) [illegible]
[illegible]
[illegible]

न्न देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं। चार प्रकारकी बुद्धि, अवग्रहादिक चार मति ज्ञान, उत्थानादिक वाक्यों के भेद, नरक आदि चार गति, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म, कृष्णादि छ लेश्याएं, चक्षुदर्शनादि चार दर्शन, आभिनिबोधिक आदि पांच ज्ञान, मति आदि तीन अज्ञान आहारादिक चार संज्ञायें, औदारिक आदि ५ शरीर, मन आदि तीन योग साकार और अनाकार दो प्रकारके उपयोग, इन सब बोलोंमें वर्तमान रनवाले देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं। हे भगवन्! आप इसे कैसा समझते हैं?

(उत्तर) हे गोतम! अन्य यूथिकोंका यह कथन मिथ्या है उक्त ९६ बोल और जीवात्मा एक ही हैं परन्तु एकान्त भिन्न भिन्न नहीं हैं।

यह भगवतीके उक्त पाठका अर्थ है।

यहां भगवानने पूर्वोक्त ९६ बोलोंको जीव कहा है और ९६ बोलों में मनयोगादि आश्रव भी हैं इसलिये आश्रव कथंचित जीव भी है और पूर्व वर्णन की हुई क्रिया के हिसाबसे कथंचित अजीव भी है अतः आश्रवको एकान्त जीव मानना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल २ रा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार और उनके गुरु भीषणजीने पुण्य, पाप और बन्धको एकान्त रूपी और अजीव, तथा आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहा है। भीषणजीने अपने तेरह द्वारके छट्ठे द्वारमें लिखा है कि—

"पुण्यने शुभ कर्म तेहने पुण्य कहीजे तेहने अजीव कहीजे तेहने बन्ध कहीजे। पापने अशुभ कर्म तेहने पाप कहीजे अजीव कहीजे बन्ध कहीजे। कर्म ग्रहै आस्रव कहीजे तेहने जीव कहीजे। जीव संघाते कर्म बंधाना ते बन्ध कहीजे अजीव कहीजे"

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक),

पाप पुण्य और बन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है क्योंकि ये तीनों ही पदार्थ जीवात्मामें दूध और पानीकी तरह मिल कर एकाकार बने रहते हैं इसलिये [illegible] इनमें इन जीवका स्वरूप माना है और व्यवहार नयसे इन तीनोंको [illegible] जीव कहा है इसलिये पाप पुण्य और बन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है दूसरी बात यह है कि पाप पुण्य और बन्ध रूप कर्मोंके उदयसे ही जीवको [illegible] गति और [illegible] जाति आदि प्राप्त होती है और चार गति पांच जाति और [illegible]

५

सूत्रोंमें जीव कह कर बतलाया है इसलिये शुभाशुभ कर्मोंसे बंधा हुआ जीवात्मा ही व्यवहार दशामें जीव कहलाता है। गति और जाति आदि जीवसे अलग कह जाते हों और जीव उनसे अलग कहा जाता हो यह बात नहीं है अतः पुण्य, पाप, और बन्ध भी व्यवहार दशामें जीव ही हैं अजीव नहीं हैं इन्हें एकांत अजीव कहना अज्ञान है।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

पुण्य पाप और बन्ध रूपी हैं और जीव अरूपी है फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

(प्ररूपक)

व्यवहार दशामें जीव भी रूपी माना गया है। भगवती शतक १७ उद्देशा २ में जीवको रूपी होना बतलाया है। वह पाठ यह है—

"देवेण भन्ते ! महिड्ढिए जाव महेसक्खे पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू अरूवीविउ भवित्ताणं चिट्ठित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे सेकेणट्ठेण भन्ते ! एव वुचइ देवेण जावणो पभू अरूवीविउ भवित्ताण चिट्ठित्तए ? गोयमा ! अहमेय जाणामि अहमेय पासामि अहमेयं बुज्झामि अहमेय अभिसमण्णागच्छामि मए एव णाय मए एय दिट्ठ मए एयं बुद्ध मए एय अभिसमण्णागय जण्णं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदगस्स समोहस्स सलेस्सस्स ससरीरस्स तओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एव पण्णायति तजहा कालत्तेवा जाव सुक्किलत्तेवा, सुब्भिगंधत्तेवा, दुब्भिगंधत्तेवा तित्तत्तेवा जाव महुरत्तेवा कक्खडत्तेवा जावलुक्खत्तेवा सेतेणट्ठेणं गोयमा ! जाव चिट्ठित्तए"

(भगवती शतक १७ उद्देशा २)

अर्थ—

हे भगवन् ! महा नामक देवता जो कि बड़ा ऋद्धि शाली और शरीरादि पुद्गलोंके ग्रहण रूपी है वह अरूपी होकर रह सकता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गौतम ! यह सम्भव नहीं है।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गौतम ! मैं इसे जानता हूं सम्यक् अनुभव करता हूं यह बात मेरी जानी हुई तथा अनुभव की हुई है। जो जीव कुनिमित्त है सराग है सशरीर है और जिसमें मोह तथा लेश्या विद्यमान है जो सर्वथा मुक्त हुआ नहीं है उसमें ये बातें स्वरूप पाई जाती हैं जैसे कि यह काला है यह गोरा है, इसमें दुर्गन्ध आता है इसमें सुगन्ध आता है यह तिक्त है, यह मधुर है यह कर्कश है यह सूक्ष्म है इत्यादि। जिसमें पूर्वोक्त बातें पाई जाती हैं वह रूपी ही बना रहता है कदापि अरूपी नहीं हो सकता।

यह इस पाठका सार अर्थ है।

इस पाठमें भगवान् ने सराग, समोह, और सलेश्य जीवको रूपी कहा है इसलिये व्यवहार दशामें सराग जीव भी रूपी है। जब कि सराग जीव भी रूपी है तब फिर पुण्य, पाप और बन्ध, इन रूपी पदार्थों के साथ उसका अभेद व्यवहार होनेमें क्या संदेह है? जो लोग रूपी होनेके कारण पाप, पुण्य और बन्धको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं वे शास्त्र रहस्यको नहीं जानते वे अज्ञानी हैं।

इस पाठसे आश्रवके एकान्त अरूपी होनेका सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है। इस पाठमें सराग सलेश्य और समोह जीवको रूपी कहा है अतः आश्रव रूपी भी सिद्ध होता है क्योंकि जब जीव भी रूपी है तब जीवस्वरूप आश्रव क्यों नहीं रूपी होगा? इसलिये जो लोग आश्रवको एकान्त जीव मान कर उसे एकान्त अरूपी बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं।

[बोल ४ समाप्त]

(प्रेरक)

क्या पाप, पुण्य और बन्ध अजीव नहीं हैं?

(प्ररूपक)

पाप, पुण्य और बन्ध व्यवहार दशामें जीव और निश्चय नयके अनुसार अजीव हैं इसलिये इन्हें एकान्त अजीव या एकान्त जीव कहना मिथ्या है किन्तु ये कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं यही बात यथार्थ समझनी चाहिये जो इन्हें एकान्त अजीव कहता है वह अज्ञानी है।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारका यदि व्यवहारनयसे नहीं किन्तु निश्चयनयके अनुसार पाप पुण्य और बन्धको अजीव कहनेका तात्पर्य हो तो इसमें क्या आपत्ति है?

(प्ररूपक)

यदि भ्रमविध्वंसनकारका यह मन्तव्य हो कि पाप, पुण्य और बन्ध निश्चय नयके अनुसार अजीव हैं परन्तु व्यवहारनयके अनुसार नहीं तो उनके कथनमें कुछ भी

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशा ५ में मिथ्यात्वको चतुस्स्पर्शी पुद्गल माना है फिर मिथ्यात्व आश्रव एकांत जीव कैसे हो सकता है ? बल्कि इस पाठसे तो आश्रवका अजीव होना ही सिद्ध होता है। दूसरा आश्रव द्वार अव्रत है। अठारह पापोंसे बिल्कुल नहीं हटनेका नाम अव्रत है। अठारह पाप चतु स्पर्शी पुद्गल माने गये हैं इसलिये दूसरा आश्रव द्वार भी अजीव ही सिद्ध होता है। प्रमाद और कषाय, मोहसे उत्पन्न हुए कर्म की प्रकृतिके नाम हैं और मोह कर्मको शास्त्रमें चतु स्पर्शी पुद्गल माना है इसलिये मोह कर्मसे उत्पन्न होने वाले प्रमाद और कषाय भी चतु स्पर्शी पौद्गलिक होनेसे अजीव ही सिद्ध होते हैं। पांचवा आश्रव द्वार योग है यह मन, वचन, और कायके भेदसे तीन प्रकारका है। मन और वचनके योगको चतु स्पर्शी और काय योगको अष्टस्पर्शी कहा है इसलिये योगाश्रव भी अजीव सिद्ध होता है अतः ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त पाठका नाम लेकर आश्रवको एकान्त जीव बतलाना अज्ञान समझना चाहिये।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारने तीन दृष्टियोंका नाम लेकर मिथ्यात्व आश्रवको एकान्त जीव और अरूपी बतलाया है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशा ५ में मूलपाठमें तीन दृष्टियोंको अरूपी और मिथ्यादर्शन शल्यको रूपी कहा है इसलिये मिथ्यात्व आश्रव एकान्त अरूपी नहीं हो सकता। भगवतीका पाठ यह है —

"अह भंते ! पेज्जे दोसे कलहे जाव मिच्छा दंसण सल्ले एसणं कइवण्णे ४ जहेव कोहे तहेव चउफासे"

(भग० शतक १२ उ० ५)

इस पाठमें भगवान्ने मिथ्यादर्शन शल्यको चतु स्पर्शी पौद्गलिक कहा है अतः मिथ्यात्व आश्रव रूपी भी है और अजीव भी है अतः एकान्त अरूपी और जीव बतलाना अज्ञान है।

(प्रेरक)

भगवती सूत्रके उक्त मूलपाठमें मिथ्यादर्शन शल्यको रूपी कहा है परन्तु वह आश्रव नहीं है आश्रव तो केवल मिथ्यादृष्टि है और वह अरूपी है फिर मिथ्यादर्शन शल्यके रूपी होनेसे आश्रव कैसे रूपी हो सकता है ?

उसके लक्षण पाप आश्रव रूपी भी हो सकते हैं इसलिये कृष्णलेश्याके लक्षण होनेके कारण पाप आश्रवको एकांत अरूपी कहना मिथ्यात्वका परिणाम है। संसारी जीव रूपी भी है इस विषयमें भगवती शतक १७ उद्देशा २ का मूलपाठके सिवाय भगवती शतक २ उद्देशा १ का मूलपाठ भी प्रमाण है वह पाठ यह है —

"जेऽवियते खंदया ! जाव सअंते जीवे अणंतेजीवे तस्सवि-यणं अयमट्ठे एव खलु जाव दव्वओण एगे जीवे सअंते खेत्तओण जीवे असंखेज्ज पएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थिपुण से अन्ते। कालओण जीवे नकयाइ न आसी णिच्चे नत्थिपुण से अन्ते। भावओण जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसण पज्जवा अणंता चारित्त पज्जवा अणंता अगुरु लहु पज्जवा णत्थिपुण से अन्ते। सेत्तं दव्वओ जीवेसअंते खेत्तओ जीवे सअंते कालओ जीवे अणंते भावओ जीवे अणंते"

(भ० श० २ उ० १)

अर्थ—

हे स्कन्दक ! जीव सान्त है या अनन्त है तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जीव द्रव्यसे एक और सान्त है क्षेत्रसे असंख्य प्रदेशी और असंख्य आकाश प्रदेशोंको व्याप्त किया हुआ है अतः वह सान्त है। कालसे जीव अनन्त है क्योंकि वह सब कालमें विद्यमान रहता है कभी भी इसका अभाव नहीं होता। भावसे जीव अनन्त है अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त चारित्र पर्याय, अनन्त लघु गुरु पर्याय, और अनन्त अगुरु लघु पर्याय जीवके होते हैं अतः भावसे जीव अनन्त है। सारांश यह है कि द्रव्य और क्षेत्रसे जीव सान्त और काल तथा भावसे अनन्त है।

यहां मूल पाठमें कहा है कि "जीवके अनन्त लघु गुरु पर्याय और अनन्त अलघु अगुरु पर्याय होते हैं" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसारी जीव रूपी भी है क्योंकि अरूपी पदार्थके लघु गुरु पर्याय और अगुरु अलघु पर्याय नहीं हो सकते। इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है —

"अनन्ता गुरुलघुपर्याया औदारिकादिशरीराण्याश्रित्य इतरेतु कार्मणादि द्रव्याणि जीव स्वरूपंचाश्रित्येति"

अर्थात् औदारिकादि शरीरकी अपेक्षासे जीवके अनन्त लघु गुरु पर्याय कहे गये हैं और कार्मण आदि द्रव्य तथा जीवके स्वरूपकी अपेक्षासे अनन्त अगुरु अलघु पर्याय कहे गये हैं

यद्यपि शास्त्रमें सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही है तथापि इसका स्पष्ट अर्थ टीकाकारने यह किया है —

"सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शने सत्यपि भवतीति सम्यक्त्व मिथ्यात्व क्रियेति"

(ठाणांग ठाणा २ की टीका)

"सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया है।"

यहां टीकाकारने सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह क्रिया चाहे जीवकी हो या पुद्गल की हो दोनोंको ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया कहा है केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रिया नहीं कहा है इस लिये केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कहना मिथ्या है। वास्तवमें ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाएं जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापारसे होती हैं कोई भी क्रिया अजीवके व्यापारको छोड़कर नहीं हो सकती, अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी क्रियामें जीवके व्यापारकी मुख्यता होती है और किसीमें अजीवके व्यापारकी मुख्यता होती है। साम्परायिकी और ऐर्यापथिकी क्रियामें अजीवके व्यापारकी ही प्रधानता है इस लिये वे दोनों अजीवकी क्रिया कही गई हैं इसी तरह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रियामें अजीवका व्यापार अवश्य रहता है परन्तु उनमें अपेक्षाकृत जीवका व्यापार ही प्रधान होता है इस लिये सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही गई हैं उनमें सर्वथा अजीवका व्यापार न हो यह बात नहीं है। ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं परन्तु जीवके व्यापारकी मुख्यताको लेकर किसीको जीवकी क्रिया और अजीवके व्यापारकी प्रधानताको लेकर किसीको अजीव क्रिया कहा है परन्तु दोनों ही प्रकारकी क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं। आश्रव, क्रिया स्वरूप है और क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंकी है इस लिये आश्रव जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है उसे एकान्त जीव कहना अज्ञान है।

[बोल ९ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार ठाणांग सूत्र ठाणा १० के पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

इस टीकासे भी जीवका रूपी होना सिद्ध होता है। यद्यपि निश्चयनयसे निज स्वरूपापन्न जीव रूपी नहीं है किन्तु अरूपी है तथापि इस पाठमें उसका वर्णन न करके संसारी जीवका वर्णन किया गया है संसारी जीव औदारिकादि शरीरके साथ दूध पानी की तरह मिलकर एकाकार हुआ रहता है इस लिये इस पाठमें उसके अनन्त गुरु लघु और अनन्त अगुरु लघु पर्य्यायोंका वर्णन है। कृष्ण लेश्या संसारी जीवका ही परिणाम है और संसारी जीव इस पाठमें रूपी भी कहा गया है इस लिये कृष्ण लेश्या रूपी भी है। कृष्ण लेश्या रूपी है इस लिये उसके लक्षण पाप आश्रव रूपी भी हैं अतः एकान्त अरूपी कहना शास्त्रसे विरुद्ध समझना चाहिये।

उक्त पाठमें संसारी जीवका औदारिकादि शरीरके साथ अभेद होना सिद्ध होता है और औदारिकादि शरीर, पुण्य पाप तथा बंधकी प्रकृति माना जाता है इस लिये पुण्य पाप और बंधका भी कथंचित् जीव होना सिद्ध होता है। अतः इनको सर्वथा जीवसे भिन्न मानना मिथ्या है।

शुभाशुभ कर्मकी प्रकृतिको भी पुण्य, पाप और बंध कहते हैं और यह कर्मकी प्रकृति, चतुःस्पर्शी पौद्गलिक है इस लिये यह रूपी और जीवसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है इसे जीवसे एकान्त भिन्न मानना मिथ्या है। मिथ्यात्व, कषाय और योगको चतुःस्पर्शी और काययोगको अष्ट स्पर्शी पुद्गल माना है। इस लिये ये सब रूपी और अजीव भी सिद्ध होते हैं एकान्त अरूपी और जीव नहीं अतः आश्रवमात्र को एकान्त अरूपी और एकान्त जीव कहना अज्ञानका परिणाम है। वस्तुतः किसी अपेक्षासे आश्रव, जीव और अरूपी है और किसी अपेक्षासे अजीव और रूपी है परन्तु एकान्त पक्षका आश्रय लेकर इसे एकान्त अरूपी और जीव मानना मिथ्यात्वका परिणाम है।

(बोल ८ वां समाप्त)

([illegible])

मिथ्यात्व आश्रवको एकान्त जीव कहना भी भ्रमविध्वंसनकारका दुराग्रह और अज्ञान सिद्धान्त से प्रतिकूल है। ठाणांग सूत्रका मूल पाठ लिख कर पहले बतलाया जा चुका है कि मिथ्यादर्शन और अव्रत क्रिया ये दो क्रियाएं अजीवकी हैं और आरम्भिकी क्रियाके अन्दर मिथ्यात्व और अव्रत भी शामिल हैं इस लिये मिथ्यात्व और अव्रतको [illegible] किया है [illegible] एकान्त जीवकी क्रिया मानना शास्त्रसे सर्वथा प्रतिकूल है।

यद्यपि इनमें सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही है तथापि इसका स्पष्ट अर्थ टीकाकारने यह किया है—

"सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वयो सतोर्ये भवतस्ते सम्यक्त्व मिथ्यात्व क्रियेति"

(ठाणांग ठाणा २ की टीका)

"सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शन होनेपर जो क्रिया की जाती है वह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया है।"

यहां टीकाकारने सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शन होनेपर जो क्रिया की जाती है वह क्रिया चाहे जीवकी हो या पुद्गल की हो दोनोंको ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया कहा है केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रिया नहीं कहा है इस लिए केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कहना मिथ्या है। वास्तवमें ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाएं जीव और पुद्गल दोनों के व्यापारसे होती हैं कोई भी क्रिया अजीवके व्यापारको छोड़कर नहीं हो सकती, अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी क्रियामें जीवके व्यापारकी मुख्यता होती है और किसीमें अजीवके व्यापारकी मुख्यता होती है। साम्परायिकी और ऐर्य्यापथिकी क्रियामें अजीवके व्यापारकी ही प्रधानता है इस लिये वे दोनों अजीवकी क्रिया कही गई हैं इसी तरह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रियामें अजीवका व्यापार अवश्य रहता है परन्तु उसकी अपेक्षा उनमें जीवका व्यापार ही प्रधान होता है इस लिये सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही गई हैं उनमें सर्वथा अजीवका व्यापार न हो यह बात नहीं है। ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं परन्तु जीवके व्यापारकी मुख्यताको लेकर किसीको जीवकी क्रिया और अजीव के व्यापारकी प्रधानताको लेकर किसीको अजीव क्रिया कहा है परन्तु दोनों ही प्रकार की क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं। आश्रव, क्रिया स्वरूप है और क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंकी हैं इस लिये आश्रव जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है उसे एकान्त जीव कहना अज्ञान है।

[बोल ९ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार ठाणांग सूत्र ठाणा १० के पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव सिद्ध करना मिथ्या है। वह पाठ लिख कर यह बतलाया जाता है—

"धम्मे अधम्म सन्ना अधम्मे धम्म सन्ना"

अर्थ — (ठाणाङ्ग)

धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

यहां विपरीत ज्ञानका स्वरूप समझाते हुए यह लिखा है कि "धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान है" इससे आश्रवका जीव होना सिद्ध नहीं होता क्या कि इस पाठमें कहा हुआ विपरीत ज्ञान, क्षयोपशम भावमें है और आश्रव उदयभावमें है। भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें माना है यह उनका लेख उद्धृत करके पहले बतला दिया गया है अतः उदयभावमें होने वाला आश्रव, अज्ञान या विपरीत ज्ञानकी तरह कदापि एकान्त जीव नहीं हो सकता। आश्रव, मोहकर्मके उदयभावमें माना गया है और मोहकर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं अतः आश्रव भी चतुःस्पर्शी पुद्गल है उसे एकान्त जीव मानना अज्ञान है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा २ का मूलपाठ लिखकर उसकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं।

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा २ के मूलपाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है। उस पाठमें आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है वह पाठ इसी प्रकरणके सातवें बोलमें लिख दिया गया है उसका भाव यह है—

१८ पाप और उनसे निवृत्ति, बुद्धिके चार भेद, अवग्रहादिक मति ज्ञानके चार भेद, उत्थानादिक पांच, चार गति, आठ कर्म, छः लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार संज्ञाएं, पांच शरीर, तीन योग और साकार तथा अनाकार इन ९६ बोलोंमें रहने वाला जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं, यह अन्य तीर्थियोंका मत है इसका खण्डन करते हुए भगवानने कहा है कि "एवं खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणा सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया'

अर्थात् प्राण तिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शल्य पर्यन्त ५६ बोलोंमें रहनेवाला वही जीव है और वही जीवात्मा है। इस पाठसे आस्रवको एकान्त जीव बताना भोले जीवोंको धोखा देना है। इस पाठमें ९६ बोलोंके साथ जीवात्माका कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद बतलाया है आस्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है। अत इस पाठके आश्रय से आस्रवको एकान्त जीव मानना अज्ञान है।

इस पाठमें जो ९६ बोल कहे गये हैं उनमें १८ पाप भी शामिल हैं। उक्त ९६ बोल और जीवात्मा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं इस लिये अठारह पाप भी कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं परन्तु तेरह पंथके आचार्य जीतमलजी १८ पापोंको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं यह इनका प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध प्ररूपणा समझना चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

शास्त्रमें रूपी अजीवको कहीं जीवका परिणाम कहा हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके दसवें ठाणमें रूपी अजीवको जीवका परिणाम कहा है वह पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है।

"दसविहे जीवपरिणामे प० तं० गतिपरिणामे, इन्दिय परिणामे, कसाय परिणामे, लेस्सा परिणामे, जोगपरिणामे, उवयोग परिणामे, णाण परिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेय परिणामे"

(ठाणाङ्ग ठाणा १०)

अर्थ —

जीवके परिणाम दस प्रकारके हैं—(१) गति परिणाम (२) इन्द्रिय परिणाम (३) कषाय परिणाम (४) लेश्या परिणाम [५] योग परिणाम [६] उपयोग परिणाम [७] ज्ञान परिणाम [८] दर्शन परिणाम [९] चारित्र परिणाम [१०] वेद परिणाम।

टीका —

"परिणमनं परिणामः स्वस्वभावे गमनमित्यर्थः यदाह—"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानं न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः"। स च प्रायोगिकः गतिरेव परिणामो गति परिणाम एवं सर्वत्र गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकादि व्यप-

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव सिद्ध करना मिथ्या है। वह पाठ लिख कर यह बतलाया जाता है—

"धम्मे अधम्म सन्ना अधम्मे धम्म सन्ना"

(ठाणाङ्ग)

अर्थ —

धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

यहां विपरीत ज्ञानका स्वरूप समझाते हुए यह लिखा है कि "धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान है" इससे आश्रवका जीव होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि इस पाठमें कहा हुआ विपरीत ज्ञान, क्षयोपशम भावमें है और आश्रव उदयभावमें है। भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें माना है यह उनका लेख उद्धृत करके पहले बतला दिया गया है अतः उदयभावमें होने वाला आश्रव, अज्ञान या विपरीत ज्ञानकी तरह कदापि एकान्त जीव नहीं हो सकता। आश्रव, मोहकर्मके उदयभावमें माना गया है और मोहकर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं अतः आश्रव भी चतुःस्पर्शी पुद्गल है उसे एकान्त जीव मानना अज्ञान है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा २ का मूलपाठ लिखकर उसकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं।

इसका क्या उत्तर?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा २ के मूलपाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव कहना मिथ्या है। उस पाठमें आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है वह पाठ पूर्वपक्षरूपसे अन्यतीर्थियोंके मतमें लिख दिया गया है उसका भाव यह है—

१८ पाप और उनसे निवृत्ति, बुद्धिके चार भेद, [illegible] मति ज्ञानके चार भेद, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] चार [illegible] शरीर, ज्ञान और [illegible] तथा [illegible] इन ५३ बोलोंमें [illegible] जीव [illegible] है और वे [illegible] हैं, वह [illegible] है इसका [illegible] कहते हुए [illegible] कहा है कि [illegible]

[illegible]

अर्थात् प्राणातिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शल्य पर्य्यन्त ९६ बोलोंमें रहनेवाला भी जीव है और वही जीवात्मा है। इस पाठसे आश्रवको एकान्त जीव बताना भोले जीवोंको धोखा देना है। इस पाठमें ९६ बोलोंके साथ जीवात्माका कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद बतलाया है आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है। अतः इस पाठके आशय से आश्रवको एकान्त जीव मानना अज्ञान है।

इस पाठमें जो ९६ बोल कहे गये हैं उनमें १८ पाप भी शामिल हैं। उक्त ९६ बोल और जीवात्मा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं इस लिए अठारह पाप भी कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं परन्तु तेरह पंथके आचार्य जीतमलजी १८ पापोंको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं यह इनका प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध प्ररूपणा समझनी चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

रूपी अजीवको कहीं जीवका परिणाम कहा हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र दसवें ठाणेमें रूपी अजीवको जीवका परिणाम कहा है वह पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है।

"दसविहे जीवपरिणामे प० तं० गतिपरिणामे, इंदिय परिणामे, कसाय परिणामे, लेस्सा परिणामे, जोगपरिणामे, उवओग परिणामे, णाण परिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेद परिणामे"

(ठाणाङ्ग ठाणा १०)

अर्थ —

जीवके परिणाम दस प्रकारके हैं—(१) गति परिणाम (२) इन्द्रिय परिणाम (३) कषाय परिणाम (४) लेश्या परिणाम [५] योग परिणाम [६] उपयोग परिणाम [७] ज्ञान परिणाम [८] दर्शन परिणाम [९] चारित्र परिणाम [१०] वेद परिणाम।

टीका —

[illegible]

इसका क्या समाधान ?

(प्र० १८)

बालक और बालिका, मनोयुक्त होते हैं मनोविकल नहीं होते इसलिये वास्तवमें वे संज्ञी ही हैं असंज्ञी नहीं हैं परन्तु परभवकी सुखमें विशिष्ट ज्ञान रहित होनेसे उन्हें असंज्ञी कहा है। अतएव शास्त्रमें स्थानान्तर बालक और बालिकाओंको संज्ञी कह कर लिखा है परन्तु असंज्ञीत तिर्यञ्च मर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न हुए जीवोंको कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है इसलिये छोटे बालक और बालिकाका दृष्टान्त देकर उक्त जीवोंमें असंज्ञीके भवका निषेध करना अज्ञान मूलक है। यदि असंज्ञीसे मरकर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवको किसी जगह भी शास्त्रमें संज्ञी कह कर बतलाया होता तो कदाचित् छोटे बालक और बालिकाके विषयमें आये हुए सन्नाकता सूत्र मूलपाठका दृष्टान्त देकर उक्त जीवोंमें असंज्ञीके अपर्याप्त भवका निषेध किया जा सकता था परन्तु कहीं भी असंज्ञीसे मर कर नरक आदि में उत्पन्न होने वाले जीव को संज्ञी नहीं कहा है अतः उनमें असंज्ञी के भेद का निषेध करना मिथ्या है।

(बोल ३)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३७ पर दश वैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं।

"अथ इहां ८ सूक्ष्म कह्या धूअर प्रमुखनी सूक्ष्म स्नेह न्हाना फूल कुंथुआ उत्तिंग कीड़ी नागरा नीलण फूलण बाज समस्तादिकना न्हाना अंकुर कीड़ी प्रमुखना ईंडा सूक्ष्म कह्या। ते न्हाना मांटे सूक्ष्म छै पिण सूक्ष्मरो जीवरो भेद नहीं तिम ना रकादिक दवतान असन्नी कह्या पिण असन्नीरो भेद नहीं" (भ्र० पृ० ३४०)

इसका क्या उत्तर ?

(प्रेरक)

कीड़ी आदि जीव, शास्त्र... जगह जगह, त्रस जीवोंमें गिने गये हैं सूक्ष्म जीवोंमें नहीं गिने गये हैं इसलिये ... होनेके कारण उन्हें दशवैकालिक सूत्रमें ... है परन्तु यह दृष्टांत असंज्ञीसे ... नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें ... जीवोंमें नहीं घटता ... मर कर नरक भुवनपति, ... उत्पन्न होने वाले जीवको ... [illegible] कहा है किन्तु संज्ञ...

प्रतिष्ठा और सत्य भाषण किया है । देवेन्द्र और नरेन्द्रोंने सत्यभाषणका धर्मास्तिरूप प्रयो जन मनुष्योंको बतलाया है अथवा देवेन्द्र और नरेन्द्रोंका सत्य भाषणका प्रयोजन प्रति भासित हुआ है अथवा सत्य वचन ही देवेन्द्र और नरेन्द्रों को जिनवचनरूपमें जानने पदार्थका ज्ञान कराया है । इस सत्यको वैमानिक देवोंने भी स्वीकार किया है अथवा वैमानिक देवोंने सत्यका मनन और समर्थन किया है । यह सत्य परम बड़े प्रयोजनोंको सिद्ध करता है । सत्यके बिना मन्त्र औषधि विद्या भी सिद्ध नहीं होती । यह इस मूलपाठका टीकानुसार भावार्थ है ।

यहां मूलपाठमें सत्य रूप महाव्रतका माहात्म्य बतलाया है, शास्त्र पढ़ने पढ़ानेका कुछ जिक्र भी नहीं है इसलिये इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान मूलक है । यहां मूलपाठमें सत्यकी प्रशंसा करते हुए जो यह लिखा है कि—"महरिसीणयसमयपइन्नदेविन्दनरिन्दभासियत्थं" इसका टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

"महर्षीणाञ्च समयेन सिद्धान्तेन प्रदत्तम्' देवेन्द्रनरेन्द्राणां भाषितोऽर्थः प्रयो जनं यस्य तत्तथा ।"

अर्थात् यह बड़े ऋषियोंके सिद्धान्तसे सत्य दिया हुआ है और देवेन्द्र और नरे न्द्रोंको सत्यका प्रयोजन प्रतिभासित हुआ है ।

इन पदोंमें सत्य रूप महाव्रतकी प्रशंसा की गयी है परन्तु शास्त्र पढ़ने पढ़ानेके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है तथापि इन्हीं पदोंका अर्थ करते हुए जीतमलजी बतलाते हैं कि "उत्तम ऋषि महर्षियोंको ही शास्त्र पढ़नेका अधिकार है । देवेन्द्र और नरेन्द्रोंको सूत्रके अर्थ जाननेका ही अधिकार है इत्यादि," परन्तु उक्त पदोंका ऐसा अर्थ त्रिकालमें भी नहीं हो सकता अतः भ्रमविध्वंसनकारका यह अर्थ करना स्पष्ट अज्ञानका सूचक है । टीकाकारने "महऋषीणां समयेन प्रदत्त" ऐसा तृतीया तत्पुरुष [illegible] साफ बतला दिया है कि सत्य वचन, महर्षियोंके सिद्धान्तसे दिया गया है अतः महर्षियोंको सिद्धान्त पढ़नेका अर्थ सर्वथा मिथ्या और व्युत्पत्तिसे विरुद्ध है । इसी तरह देवेन्द्र और नरेन्द्रोंको केवल अर्थ जाननेका ही अधिकार है, यह कहना दूसरे विषयका [illegible] भी अज्ञान है क्योंकि टीकाकारने साफ साफ कह दिया है कि "अर्थ [illegible] प्रयोजन अर्थ है शब्दका या सूत्रका अर्थ नहीं । अतः उक्त दोनों [illegible] सिद्ध करना भ्रम जैसा मनमाना अर्थ करके श्रावकोंको [illegible] दूषित समझना चाहिये ।

बोल ३

करागको आज्ञाका अनाराधक अज्ञानी जीवोंको आज्ञा बाहरकी क्रियासे स्वर्ग प्राप्त करना कहा है अत आज्ञा बाहरकी क्रियासे भी पुण्य बन्ध होना स्पष्ट सिद्ध होता है। तथापि आज्ञा बाहर की क्रिया से पुण्यबन्धका निषेध करके अज्ञानियोंकी अकाम निर्जरा आदि क्रियाओंको आज्ञामें कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। इस विषयका विस्तृत विवेचन मिथ्यात्वि क्रियाधिकारमें किया गया है विशेष जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये।

(बोल ३ समाप्त)

(इति क्रियाधिकारः)

(अथ अल्पपाप बहुनिर्जराधिकारः)

(प्ररूक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें साधुको अप्रासुक और अनेषणिक आहार देनेसे अल्पतर पाप कर्म और बहुतर निर्जरा होना लिखा है उसका अर्थ करते हुए भ्रमविध्वंसनकार लिखते हैं —

"तेहने अल्प पाप ते पापनो बंध हुवे, अने घणी निर्जरा हुई' (भ्र० पृ० ४४९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्रका वह मूलपाठ टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है —

"समणोवासएणं भन्ते ! तहारूवं समणं वा माहनं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किंकज्जइ गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ अप्पतराए से पाव कम्मे कज्जइ"

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

(टीका)

'बहुतरिय त्ति पाप कर्मापेक्षया 'अल्पतराए त्ति अल्पतरं निर्जरापेक्षया। अयमर्थो गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिद्रव्यदाने चारित्रकायोपष्टम्भो जीवघातो व्यवहारतस्तदिन्द्रियाभाव भवति ततश्च चारित्रकायोपष्टम्भान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापंकर्म तत्र च स्वहेतुसामर्थ्यात् पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं भवति। इह च विवेकिनो मन्यन्ते असंस्तरणादिकारणत एवाप्रासुकादि दाने बहुतरा निर्जरा भवति नाकारणे यदुक्तं "संथरणम्मि असुद्धं दोण्ह वि गेण्हंत दिंतयाणहियं

आउर दिट्ठं तेणं तं चेव हियं असंथरणेत्ति'

अन्ये त्वाहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशात् बहुतरा निर्जराभवति अल्पतरं च पापं कर्मेति निर्विशेषणत्वात्सूत्रस्य परिणामस्यैव प्रमाणत्वात् आहच—"परम रहस्सं मिसीणं समत्त गणिपिडग झरिय साराणं। परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंब

जान सकते हैं। उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा जो भीषमजीने लिखा है उसका अभिप्राय वह गाथा लिख कर बताया जाता है। वह गाथा यह है —

मनोहर चित्तघरं मल्लधूवेण वासियं
सकवाड पंडुरुल्लोयं मणसावि न पत्थए''

इसके आगेकी गाथा यह है—

''इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए
दुक्कराइं निवारेउं कामरागविवड्ढणे''

(उत्तराध्ययन अध्ययन ३५ गाथा (४-५) ४,५)

अर्थ —

मनोहर, चित्राम युक्त माल्य और धूपसे वासित कपाटयुक्त और श्वेत वस्त्रके चन्दोवासे ढके हुए मकानकी साधु मनसे भी चाहना नहीं करे।

क्योंकि ऐसे मकानमें रहने पर साधुकी इंद्रियाँ जब चंचल होकर अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं तब उनका निरोध करना कठिन हो जाता है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारका मकान कामरागका बढ़ाने वाला होता है।

इन गाथाओंमें, साधुको अपनी इन्द्रियोंका निग्रह करनेके लिये मनोहर, चित्रयुक्त, सुवासित सकपाट, और श्वेत चान्दनी वाले मकानमें रहना वर्जित किया है कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे रहना वर्जित नहीं किया है। अगली गाथामें साफ साफ लिखा है कि 'मनोहर, चित्रयुक्त, माल्य और धूपसे सुवासित मकानमें रहना, काम राग को बढ़ाने वाला होता है इसलिये साधुको उक्त मकानमें नहीं रहना चाहिये' यदि कपाट खोलनेमें दोष होता तो जैसे शास्त्रकारने यह कहा है कि 'उक्त मकानमें रहने पर काम रागकी वृद्धि होती है' उसी तरह यह भी कह देते कि 'उक्त मकानमें रहने पर कपाट खोलना और बन्द करना पड़ता है इसलिये साधुको उक्त मकान में नहीं रहना चाहिये' परन्तु शास्त्रकारने यह नहीं कह कर काम वृद्धिके भयसे उक्त मकानमें रहना वर्जित किया है इसलिये उक्त गाथाका नाम लेकर कपाट खोलने और बन्द करने का निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये। आचाराङ्ग सूत्रमें भी यही देखा जाता है कि कपाटवाले मकानमें तो साधु ठहरते हैं परन्तु अश्लील चित्र हार माल्य और धूपसे सुवासित मकानमें नहीं ठहरते अतः कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे कपाट वाले मकानमें उतरनेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल २)

(प्रेरक)

शास्त्रमें यदि कहीं साधुको कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान किया हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान अनेक जगह पर मिलता है। कई यहां भी लिखे जाते हैं —

"साणी पावार पिहियं अप्पणा नाव पगुरे
कवाड नो पणुल्लिज्जा उग्गहंसि अजाइया,,
(दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८)

अलसीके बाणकी टट्टीस या पर्दे आदिसे ढके हुए मकानको गृहस्वामीकी आज्ञाके बिना साधु न खोले तथा धनीकी आज्ञाके बिना कपाट भी न खोले परन्तु गाढ़ कारण होनेपर गृहस्वामी की आज्ञा लेकर खोलनेमें कोई दोष नहीं है।

इस गाथामें गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर विधिपूर्वक कपाट खोलनेका विधान किया गया है अतः अपने निवास स्थानके कपाटको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेमें कोई दोष नहीं है। आचारांग सूत्रमें गृहस्थका द्वार खोलनेका विधान किया गया है। वह पाठ यह है—

"से भिक्खू वा भिक्खूणीवा गाहावइकुलस्स दुवारवाह कटकं दियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवगुणिज्जवा पविसेज्जवा णिक्खमेज्जवा तेसिं पुव्वामेव अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय तओ संजयामेव अवगुणेज्जवा पविसेज्जवा णिक्खमेज्जवा'
(आचारांग सूत्र)

अर्थ —

भिक्षाके निमित्त गया हुआ साधु गृहस्थके मकानको कंटककी शाखासे ढका हुआ देख कर गृहस्थकी आज्ञाके बिना और बिना देखे तथा रजोहरणादिसे प्रमार्जन किये बिना उसका द्वार खोलकर अन्दर न प्रवेश करे और न निकले क्योंकि इससे गृहस्वामीका साधुपर कुपित होना संभव है परन्तु गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर देख भाल करके और रजोहरणादिक द्वारा प्रमार्जन करके द्वार खोलकर प्रवेश करनेमें कोई दोष नहीं है।

इस पाठमें गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर प्रमार्जन आदि करके गृहस्थके मकानका द्वार खोलनेका विधान किया गया है अतः कपाट खोलना एकान्त रूपसे संयमका वि-

बताना बताना अज्ञान है। कारण होनेपर साधु जबकि गृहस्थके द्वारको भी खोलकर संयमका विराधक नहीं होता तब फिर अपने स्थानके द्वारको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेसे वह संयमका विराधक कैसे हो सकता है ? अतः कपाट खोलने और बन्द करनेसे साधुताका विनाश कहना अज्ञान मूलक है ।

(बोल ५)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम० ४६१ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

"रात्रिने विषे अथवा विकालने विषे आबाधा पीडाना किमाड खोलना पड़े तो खुल्लो द्वार माय तस्कर आयने बताया न बतायां अवगुण उपजता कह्या। सर्व दोषाम प्रथम दोष किमाड खोलवानो कह्यो तिण कारणथी साधुने कीमाड़ खोलनो पड़े एहवो थानक रहिवो नहीं' (भ्र० पृ० ४६१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रके मूलपाठमें साधु और साध्वी दोनोंको गृहस्थके संसर्गवाले मकान में रहनेका निषेध किया है। वह निषेध यदि कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे किया गया हो तो फिर साध्वीको भी अपने निवास स्थानका कपाट नहीं बन्द करना चाहिये। यदि साध्वीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध नहीं है तो उसी तरह साधुको भी कपाट बन्द करने और खोलनेका निषेध नहीं है। वास्तवमें आचारांग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें साधुको उतरना वर्जित नहीं किया है किन्तु उस मकानका द्वार खुला हुआ देख कर यदि उसमें चोर प्रवेश कर तो उस चोरको बताने या न बताने दोनों ही हालतमें साधुको दोष लगता है उस दोषकी निवृत्तिके लिये साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें रहना वर्जित किया है। वह पाठ यह है—

"सेभिक्खूवा भिक्खूणीवा उच्चारपासवणेण उव्वाहिज्जमाणे राओवा वियालेवा गाहावइ कुलस्स दुवारबाहं अवंगुणिज्जा तेणेय तस्संधिचारी अणुपविसिज्जा। तस्सभिक्खुस्स णो कप्पइ एवं वइत्तए अयं तेणो पविसइवा णोवापविसइ उवल्लियइवा णोवा० आवइवा० वयइवा णोवा० तेन हडं अन्नेन हडं अयं इत्थमकासी त